समाज-दर्शन की रूपरेखा

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
दिल्ली

●

●

प्रथम संस्करण जुलाई १९६२

●

मूल्य
७ रुपये

●

मुद्रक
सत्यप्रकाश गुप्ता
नवीन प्रेस दिल्ली

भूमिका

लन्दन स्कूल ऑफ इकनामिक्स एण्ड पॉलिटिक्स के १९१६ १७ के सत्र में दिये गए भाषणों से इस पुस्तक का आविर्भाव हुआ। मैंने अपने भाषणों की सामान्य रूपरेखा को सुरक्षित रखा है, परन्तु उनकी सामग्री को बढ़ा दिया है। अब इस पुस्तक को लगभग तीस वर्ष पूर्व लिखे गए एक 'परिचय' के स्थान पर समझा जा सकता है जिसका प्रकाशित संस्करण अब प्राप्त नहीं। इस पुस्तक का क्षेत्र और रूपरेखा पहले की रचनाओं से पर्याप्त रूप से भिन्न है। मेरा उद्देश्य तो इस विषय के विद्यार्थियों के लिए एक उचित पाठ्य-पुस्तक देना रहा है। यह विषय अब अनेकों लोगों द्वारा पढ़ा जाता है परन्तु सभी की आयु प्रारम्भिक तैयारी और उद्देश्य बहुत भिन्न होते हैं और उन सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए कोई उपयुक्त पुस्तक लिखना कठिन कार्य ही है। मैंने मुख्य-मुख्य सिद्धांतों को ऐसे ढंग से विस्तार देने का प्रयास किया है जिससे वे प्रारम्भिक पाठकों के लिए बुद्धिगम्य और रोचक हो सकें। और इसके साथ ही कुछ ऐसी सामग्री प्रदान करने की कोशिश की है जो उच्च श्रेणी के छात्रों के लिए लाभदायक सिद्ध हो तथा उन्हें इस विषय में उठने वाले प्रश्नों पर प्रकाश डालने के लिए दिशा प्रदान करे। इस प्रकार के प्रयासों के लिए कई स्थानों पर प्लेटो के 'रिपब्लिक' का सामान्य आधार के रूप में प्रयोग किया गया है। मेरा विश्वास है कि यह एक उचित प्रयत्न है और इसी आधार पर मैंने इस कृति का सर्वत्र उल्लेख किया है और परिशिष्ट में उस पर कुछ टिप्पणियाँ भी जोड़ दी हैं। जो पाठक 'रिपब्लिक' का अध्ययन न कर रहे हों वे इन टिप्पणियों को छोड़ सकते हैं। प्रारम्भिक पाठक भी इस पुस्तक के प्रथम अध्ययन में इसके परिचय तथा द्वितीय खण्ड के चतुर्थ अध्याय के अन्त में प्रस्तुत टिप्पणी को छोड़ सकता है।

इस प्रकार के विषय का विवेचन करते हुए अपने देश और काल अर्थात् वर्तमान समस्याओं का प्रचुर मात्रा में उल्लेख करना उचित और स्वाभाविक ही लगता है उनमें भी कुछ हाल के वर्षों की घटनाओं को जो अधिक महत्त्व दिया गया है वह भी विशेषतः वांछनीय है। मैंने पक्षपोषक ढंग के वक्तव्यों से पृथक् रहने का भी प्रयास किया है। मुझे अच्छी तरह ज्ञात है कि जिन विषयों का मैंने उल्लेख किया है उन्हें अनेकों विभिन्न पक्षों से देखा जा सकता है और

उनके साथ सम्बद्ध समस्याओं को लेखकों के इत्तफ़ाकिया प्रयत्न से ही नहीं सुलझाया जा सकता। मेरा सर्वत्र मुख्य उद्देश्य तो पाठकों को सूचना प्रदान करने अथवा अपने मंतव्य को थोपने के प्रयत्न की अपेक्षा उनके विचारों को प्रेरणा तथा अध्ययन की दिशाओं में सुझाव देना रहा है। मेरे सामान्य विचार व्यापक रूप से टी० एच० ग्रीन तथा बी० बोसांके जैसे लेखकों के विचारों पर आधारित हैं। यदि यह पुस्तक कुछ पाठकों को इन पूर्वोक्त तथा अन्य लेखकों की नीतिशास्त्रीय तथा राजनीति-सम्बन्धी कृतियों से परिचय कराने में कुछ सहायता कर सकी तो मेरा मुख्य ध्येय सिद्ध होगा।

जे० एस० मेकेंजी

विषय सूची

द्वितीय खण्ड

राष्ट्रीय-व्यवस्था

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठम अध्याय

तृतीय खण्ड

विश्व-व्यवस्था

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

उपसंहार

परिशिष्ट—क

परिशिष्ट—ख

परिशिष्ट—ग

परिचय

१ सामाजिक-दर्शन का क्षेत्र

सामाजिक दर्शन (सोशल फिलासफी) को पूर्ण रूप से एक पृथक विषय के रूप में अध्ययन का अवसर वर्तमान काल में ही प्राप्त हुआ है और इसका एक काफी सुनिश्चित अर्थ में प्रयोग होने लगा है। इसका समाज-शास्त्र (सोशियालोजी) से अपना अलग स्थान है। समाज-शास्त्र की व्याख्या यदि व्यापक अर्थों में की जाए तो समाज-दर्शन को उसके एक निश्चित अंग के रूप में ग्रहण करना पड़ेगा। समाज-शास्त्र भाषा-सम्बन्धी शंकाओं से युक्त एक अस्पष्ट शब्द होने पर भी व्यापक अर्थ वाला माना जाएगा। इससे मानव-समाज के उद्भव उनके विभिन्न रूपों का अध्ययन नियम व्यवहार संस्था, भाषा विश्वास विचारधारा भावना और कार्य आदि की जानकारी प्राप्त करना है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मानव-जीवन की समस्त जानकारी समाज शास्त्र के अन्तर्गत ही आ जाती है। समाज शास्त्र का अनेक विभिन्न समस्याओं से उसी तरह का सम्बन्ध है जिस तरह धर्म-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र अर्थ शास्त्र, नृतत्त्व-शास्त्र शिक्षा-शास्त्र नीति-शास्त्र आदि का अपनी समस्याओं से। अत यह ऐसा विषय है जिसे कठिनाई से ही कोई एक व्यक्ति एक पुस्तक में पूर्णत वर्णित कर सके। इस कमी तरह विभागों में बाँटना पड़ता जैसे जीव विज्ञान को वनस्पति विज्ञान प्राणि-विज्ञान तथा शरीर-रचना-विज्ञान के अनेक उपविभागों में विभक्त करना पड़ता है। समाज-दर्शन का क्षेत्र समाज-शास्त्र से अधिक सीमित है। यह अपनी एक सीमा में बँधा है। यह समाज-शास्त्र की विशेष शाखाओं से उसी तरह भिन्न है जिस तरह सामान्य रूप से दर्शन शास्त्र अन्य विशेष विज्ञानों से पृथक है।[1]

---

१ [illegible] [illegible] जाता है। जिनमें समाज शास्त्र की विभिन्न विशिष्ट शाखाओं पर प्रचुर मात्रा में लिखा गया है पर वर्तमान काल में इस सम्पूर्ण विषय पर लिखने का कोई अच्छा प्रयास नहीं किया गया लेकिन अमेरिका में इस तरह का विपुल

परन्तु यह उसका विश्लेषण करने की चेष्टा करता है। यह कैसे होता है यह आगे मालूम पड़ेगा। सामान्य वक्तव्य के रूप में इतना ही पर्याप्त है।[1]

समाज शास्त्र के अन्तर्गत आने वाले विज्ञानों में समाज दर्शन का सामान्य स्थान पहले ही देख चुके हैं। अब हम इसका सम्बन्ध कुछ विशेष सामाजिक विषयों के साथ देखना है जिनके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें से प्रधान शास्त्र हैं—जीव विज्ञान, मनोविज्ञान, शिक्षा-शास्त्र, नीति शास्त्र, राजनीति शास्त्र, कानून, अर्थ-शास्त्र, इतिहास और धर्म शास्त्र।

२ अन्य शास्त्रों के साथ इसका सम्बन्ध

इनका सम्बन्ध संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार से है—

मानव-जाति स्पष्टतः जीवन का एक प्रकार है। जीवन के सामान्य अध्ययन से उसके स्वभाव पर अच्छा प्रकाश डाला जा सकता है। विशेषतः विकासवाद की प्रकाशमान विचारधारा हमारे इस अध्ययन में सहायक हो सकती है, जैसे वह अन्य महत्त्वपूर्ण अध्ययनों में सहायक रही है। हरबर्ट स्पेन्सर का कार्य अन्य प्रकार से कुछ भी महत्त्व रखता हो पर मानव-जीवन की व्याख्या के रूप में उसने जो विचार व्यक्त किये तथा उसको जो पुष्टि दी है उसके लिए वह हमेशा प्रशंसा का पात्र रहेगा। निस्सन्देह उसके मत का पूर्वाभास अरस्तू, हीगल, कोम्ट और अन्य लोगों की विचारधारा में मिलता है। अनेक दृष्टिकोणों से उनके विश्लेषण विशेषतः प्रथम दो विद्वानों के बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु सामान्य जीव-विज्ञान के साथ सम्बन्ध सम्भवतः निश्चित रूप से स्पेन्सर ने ही स्थापित किया है।

मानव-जीवन में चेतना का अस्तित्व ही उसका सबसे बड़ा महत्त्व और विशेष लक्षण है जो उसके क्रम-विकास की निम्न तथा उन्नत अवस्थाओं में

---

१ समाज-दर्शन को समाज शास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत मान लेना उचित है या नहीं, इस विषय पर आधुनिक लेखकों के विचारों में मतभेद है।

कोम्टे महोदय को विज्ञान का संस्थापक माना जाता है। उन्होंने समाज के सामाजिक-दर्शन को प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया है। इसी तरह हरबर्ट स्पेन्सर महोदय के बारे में भी कहा जा सकता है। परन्तु इन दोनों विद्वानों के बारे में यह सन्देहास्पद है कि क्या दर्शन-सम्बन्धी उनकी यह विचार धारा आधार-शिला का रूप धारण करने के लिए पर्याप्त है? मा[illegible] दुर्खिम द्वारा प्रतिपादित समाज-शास्त्र विधि का सामान्य विवरण आधार में इस विषय का महत्त्वपूर्ण अंश है पर उसमें भी समाज-दर्शन पर कुछ प्रकाश नहीं डाला गया है। दूसरी तरफ प्रो० ध्यान ने अपनी पुस्तक [illegible] सोशियोलाजी पृष्ठ [illegible] में उसे स्थान दिया है। समाज शास्त्र के [illegible] की दृष्टि में [illegible] यह विचार है कि उसके सभी [illegible] विवरणों [illegible] में और अन्त के सामान्य [illegible] में समाज-दर्शन के [illegible]

विज्ञान विशेष तथ्यों या सामान्य सत्यों अथवा इन दोनों का समूह होता है। इसके साथ ही इसे खोजने के लिए कुछ-एक परिमित पदार्थों तक सीमित रहने वाली संचालित विधियाँ भी सम्मिलित रहती हैं। इसमें उन तथ्यों और सत्यों को उसी सीमित क्षेत्र में व्याख्या करने और समझने का दृष्टिकोण भी निहित रहता है। मानव-जीवन जो बहुत-कुछ अंशों में सदैव सामाजिक होता है कुछ ऐसे उद्देश्य उपस्थित करता है जिनके अध्ययन से विविध विधियाँ निर्धारित की जा सकें तथा बहुत से रुचिकर एवं महत्त्वपूर्ण तथ्यों तथा सत्यों की पुष्टि की जा सके। समाज-शास्त्र का इनसे सम्बन्ध है परन्तु इसे उनसे उसी प्रकार पृथक किया जा सकता है जिस प्रकार मानव-जीवन के व्यक्तिगत पहलू को सामाजिक जीवन से। यदि मानव विज्ञान से मानवता के साधारण अध्ययन का अर्थ लिया जाता है तो इसे दो प्रमुख शाखाओं—व्यक्ति-शास्त्र तथा समाज-शास्त्र के रूप में विभक्त किया जा सकता है। इनमें से भी प्रत्येक को अनेक पृथक् शाखाओं में विभाजित किया जा सकता है। दूसरी ओर दर्शन-शास्त्र जिसकी विज्ञान से अपनी पृथक स्थिति है कुछ विशेष तत्त्वों के बारे में चिन्तन का प्रयास है जो पूर्ण से सम्बन्धित है। अपने व्यापक उद्देश्यों के रूप में वह अपने अनुभवात्मक संसार के विशेष तथ्यों और तत्त्वों की व्याख्या करने की चेष्टा करता है जो सम्पूर्ण विश्व अथवा ब्रह्माण्ड का अंग या पहलू है। समाज-दर्शन विशेष रूप से मानव-जाति के सामाजिक संगठन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और उस संगठन के साथ वह मानव-जीवन के सामाजिक पहलुओं के महत्त्व की व्याख्या करने का प्रयास करता है। वह विशेष रूप से जीवन के मूल्यों उद्देश्यों तथा आदर्शों का अध्ययन है, परन्तु उनका अध्ययन नहीं जो प्रारम्भिक रूप से अपेक्षित हैं या थे हैं या अपेक्षित हो सकते हैं किन्तु जीवन के इन रूपों का अर्थ और महत्त्व लिया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि कुछ विशेष समाज-विज्ञान जिन बातों की पुष्टि करते हैं यह उनकी उपेक्षा करता है। दर्शन-शास्त्र में किसी भी बात की उपेक्षा करना अवांछ है। समाज-दर्शन का विशेष कार्य तथ्यों की खोज करना नहीं क्योंकि इसे अन्य विज्ञानों से अपने तथ्य ग्रहण करने पड़ते हैं

साहित्य मान्य है। मैकाइवर एण्ड पेज की रचनाएँ अति सुबोध हैं और अधिक संक्षिप्त विवरण प्रो० एम० एम० गिन्सबर्ग महोदय की पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी' में मिल सकता है (इसमें एक उत्तम पुस्तक-सूची भी दी हुई है)। आधुनिक कृतियों में प्रो० ए० एच० हाब्स की पुस्तक 'बेसिक सोशियोलॉजी' भी उल्लेखनीय है। प्रो० रम्ज़े और सिम्पसन की एक छोटी पुस्तक 'एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ सोसाइटी' इस विषय के प्रारंभिक लोगों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

परन्तु यह उनका विश्लेषण करने की चेष्टा करता है। यह कैसे होता है समय पाने मालूम पड़ेगा सामान्य वक्तव्य के रूप में इतना ही पर्याप्त है।[1]

समाज-शास्त्र के अन्तर्गत आने वाले विज्ञानों में समाज दर्शन का सामान्य स्थान पहले ही देख चुके हैं। अब हम इसका सम्बन्ध कुछ विशेष सामाजिक विषयों के साथ देखना है जिनके साथ इसका घनिष्ठ

२ अन्य शास्त्रों के साथ सम्बन्ध है। इनमें से प्रधान शास्त्र हैं—जीव विज्ञान इसका सम्बन्ध मनोविज्ञान शिक्षा-शास्त्र नीति-शास्त्र राजनीति शास्त्र कानून अर्थ-शास्त्र इतिहास और धर्म शास्त्र।

इनका सम्बन्ध संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार से है—

मानव-जाति स्पष्टतः जीवन का एक प्रकार है। जीवन के सामान्य अध्ययन से उसके स्वभाव पर अच्छा प्रकाश डाला जा सकता है। विशेषतः विकासवाद की प्रकाशमान विचारधारा हमारे इस अध्ययन में सहायक हो सकती है, जैसे वह अन्य महत्त्वपूर्ण अध्ययनों में सहायक रही है। हरबर्ट स्पेन्सर का चाहे अन्य प्रकार से कुछ भी महत्त्व रखता हो पर मानव जीवन की व्याख्या के रूप में उसने जो विचार व्यक्त किए तथा उसे जो पुष्टि दी है उसके लिए वह हमेशा प्रशंसा का पात्र रहेगा। निस्सन्देह उसके मत का पूर्वाभास अरस्तू हीगल कॉम्टे और अन्य लोगों की विचारधारा में मिलता है। अनेक दृष्टिकोणों से उनके विश्लेषण विशेषतः प्रथम दो विज्ञानों के बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु सामान्य जीव-विज्ञान के साथ सम्बन्ध सम्भवतः निश्चित रूप से स्पेन्सर ने ही स्थापित किया है।

मानव-जीवन में चेतना का अस्तित्व ही उसका सबसे बड़ा महत्त्व और विशेष लक्षण है जो उसके क्रम-विकास की निम्न तथा उन्नत अवस्थाओं में

१ समाज-दर्शन को समाज शास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत नाम देना उचित है या नहीं, इस विषय पर आधुनिक लेखकों के विचारों में मतभेद है। ... माना जाता है। उन्होंने समाज के ... को विज्ञान का ... का भी प्रयास किया है इसी तरह हरबर्ट स्पेन्सर ... सामान्य-दर्शन का प्रमुख अंग ... भी कहा जा सकता है। परन्तु इन दोनों विषयों के बारे में ... महोदय के बारे में भी ... उनकी यह विचार ... दर्शन ... द्वारा प्रतिपादित समाज शास्त्र ... पर्याप्त है ... महत्त्वपूर्ण ... सामान्य विवरण ... नहीं दिया गया है। दूसरी तरफ प्रो० ... ने ... समाज-दर्शन पर कुछ प्रमाण ... स्थान दिया है। समाज शास्त्र ... अपनी पुस्तक ... विचार है कि इसके सभी ... में समाज-दर्शन के ... सामान्य ... किया जा सकता है। ... के परिणाम ...

विज्ञान विशेष तथ्यों या सामान्य सत्यों अथवा इन दोनों का समूह होता है। इसके साथ ही उसे खोजने के लिए कुछ-एक परिमित पदार्थों तक सीमित रहने वाली समोचित विधियाँ भी सम्मिलित रहती हैं। उसमें इन तथ्यों और सत्यों को उसी सीमित क्षेत्र में व्याख्या करने और समझने का दृष्टिकोण भी निहित रहता है। मानव-जीवन जो बहुत-कुछ अंशों में सदैव सामाजिक होता है कुछ ऐसे उद्देश्य उपस्थित करता है जिनके अध्ययन से विभिन्न विधियाँ निर्धारित की जा सकें तथा बहुत से रुचिकर एवं महत्त्वपूर्ण तथ्यों तथा सत्यों की पुष्टि की जा सके। समाज-शास्त्र का इनसे सम्बन्ध है परन्तु इसे उनसे उसी प्रकार पृथक किया जा सकता है जिस प्रकार मानव-जीवन के व्यक्तिगत पहलू को सामाजिक जीवन से। यदि मानव विज्ञान से मानवता के साधारण अध्ययन का अर्थ लिया जाता है तो उसे दो प्रमुख शाखाओं—व्यक्ति-शास्त्र तथा समाज-शास्त्र के रूप में विभक्त किया जा सकता है। इनमें से भी प्रत्येक को अनेक पृथक शाखाओं में विभाजित किया जा सकता है। दूसरी ओर दर्शन-शास्त्र जिसकी विज्ञान से अपनी पृथक् स्थिति है कुछ विशेष तत्त्वों के बारे में चिन्तन का प्रयास है जो पूर्व से सम्बन्धित है। अपने व्यापक उद्देश्यों के रूप में वह अपने अनुभवात्मक संसार के विशेष तथ्यों और सत्यों की व्याख्या करने की चेष्टा करता है जो समूचे विश्व अथवा ब्रह्माण्ड का अंग या पहलू है। समाज-दर्शन विशेष रूप से मानव-जाति के सामाजिक संगठन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और उस संगठन के साथ वह मानव-जीवन के सामाजिक पहलुओं के महत्त्व की व्याख्या करने का प्रयास करता है। यह विशेष रूप से जीवन के मूल्यों उद्देश्यों तथा आदर्शों का अध्ययन है, परन्तु उनका अध्ययन नहीं जो प्राथमिक रूप से अपेक्षित हैं या रहे हैं या अपेक्षित हो सकते हैं किन्तु जीवन के इन रूपों का अर्थ और महत्त्व लिया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि कुछ विशेष समाज-विज्ञान जिन बातों की पुष्टि करते हैं यह उनकी उपेक्षा करता है। दर्शन-शास्त्र में किसी भी बात की उपेक्षा करना असम्भव है। समाज-दर्शन का विशेष कार्य तथ्यों की खोज करना नहीं क्योंकि इसे अन्य विज्ञानों से अपने तथ्य ग्रहण करने पड़ते हैं

साहित्य प्राप्य है। मिस्टर एफ. बार्टे की रचनायें अति सुबोध हैं और अधिक संक्षिप्त विवरण प्रो. एफ. एम. मिडिंग्स् महोदय की पुस्तक 'प्रिन्सिपल्स ऑफ सोसायटी' में मिल सकता है (इसमें एक उत्तम पुस्तक-सूची भी दी हुई है)। आधुनिक कृतियों में प्रो. ए. एफ. ब्लाक की पुस्तक 'जनरल सोशियालाजी' भी उल्लेखनीय है। प्रो. ब्लाक और मिन्सबर्ग की एक छोटी पुस्तक 'एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ सोसाइटी' इस विषय के प्रारम्भिक लोगों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

विज्ञान विशेष तथ्यों या सामान्य सत्यों अथवा इन दोनों का समूह होता है। इसके साथ ही उसे खोजने के लिए कुछ-एक परिमित पदार्थों तक सीमित रहने वाली संयोजित विधियाँ भी सम्मिलित रहती हैं। उसमें उन तथ्यों और सत्यों को उसी सीमित क्षेत्र में व्याख्या करने और समझने का दृष्टिकोण भी निहित रहता है। मानव-जीवन जो बहुत-कुछ अंशों में सदैव सामाजिक होता है कुछ ऐसे उद्देश्य उपस्थित करता है जिनके अध्ययन से विविध विधियाँ निर्धारित की जा सकें तथा बहुत से रुचिकर एवं महत्त्वपूर्ण तथ्यों तथा सत्यों की पुष्टि की जा सके। समाज-शास्त्र का इनसे सम्बन्ध है परन्तु इसे उनसे उसी प्रकार पृथक किया जा सकता है जिस प्रकार मानव-जीवन के व्यक्तिगत पहलू को सामाजिक जीवन से। यदि मानव विज्ञान से मानवता के साधारण अध्ययन का अर्थ लिया जाता है तो उसे दो प्रमुख शाखाओं—व्यक्ति-शास्त्र तथा समाज-शास्त्र के रूप में विभक्त किया जा सकता है। इनमें से भी प्रत्येक को अनेक पृथक शाखाओं में विभाजित किया जा सकता है। दूसरी ओर दर्शन-शास्त्र जिसकी विज्ञान से अपनी पृथक् स्थिति है कुछ विशेष तत्त्वों के बारे में चिन्तन का प्रयास है जो पूर्व से सम्बन्धित है। अपने व्यापक उद्देश्यों के रूप में वह अपने अनुभवात्मक संसार के विशेष तथ्यों और सत्यों की व्याख्या करने की चेष्टा करता है जो समूचे विश्व अथवा ब्रह्माण्ड का अंग या पहलू है। समाज-दर्शन विशेष रूप से मानव-जाति के सामाजिक संगठन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और उस संगठन के साथ वह मानव-जीवन के सामाजिक पहलुओं के महत्त्व की व्याख्या करने का प्रयास करता है। यह विशेष रूप से जीवन के मूल्यों उद्देश्यों तथा आदर्शों का अध्ययन है परन्तु उनका अध्ययन नहीं जो प्राथमिक रूप से अपेक्षित हैं या रहे हैं या अपेक्षित हो सकते हैं किन्तु जीवन के इन रूपों का अर्थ और महत्त्व लिया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि कुछ विशेष समाज-विज्ञान जिन बातों की पुष्टि करते हैं यह उनकी उपेक्षा करता है। दर्शन-शास्त्र में किसी भी बात की उपेक्षा करना भयावह है। समाज-दर्शन का विशेष कार्य तथ्यों की खोज करना नहीं क्योंकि इसे अन्य विज्ञानों से अपने तथ्य ग्रहण करने पड़ते हैं

साहित्य प्राप्य है। मेग्रर एच. वाक की रचनायें अति उपयोगी हैं और अधिक संक्षिप्त विवरण प्रो० एच. एच. मिकिंज्ञ महोदय की पुस्तक 'प्रिन्सिपल्स आफ सोसायटी' में मिल सकता है (इसमें एक उत्तम पुस्तक-सूची भी दी हुई है)। आधुनिक कृतियों में प्रो० ए. एच. रगात की पुस्तक 'जनरल सोशियालाजी' भी उल्लेखनीय है। प्रो० रगात और रिम्बीवर की एक छोटी पुस्तक 'एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आफ सोसायटी' इस विषय के प्रारंभिक लोगों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

परन्तु यह उसका विश्लेषण करने की चेष्टा करता है। यह कैसे होता है क्रमशः आगे मालूम पड़ेगा सामान्य वक्तव्य के रूप में इतना ही पर्याप्त है।[1]

समाज-शास्त्र के अन्तर्गत आने वाले विभागों में समाज-दर्शन का सामान्य स्थान पहले ही देख चुके हैं। अब हमें इसका सम्बन्ध कुछ विशेष सामाजिक विषयों के साथ देखना है जिनके साथ इसका घनिष्ठ

य अन्य शास्त्रों के साथ सम्बन्ध है। इनमें से प्रधान शास्त्र हैं—जीव-विज्ञान

इसका सम्बन्ध मनोविज्ञान शिक्षा-शास्त्र नीति शास्त्र राजनीति शास्त्र कानून, अर्थ-शास्त्र इतिहास और धर्म शास्त्र।

इनका सम्बन्ध संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार से है—

मानव-जाति स्पष्टतः जीवन का एक प्रकार है। जीवन के सामान्य अध्ययन से उसके स्वभाव पर अच्छा प्रकाश डाला जा सकता है। विशेषतः विकासवाद की प्रवाहमान विचारधारा हमारे इस अध्ययन में सहायक हो सकती है, जैसे वह अन्य महत्वपूर्ण अध्ययनों में सहायक रही है। हरबर्ट स्पेन्सर का नाम अन्य प्रकार से कुछ भी महत्व रखता हो पर मानव-जीवन की व्याख्या के रूप में उसने जो विचार व्यक्त किये तथा उसे जो पुष्टि दी है उसके लिए वह हमेशा प्रशंसा का पात्र रहेगा। निस्सन्देह उसके मत का पूर्वाभास अरस्तू हीगल कॉम्टे और अन्य लोगों की विचारधारा में मिलता है। अनेक दृष्टिकोणों से उनके विश्लेषण विशेषतः प्रथम दो विद्वानों के बड़े महत्वपूर्ण हैं। परन्तु सामान्य जीव-विज्ञान के साथ सम्बन्ध सम्भवतः निश्चित रूप से स्पेन्सर ने ही स्थापित किया है।

मानव-जीवन में चेतना का अस्तित्व ही उसका सबसे बड़ा महत्व और विशेष लक्षण है जो उसके क्रम-विकास की निम्न तथा उन्नत अवस्थाओं में

१ समाज-दर्शन को समाज शास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत मान लेना उचित है या नहीं, इस विषय पर आधुनिक लेखकों के विचारों में मतभेद है।

कॉम्ट महोदय को विज्ञान का संस्थापक माना जाता है। उन्होंने समाज के सामान्य-दर्शन का प्रणयन करने का भी प्रयास किया है इसी तरह हरबर्ट स्पेन्सर महोदय के बारे में भी कहा जा सकता है। परन्तु इन दोनों विद्वानों के बारे में यह सन्देहास्पद है कि क्या दर्शन सम्बन्धी उनकी यह विचार धारा आधार शिला का रूप धारण करने के लिए पर्याप्त है? प्रो० हाबहाउस द्वारा प्रतिपादित समाज शास्त्र-विधि का सामान्य विवरण [illegible] में इस विषय का महत्वपूर्ण स्थान है, पर उसमें भी समाज-दर्शन पर कुछ प्रकाश नहीं डाला गया है। दूसरी तरफ प्रो० [illegible] ने अपनी पुस्तक [illegible] में उसे स्थान दिया है। समाज शास्त्र के [illegible] रूप को दृष्टि में रखते हुए यह [illegible] विचार है कि उसके [illegible] विवरणों के प्रारम्भ में और [illegible] सामान्य [illegible] में समाज-दर्शन [illegible] विद्वानों के परिचय का [illegible] किया जा सकता है।

स्पष्ट दीख पड़ता है। इस सम्बन्ध में हमें चेतना की व्याख्या करने वाले विज्ञान से सहायता लेनी पड़ेगी। मानव-समाज की कार्य प्रवृत्तियों तथा विकास के बारे में सोचते समय हम क्षुधा, मनोवृत्ति तथा संवेग आदि की अवहेलना नहीं कर सकते। मानव प्रकृति के इन पहलुओं का साधारणतः मनोविज्ञान के विज्ञान उनकी विशुद्ध व्यक्तिगत अभिव्यक्ति में अध्ययन करते हैं। परन्तु समाज-मनोविज्ञान को भी अब अध्ययन की एक महत्त्वपूर्ण शाखा मान लिया गया है।[1] भीड़ मनोविज्ञान इसकी एक विशेष शाखा है।[2] भाषा का अध्ययन इसका अन्य पहलू समझा जा सकता है।[3] मानव-समाज के अध्ययन के समय मानव प्रकृति में विशुद्ध पाशविक तत्त्वों के नियोजन और निर्माण विशेष विचारणीय विषय हैं।

समाज दर्शन के अध्ययन के दृष्टिकोण से शिक्षा-सिद्धान्त का बड़ा महत्त्व है। विशेषतः यह उस अंश तक अधिक महत्त्वपूर्ण है जहाँ तक वह उस विधि की ओर संकेत करता है जिससे व्यक्ति अंशतः प्राकृतिक विकास और अंशतः वाह्यपथ प्रदर्शन से अपने जीवन के निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति करता हुआ समाज के एक उत्तरदायी सदस्य के रूप में विकसित होता है।

नीति विज्ञान उन उद्देश्यों की व्याख्या करता है जो इस जीवन में वांछित हैं। अतः इसका समाज-दर्शन से अन्य-विषयों की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः समाज-दर्शन नीति-शास्त्र का एक भाग कहा जा सकता है अथवा नीति शास्त्र समाज-दर्शन का एक भाग कहला सकता है। सारांश में इन विषयों का स्पष्टतः सम्बन्ध देखा जा सकता है। पहला उन व्यक्तियों के व्यवहार से सम्बन्धित है जो कम-से-कम समाज में तो रहते हैं। दूसरा समुदाय से सम्बन्धित है परन्तु स्मरण रहे कि वह समुदाय व्यक्तियों द्वारा संगठित होता है। व्यक्तियों और समुदाय के उद्देश्य एक ही हैं। परन्तु इन दोनों विषयों को पृथक्-पृथक रूप से अध्ययन के लिए सम्बन्धित सामग्री पर्याप्त रूप से मिल सकती है। इन दोनों का आपस में सम्बन्ध कुछ इसी तरह का है जैसा कि व्यक्ति और सामाजिक मनोविज्ञान में।

राजनीति-शास्त्र या राज्य के सिद्धान्त समाज के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। सभी समाज अपने न्यूनतम विकास की स्थिति में सरकार के किसी न-किसी रूप को प्राप्त कर लेते हैं। सरकार से सम्बन्धित समस्याएँ इतनी

---

१. इस विषय में और अधिक परिचय के लिए डॉ॰ मैकडॉगल की 'सोशल साइकॉलॉजी' एक अच्छी पुस्तक है। प्रो॰ वॉलेस की 'ह्यूमन नेचर इन पॉलिटिक्स' को भी देखिए।
२. इस विषय पर ली बॉन का कार्य देखिए।
३. श्री वुण्ट महोदय के दो भारी ग्रन्थ Volkerpsychologie मूलतः भाषा से ही सम्बन्धित हैं।

जटिल कठिन तथा महत्त्वपूर्ण युक्तियों से युक्त होती है कि उन्हें एक पृथक विज्ञान के रूप में विवेचन की आवश्यकता है। इस विषय में केवल सामान्य बातों को ही समाज-दर्शन में स्थान दिया जा सकता है।

समाज-दर्शन का जिन प्रश्नों से सम्बन्ध है उन सबमें आधारभूत प्रश्न न्याय का है। उसमें विधि-शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु यहाँ फिर हमारे विषय की परिधि में बहुत साधारण बातें ही आ पाती हैं।

उद्योग और वाणिज्य मानव-समाज की गतिविधि का इतने व्यापक अंश में निर्धारण करते हैं कि किसी भी समाज-दर्शन में उनका स्थान अनिवार्यतः सावधानी से निर्धारित किया जाता है। परन्तु इस विषय में भी कुछ ऐसी जटिल समस्याएँ हैं कि उनका विश्लेषण एक पृथक विज्ञान के रूप में करना पड़ता है—वह है अर्थ-शास्त्र। इस विषय से सम्बन्धित बहुत से प्रश्न भाषा के रूप में गणित किये जा सकते हैं और स्वयं गणित की प्रक्रिया अपना सकते हैं। अतः उनमें सामाजिक समस्याओं के अध्ययन करने वाले अन्य विषयों की अपेक्षा अधिक यथातथ्य व्यक्त करने की शक्ति है। इसी कारण समाज-विज्ञान के अन्य भागों की अपेक्षा विज्ञान के रूप में यह अधिक उपयोगी सिद्ध होने के कारण विकसित हो सका और व्यवहार-रूप में अधिक लोगों की अत्यधिक रुचि का विषय बन गया। इसके यथातथ्य तथा कार्य-रूप में परिणत ज्ञान के आत्मा मूल्य अति घोषित के भय से रहित नहीं है। इसकी यथातथ्यता भी कुछ संदिग्ध मान्यताओं पर आधारित है तथा इसका व्यावहारिक रूप भी कुछ विचारणीय परिवर्तन चाहता है। अपने विषय-क्षेत्र में आगे आगे कुछ अन्य प्रश्नों पर समय में हम आगे विचार करेंगे।

सामाजिक जीवन के ये सब पहलू समय-समय पर परिवर्तित और विकसित होते रहते हैं। उनकी विशेषताएँ समय और स्थान की अनेकों परिस्थितियों के कारण भिन्न-भिन्न और परिवर्तित होती रहती हैं। इतिहास इस प्रकार की परिस्थितियों और परिवर्तनों का लेखा-जोखा है और सामाजिक जीवन के अनेकों महत्त्वपूर्ण अंगों पर प्रकाश डालता है। दूसरी ओर सामान्य-समाज-दर्शन इसे यह विश्लेषण करने में सहायक होता है जिसके बिना इतिहास के लिए कितने स्वच्छन्दाचारी और अव्यवस्थित दिखाई देते हैं।[१] परन्तु ऐतिहासिक विकास का विस्तृत अध्ययन स्पष्टतः हमारे विषय से बाहर है।

---

१ यहाँ हीगेल महोदय की 'फिलासफी आफ हिस्ट्री' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एच० टी० बकिल की 'हिस्ट्री आफ सिविलिजेशन' भी इस बारे में महत्त्वपूर्ण है। बी० किड महोदय की पुस्तक 'प्रिन्सीपल्स आफ वेस्टर्न सिविलिजेशन' में भी कुछ अच्छी बातें हैं। परन्तु इन दोनों पुस्तकों में प्रतिपादित किये गए विचारों को कुछ सावधानी से ग्रहण करना चाहिए। यों तो बाद में समाज शास्त्र पर बड़ा

वे विश्वास, आदर्श और प्रेरणाएँ जो धर्म के रूप में आती हैं, मानव-इतिहास में एक महान् स्थान रखती हैं और मानवता की भव्यतम विशेषताओं का निर्माण करती हैं। उनका कुछ विश्लेषण भी समाज-दर्शन में आवश्यक है यद्यपि उसके कुछ भाग नीति-शास्त्र और अध्यात्म-शास्त्र से सम्बन्धित हैं और कुछ भाग अध्ययन के पृथक् विषय हैं।

इस सबसे यह स्पष्ट है कि समाज-दर्शन का अनेक विषयों से सम्बन्ध है और सामग्री एवं रुचि दोनों का अभाव भी नहीं है।

अभी जिस विषय का निर्माण ही हो रहा हो उसके विकास के सम्बन्ध में निश्चित रूप से आरम्भ में ही कुछ कहना सरल नहीं है। इसे सिद्धान्तों या पूर्वमान्यताओं के साथ प्रारम्भ करना कठिन है।

३ इसकी विधियाँ

अनुभवात्मक अध्ययन न होने के कारण तथ्यों को इकट्ठा करके प्रारम्भ करना कठिन भी है। यह सम्भव हो सकता है, जैसे हम पहले देख चुके हैं कि इसका नीति-शास्त्र से तारतम्य के रूप में विवेचन प्रारम्भ हो। परन्तु पूर्ण रूप से देखने पर यह आवश्यक-सा हो जाता है कि इसे एक स्वतन्त्र विषय के रूप में प्रारम्भ किया जाए। हम मानव जीवन के एक विशेष पहलू से सम्बन्धित हैं। इसलिए यह उचित होगा कि उस जीवन की सामान्य विशेषताओं के अध्ययन से इसका प्रारम्भ करें। इसके उपरान्त वे सामान्य विशेषताएँ सामाजिक संगठन के विशेष रूप को कैसे उत्पन्न करती हैं, उन्हें जानने के लिए आगे बढ़ेंगे। तब हम इन विशेष रूपों का सुव्यवस्थित ढंग से अध्ययन कर सकेंगे। यदि यह सम्भव हो जाता है तो विषय-वस्तु से स्वतः ही अध्ययन की विधियाँ निकल आएँगी। इस स्तर पर इसका एक संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण लाभदायक सिद्ध हो सकता है और इसके अध्ययन के एक सामान्य ढंग को उचित सिद्ध कर सकता है, जैसा मैं अपनाने जा रहा हूँ।

लगभग सभी वैज्ञानिक और दार्शनिक विषयों का प्रारम्भ प्राचीन यूनानी विचारकों की कृतियों में मिलता है। उनसे पूर्व अनेक अस्पष्ट कल्पनाएँ थीं। उनमें से कुछ बहुत अच्छी भी हैं परन्तु उन्हें वैज्ञानिक महत्त्व

४ इसका प्रारम्भिक रूप

का मानना कठिन है। यहाँ तक कि पुराने यूनानी विद्वानों के विचारों में कुछ तारतम्य क्या है, यह खोज निकालना भी कठिन है। यह स्पष्ट है कि इन्होंने अपने चारों तरफ की दुनिया को पृथक्-पृथक् रूप में देखा और उनमें तात्त्विक भेद खोजा, जैसे अग्नि, वायु, जल और अन्य कठोर पदार्थों के मध्य तथा उनका सामान्य नामकरण

रोचक पुस्तक लिखी है विशेष रूप से यह इतिहास के दर्शन Philosophie der Eneschichte als Soziologie के दृष्टिकोण से अच्छी है।

पृथ्वी के रूप में किया। तत्पश्चात् उन्होंने आकर्षक और घृणित प्रवृत्तियों में स्थायी और परिवर्तनशील में एकत्व और बहुत्व में पदार्थ और आकृति में और इसी प्रकार अन्य वस्तुओं में अन्तर प्रदर्शित किया।[1] जीवन का सामान्य तथ्य भी उन आरम्भिक वस्तुओं में से था जिसने उनका ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने उसका अपने चारों तरफ के संसार के अन्य सत्वों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहा। उदाहरणस्वरूप हेराक्लिटोस ने इस उतार-चढ़ाव की सामान्य प्रवृत्ति में देखा। उसे ऐसा लगा कि अखिल प्रकृति में चारों तरफ यही हलचल चल रही है जैसे—भाप के उठने और वर्षा के बरसने में गरमी और सरदी में जागने और सोने में जीवन और मरण में विकास और विनाश में गुण और दोष में तथा उन्नति और पतन में। इस प्रकार का चिन्तन प्राचीन यूनानी विद्वानों को विकासवाद के सिद्धान्तों तथा जीवन में उसके प्रयोग के कुछ निकट ला सका। परन्तु बहुत आरम्भिक अवस्था में वे मानव-जीवन की अनियमितताओं से विशेषतया उसके सामाजिक पहलू में प्रभावित होने शुरू हो गए होंगे। उन्होंने प्राकृतिक शक्तियों के सम्बन्ध में उनके एक-सा होने के कारण एक काफी सुनिश्चित अवधारणा विकसित की भी थी। उन्होंने देखा कि अग्नि के जलने का एक निश्चित तरीका है जैसा यूनान में वैसा ही फारस में भी। सारांश में यही पौधों के विकास जानवरों की प्रवृत्ति मौसमों के बदल तथा अन्य प्राकृतिक हलचलों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। अतः समझा गया कि यह प्राकृतिक वस्तु की एक विशेषता है जो अभिन्न एवं एक-सी है। अपवाद मानव जीवन ही विशेषतः अपने सामाजिक पहलू में स्पष्ट अपवाद के रूप में दिखलाई पड़ता है। चयन की स्वतन्त्रता जो मानव को प्राप्त है सर्वप्रथम पूर्ण स्वेच्छाचार-सी दिखाई पड़ती है। इसमें उच्चतर नियमों की पूर्ति के लिए एक विलक्षण बुद्धि की आवश्यकता है। यहाँ तक कि वर्तमान समय में भी हम मानव के कार्यों की अनियमितता तथा प्राकृतिक घटनाओं की नियमितता जैसे ग्रह-नक्षत्र आदि की गति में भेद प्रदर्शित करने को उद्यत हो जाते हैं। वे न रुक सकते हैं न मार्ग में भटक सकते हैं परन्तु हमारी अमर आत्माएँ ऐसा कर सकती हैं।

पाँचवीं शताब्दी (ईसा पूर्व) में मध्य यूनान में उन शिक्षकों के एक समूह ने जिसे सामान्यतः सूफिस्ट कहा जाता है इस प्रतिस्पर्धा को प्रमुखता दी कि क्या यह प्राकृतिक या स्वाभाविक है अथवा स्वेच्छाचारपूर्ण एवं परम्परागत। ये घूमने वाले शिक्षक प्रचारक थे। ये लोग विभिन्न स्थानों के

---

1. इस विषय का स्पष्ट सामान्य विवरण प्रा० बर्ने की पुस्तक यूनानी प्रौढ़ विचारकों में उपलब्ध हो सकता है।

विभिन्न रीति-रिवाजों नियमों तथा संविधान के विविध रूपों से विशेष प्रभावित हुए। इसीलिए उन्होंने व्यक्त किया कि प्राकृतिक तत्त्वों में जो साम्यता नहीं है उसे केवल परम्परागत समझा जाना चाहिए। ये मानव की स्वीकृति या समझौते पर या विशेष शासकों के स्वेच्छाचारी चुनाव पर आधारित हैं वास्तविक रूप में चीजों के स्वभाव पर आधारित नहीं है। इस प्रकार उन्होंने प्राकृतिक नियमों तथा मानव निर्धारित नियमों के अन्तर से परिचय कराया और उस पर बल दिया।[1]

अब विशेषतः इसी वैधर्म्य या प्रतिस्थापना से सम्बन्ध रखने वाला समाज-दर्शन पर प्रथम ग्रन्थ लिखा गया जो सबसे पहला तथा अब भी अनेक दृष्टियों से उत्कृष्ट एवं रोचक है। प्लेटो का 'रिपब्लिक' मुख्यतः एक प्रश्न से सम्बन्धित अध्ययन है कि क्या मानव-नियम के सम्बन्ध में यह माना जाए कि उसका आधार कुछ प्राकृतिक नियमों में है? यह प्रश्न न्याय या सत्य के अर्थ की छानबीन से प्रारम्भ होता है तथा उससे सामाजिक व्यवस्था पर आ जाता है। क्या सामाजिक व्यवस्था जिसमें न्याय भी सम्मिलित है प्राकृतिक है या कृत्रिम? प्लेटो के रूप में सुकरात का दृष्टिकोण है कि वह वस्तुतः प्राकृतिक है। उसने सामाजिक गठन का जन्म मानव प्रकृति में एक विशेष तथ्य से सुविकसित होते हुए दिखाने की चेष्टा की है। वह तथ्य यह है कि मानव आत्म-निर्भर नहीं है। फलस्वरूप उसे दूसरों से सहयोग लेना पड़ता है। इसी आधार पर उसने मानव संगठन के ढाँचे की रूपरेखा खींचने का प्रयास किया है। उसमें सहयोग की उस माँग और आवश्यकता को पूर्णतः दिखाया गया है। इस प्रकार हम आदर्श राज्य के विचार तथा उस राज्य की व्यवस्था के लिए आवश्यक शिक्षा के विचार तक पहुँच जाते हैं। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते जाते हैं हमें इस प्रकार की अनेक बातें देखने को मिलती हैं।

प्लेटो के 'रिपब्लिक' का महत्त्व उसकी गम्भीर विलक्षण बुद्धि व्यापक दृष्टिकोण एवं दूरदर्शिता पर आधारित है। उसने सभी आधारभूत समस्याएं मानव-जीवन के सभी प्रमुख पहलुओं से सम्बन्धित कर दी हैं। परन्तु यहाँ हम अपनी आधारभूत समस्याओं तक ही सीमित रहेंगे।[2]

प्रधान रूप से प्लेटो के राज्य का ढाँचा जिससे उसका अत्यधिक परिचय था छोटा नगर-राज्य है जो यूनान में अपने पूर्ण विकास पर था। इस प्रकार

---

१ इस विषय पर भी श्री बर्नेट महोदय का 'ग्रीक फिलासफी थेल्स से प्लेटो तक' अध्ययन कीजिए। उनका प्रारंभिक अर्ली ग्रीक फिलासफी पृष्ठ ११-१२ भी अवलोकनीय है।

२ परिशिष्ट में प्लेटो महोदय के 'रिपब्लिक' पर नोट देखिए।

के राज्य और आधुनिक राज्य जैसा सामान्यतः हम सोचते हैं में अनेक महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं। इनकी खास विशेषता इनका घनिष्ठ संगठन और एकता थी जो आधुनिक विशाल साम्राज्यों या आज के अपेक्षाकृत छोटे राष्ट्रों में उसी प्रकार से नहीं मिल सकती। आधुनिक राज्यों व उनके नागरिकों के सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं में काफी अन्तर है परन्तु छोटे नगर-राज्यों में नागरिक जीवन और सामाजिक जीवन में कोई अन्तर नहीं था। अतः प्लेटो के अनुसार समाज-दर्शन एवं राजनीति-शास्त्र लगभग एक ही है तथा नीति शास्त्र एवं शिक्षा-सिद्धान्तों से भी इनको पृथक् करना कठिन है। कुछ भी हो प्लेटो ने सामान्य अध्ययन की आधार-शिला अच्छे और सही ढंग से रखी है। और फिर यह कहना भी सत्य ही है कि उससे जितना अच्छा परिचय हम पा सकते हैं उतना किसी अन्य लेखक द्वारा नहीं।

२ बाद का विकास

समाज दर्शन के विकास के सम्बन्ध में हमें अधिक व्यापक रूप से कुछ नहीं कहना है क्योंकि केवल विरल रूप रेखा के अतिरिक्त इस संक्षेप में रखना भी अति कठिन है।

प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू ने राजनीति तथा नीतिशास्त्र में एक निश्चित अन्तर दर्शाया यद्यपि उसने तत्वतः प्लेटो के ही रूप को समझा। अरस्तू नागरिकों के बारे में लिखता है तो प्लेटो नगर के बारे में। परन्तु अरस्तू ने जो भेद बतलाया है वह प्लेटो की अपेक्षा बहुत स्पष्ट है। उसने यह स्पष्ट किया है और प्लेटो ने भी कि एक मनुष्य किसी राज्य के नागरिक के अतिरिक्त कुछ और भी है। नागरिकता मनुष्य के व्यापक जीवन का एक छोटा अंश होना चाहिए। विषयों के हमारे आधुनिक क्रम निर्धारण के अनुसार अरस्तू के नीति शास्त्र के कुछ भाग विशेषतः न्याय तथा मित्रता-सम्बन्धी कुछ अंश नीति शास्त्र की अपेक्षा समाज-दर्शन का भाग होना अधिक उचित जँचेंगे। ये नीति शास्त्र और राजनीति-शास्त्र में सम्बन्ध स्थापित करने वाली कड़ियाँ हैं।[1]

अरस्तू के पश्चात् ग्रीक-नगर राज्यों की समाप्ति और पतन से नीति-शास्त्र और राजनीति शास्त्र में कुछ अधिक स्पष्ट भेद पैदा हुआ। विशाल साम्राज्य—चाहे वे मेसिडोनिया के हों या रोम के उनके नागरिकों की सक्रिय प्रेरणा के प्रतीक नहीं बन सके जैसा आदर्श रूप छोटे नगर राज्य प्राप्त कर सके थे। अब स्टोइक्स और एपिक्यूरियन्स प्लेटो तथा अरस्तू की तरह नहीं सोच सके कि एक व्यक्ति का जीवन एक संगठित राज्य के साथ आबद्ध है। स्टोइकों के अनुसार

---

१ आगे की विशेष जानकारी के लिए श्री आर्नेस्ट बारकर महोदय की पुस्तक दि पोलिटिकल थाट आफ प्लेटो एण्ड एरिस्टाटल पठनीय है।

है। यह जैसा हम पहले देख चुके हैं प्लेटो और अरस्तू ने भी स्वेच्छाचार के विरुद्ध कुछ ऐसा ही करना चाहा था। प्रमाण-स्वरूप उनका यह तर्क था कि जो प्राकृतिक है वह अनिवार्यतः अपरिवर्तनशील नहीं है। मानव प्रकृति के विशेष रूप विशेष प्रकार की व्यवस्था को जन्म देते हैं। यद्यपि उनमें साम्यता नहीं होती तथापि वे बिना नियम अथवा कारण के नहीं होते। वास्तव में उन्होंने यहाँ तक व्यक्त किया कि मानव की बौद्धिक प्रकृति अन्यों की अपेक्षा व्यवस्था का एक अधिक निश्चित सिद्धान्त प्रस्तुत करती है जो अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं हो सकता। और अस्तित्व के उच्चतर रूपों की अपेक्षा निम्नतर श्रेणी के ही रूपों को अनिश्चित अनियमित और अव्यवस्थित कह सकते हैं क्योंकि उनमें कुछ आकस्मिक परिवर्तन के तत्त्व रहते हैं।[1] स्टोइक लोग 'प्रकृति' के नियम की अभिव्यक्ति का प्रयोग किया करते थे। ये नियम प्राथमिक रूप से तर्क द्वारा निर्मित तथा व्यवस्था के सिद्धान्तों से सम्बन्धित हैं जो मानव-समाज के गठन में लगे हैं। यह प्रदर्शित करना भौतिक विज्ञान का कार्य है कि इस भौतिक विश्व और मानव जीवन में प्रकृति के सिद्धान्त कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार बहुत कुछ ग्रंथों में बात एकदम बदल गई है। अथवा पुराना प्रतिपक्ष कुछ ग्रंथों में जमकर बैठ जाना चाहता था और समय-समय पर यह नये रूप में जोर पकड़ता जाता था विशेषतः सामाजिक संविदा के सम्बन्ध में। उदाहरणस्वरूप हॉब्स ने प्रकृति की दशा और सामाजिक व्यवस्था में अन्तर दिखाया है जो संविदा के रूप में रखा गया है। रूसो के सामाजिक संविदा के इस प्रारम्भिक कथन ने कि "मानव स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ है फिर भी वह सर्वत्र बन्धनों में बँधा हुआ है" प्रतिपक्ष को एक व्यापक शक्ति दी है यद्यपि स्वयं रूसो ने इसे दूर करने का काफी प्रयास किया था। और कम-से-कम उसे अधिक उदार बनाने के लिए पूर्ण चेष्टा की कि मानव-समाज संविदा पर ही आधारित है और मानव-संविदा का आधार मानव ही है। इसकी सार्थकता का पता अन्त में सामने आएगा। इस बीच यह विषम समस्या हमें अध्ययन का एक ऐसा विशाल क्षेत्र उपस्थित करती है जिसमें हम यह आधार मिलता है कि मानव-समाज की एकता और व्यवस्था स्वभाव विशेषतः मानव-स्वभाव पर आधारित है। इस प्रकार आगे के अध्यायों में हम मानव-प्रकृति के सर्वोत्तम आधारभूत पहलुओं का विवेचन करते हुए आगे बढ़ेंगे।

---

[1] इस विषय की विशेष जानकारी के लिए इस पुस्तक के मूल लेखक श्री जे० एस० मैकेन्जी महोदय की पुस्तक "एलीमेण्ट्स आफ कन्स्ट्रक्टिव फिलासफी" खण्ड १ अध्याय ९ उल्लेखनीय है।

प्रथम खण्ड

समाज-व्यवस्था का आधार

प्रथम अध्याय

मानव प्रकृति

हमारे इस विषय के ब्रह्माण्ड के रूप में वर्णन से सम्बन्धित जटिल समस्याओं का विश्लेषण यहाँ नहीं किया जा सकता। यहाँ पर इतना ही ध्यान में रखना पर्याप्त होगा कि आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषण और उनके निष्कर्षों पर दार्शनिक चिन्तन ने हमें इस विषय के बारे में यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया है कि यद्यपि यह विश्व बड़ा रहस्यमय है फिर भी इसमें एक व्यवस्थित पद्धति है और न्यूनाधिक निरन्तर विकास की प्रक्रिया उसमें प्रारम्भ से अब तक चलती रहती है।

१ ब्रह्माण्ड में मानव का स्थान

जहाँ तक हमारी अपनी पृथ्वी का सम्बन्ध है विकास में मानव ही उच्चतम स्तर का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु ऐसा सब जगह समान रूप से नहीं हुआ है और उसके उच्चतम स्तर में अब भी सुधार के लिए गुंजाइश है यद्यपि मानव सब प्राणियों में श्रेष्ठतम है। फिर वह जिस विश्व में रहता है उसमें वह एक छोटा-सा नगण्य कण बना है फिर भी वह इस विश्व की पार्थिव वस्तुओं में से एक है। वह मिट्टी का सर्वश्रेष्ठ रूप है परन्तु वह है मिट्टी का टुकड़ा ही। उसे कभी-कभी अपने भाग पर सन्देह होने लगता है कि वह देवता है या पशु। अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वह दोनों का एक मिश्रण है। उसकी कल्पनाएँ वास्तव में विचरण कर सकती हैं, परन्तु उसका भौतिक अस्तित्व संकुचित है सीमा-बद्ध है। मानव अपनी प्रकृति से ही समष्टि रूप वाला प्राणी है यह बात उसके सामाजिक और अन्य सभी पहलुओं में भी लागू होती है। यह दृष्टिकोण उसके भिन्न प्रादुर्भाव और उत्थान महत्वाकांक्षाओं के साथ भी न्याय नहीं कर सका है। अतः यह अच्छा होगा कि हम प्रारम्भ से ही उसकी जटिल प्रकृति के इन दोनों पहलुओं का पूर्णतः जानने की कोशिश करें। यह स्पष्ट करने के लिए हमें आगे कहना होगा कि मनुष्य की सबसे अच्छी परिभाषा क्या हो सकती है। जैसा उदाहरणार्थ मानव के बारे में वैज्ञानिक या दार्शनिक बात करते ...

परिभाषाओं से लेकर गम्भीर-से-गम्भीरतम 'एक बुद्धिजीवी प्राणी' तक की परिभाषाएँ दी गई हैं। परन्तु इनमें से कोई भी पूर्णतः मानव की परिभाषा सन्तोषजनक नहीं है। बैजहॉट ने कहा है 'मनुष्य पशु रूप में विचरण करने वाला प्राणी है।' परन्तु यह उसकी पशु जीवन से सम्बन्धित वरिष्ठता का कुछ निम्न-मूल्यांकन है। यदि हम उसे 'एक हँसने वाला प्राणी' कहें तो हंस और लकड़बग्घे (हँसने वाले प्राणी) तथा कुछ संन्यासियों और संतों की गम्भीर कहानियाँ हमारे सामने आएँगी। यदि फ्रैंकलिन और कार्लाइल के शब्दों में हम उसे 'औज़ारों का प्रयोग करने वाला प्राणी' कहें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि कुछ मनुष्य तो उनका प्रयोग एकदम जानते ही नहीं जैसे सभी वयस्क ऐसे नहीं होते। निम्न जातियों के कुछ प्राणी हाथी भी कभी-कभी उनका प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं।[1] यदि हम भाषा के प्रयोग की ओर संकेत करें तो यह कहना पड़ेगा कि कुछ इस प्रकार के अनेक अन्य प्राणी भी हैं जो अभिव्यञ्जनात्मक स्वर-संकेतों से एक-दूसरे के साथ वार्तालाप करते हैं जबकि मानव की निम्न श्रेणी की कुछ जातियाँ भी इस निम्न स्तर से स्पष्टतः बहुत अधिक ऊपर नहीं उठ सकी हैं। यह स्पष्ट है कि मानव का बुद्धिशील होना उसे पशुओं से पृथक करने वाली सबसे बड़ी विशेषता है और इसी से उसकी अन्य सभी विशेषताओं की व्याख्या की जा सकती है। यह मानव की बुद्धि का ही चमत्कार है कि वह पशुओं की अस्पष्ट भाषाओं को एक मधुर भाषा में विकसित करने में समर्थ हो सका, छोटे छोटे बाहरी पदार्थों के हस्त व्यापार को एक विकसित औज़ार और मशीनों के रूप में बदल सका, विशेष ध्वनि, रंग और रूपों को विविध प्रकार की अनुकरणात्मक और अभिव्यञ्जनात्मक कला के रूप में, क्रोध को आक्रमण में, भय को सुरक्षा में, घृणा को व्यंग्य और हास्य में, सहानुभूति को दान में, आश्चर्य को भय में, आत्म समर्पण

---

१ प्रो० लॉयड मॉर्गन की पुस्तक '[illegible] एण्ड इन्स्टिंक्ट्स', पृ० १७० को देखिए। इसमें मानव को 'औज़ार-प्रयोग करने वाले प्राणी' के रूप में वर्णित किया गया है। यहाँ औज़ार शब्द को बहुत विस्तृत अर्थ में समझना चाहिए जिसमें मशीनें, पुस्तकें, संस्थाएँ और निम्न श्रेणी के प्राणियों आदि का उपयोग भी आ जाता है। यह कहना भी गलत नहीं होगा कि वह पूँजी प्रयोग करने वाला प्राणी है। दूसरे प्राणी भी परिश्रम करते हैं तथा विभिन्न प्रकार की संपत्तियाँ और भण्डार जुटाते हैं। परन्तु उन सबमें केवल मनुष्य ही पूँजीवादी है और मानव जीवन का प्रत्येक विकास पूँजी पर ही आधारित होता है। इस शब्द के विस्तृत अर्थ के अनुसार प्रत्येक मनुष्य पूँजीवादी होता है। आगे अध्याय ७ विभाग ४ देखिए।

को सम्मान में, प्रभुता को कानून और सरकार में और पारस्परिक सहयोग को सहकारी राष्ट्र-मंडल के रूप में परिवर्तित कर सका।

परन्तु इन सब बातों में मनुष्य अकस्मात् ही पारंगत नहीं हो गया और न ही वह प्रारम्भ से ही इन सब बातों का ज्ञान लेकर कहीं से आया था अथवा उन्हें एकदम समझ गया था। मानव को उसकी कुछ विशेष योग्यताओं के बिना बुद्धि-जीवी प्राणी नहीं कहा जा सकता परन्तु उसे एक विचार-शक्ति सम्पन्न प्राणी ही कहा जा सकता है। मानव अपने जीवन की क्रियाओं और परिस्थितियों को क्रमशः विकसित करता हुआ ही आज की स्थिति तक पहुँचा है।

परन्तु इतना कह देना ही पर्याप्त नहीं है। यह स्पष्ट है कि विचार-शक्ति मात्र से ही मानव-जीवन जैसा वह है आज नहीं हुआ होता यदि वह एक विषम शारीरिक ढांचे से विभूषित न होता। विकसित मांस पेशियों और हड्डियों के ऊपरी ढांचे के बिना वह अपने शरीर को सक्षम और अपने माथ को सीधा करके धड़ को अपने वश में रखने में समर्थ नहीं हो सकता था। सुविकसित आँखों और अन्य इन्द्रियों के बिना वह पदार्थों को अपने उद्देश्य में सहायक बनाने और उनको यथार्थता के साथ निरीक्षण करने में समर्थ नहीं हो सकता था। गतिशील हाथों[1] के बिना वह विविध औजारों और अन्य मशीनों को जिनसे आज हमारा परिचय है मुश्किल से ही निर्माण और प्रयोग कर सका होता। पहले के औजार और मशीनें अपनी प्रारम्भिक अवस्था में उसके शारीरिक अवयवों के विभाग से कुछ ही अधिक समझी जा सकती थीं[2]। एक जटिल स्वर-यन्त्र के बिना वह मानव-मात्र में प्रचलित इन भाषाओं का विस्तार और प्रयोग नहीं कर सका होता। सूक्ष्म श्रवण-शक्तियों के बिना वह उन्हें समझ भी नहीं सकता। अंगुलियों के बिना वह उन्हें स्थायी रिकार्ड के रूप में निर्माण भी नहीं कर सका होता। सूक्ष्म स्नायु-संस्थान के बिना वह कला के उच्चतम रूपों की उत्पत्ति और मूल्यांकन करने में मुश्किल से ही योग्य हुआ होता। यहाँ तक कि विचार के प्रयोग के लिए मस्तिष्क का होना भी आवश्यक प्रतीत होता है। मनुष्य केवल बुद्धि

---

१ एनेक्सागोरस की प्रवृत्ति यह प्रतीत होती है कि वह मनुष्यमात्र की श्रेष्ठता पूर्णतः उसके हाथों के कारण समझता था पर इसके अनुसार तो बन्दरों का स्थान भी ऊंचा होना चाहिए। बर्नेट महोदय की पुस्तक अर्ली ग्रीक फिलासफी पृ० २६० भी देखिए। हाथ और मस्तिष्क की निर्भरता को एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त मानना चाहिए।

२ अन्य लोगों में से सैम्युअल बटलर महोदय ने इस पर अपनी पुस्तक Erewhon अ० २५ में प्रकाश डाला है।

परिभाषाओं से लेकर 'गम्भीर-से-गम्भीरतम एक बुद्धिजीवी प्राणी' तक की
परिभाषाएँ दी गई हैं। परन्तु इनमें से कोई भी पूर्णतः
२ मानव की परिभाषा सन्तोषजनक नहीं है। बेगहॉर्न ने कहा है 'मनुष्य
पशु रूप में विचरण करने वाला प्राणी है।' परन्तु
यह उसकी 'पशु-जीवन' से सम्बन्धित घनिष्ठता का कुछ निम्न-मूल्यांकन है। यदि हम उसे 'एक हँसने वाला प्राणी' कहें तो हम और लकड़बग्घे (हँसने वाले प्राणी) तथा कुछ जंगलियों और सन्तों की गम्भीर कहानियाँ हमारे सामने आएँगी। यदि फ्रैंकलिन और कार्लाइल के शब्दों में हम उसे 'औज़ारों का प्रयोग करने वाला प्राणी' कहें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि कुछ मनुष्य तो उनका प्रयोग एकदम जानते ही नहीं जैसे सभी वयस्क ऐसे नहीं होते। निम्न श्रेणियों के कुछ प्राणी हाथी भी कभी-कभी उनका प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं।[1] यदि हम भाषा के प्रयोग की ओर संकेत करें तो यह कहना पड़ेगा कि कुछ इस प्रकार के अनेक अन्य प्राणी भी हैं जो अभिव्यञ्जनात्मक स्वर-संकेतों से एक-दूसरे के साथ वार्तालाप करते हैं जबकि मानव की निम्न श्रेणी की कुछ जातियाँ भी इस निम्न स्तर से स्पष्टतः बहुत अधिक ऊपर नहीं उठ सकी हैं। यह स्पष्ट है कि मानव का बुद्धिशील होना उसे पशुओं से पृथक करने वाली सबसे बड़ी विशेषता है और इसी से उसकी अन्य सभी विशेषताओं की व्याख्या की जा सकती है। यह मानव की बुद्धि का ही चमत्कार है कि वह पशुओं की अस्पष्ट भाषाओं को एक मधुर भाषा में विकसित करने में समर्थ हो सका, छोटे छोटे बाहरी पदार्थों के हस्त व्यापार को एक विकसित औज़ार और मशीनों के रूप में बदल सका, विशेष ध्वनि, रंग और रूपों को विविध प्रकार की अनुकरणात्मक और अभिव्यञ्जनात्मक कला के रूप में, क्रोध को आक्रमण में, भय को सुरक्षा में, घृणा को व्यंग्य और हास्य में, सहानुभूति को दान में, आश्चर्य को भय में, आत्म समर्पण

---

१ प्रो० लॉयड मॉर्गन की पुस्तक 'एनीमल एण्ड ह्यूमन इंटेलिजेन्स' पृ० १०० को देखिए। इसमें मानव को 'औज़ार-प्रयोग करने वाला प्राणी' के रूप में वर्णित किया गया है जहाँ औज़ार शब्द को बहुत विस्तृत अर्थ में समझना चाहिए, इसमें मशीनें, पुस्तकें, संस्थाएँ और विनिमय के माध्यम आदि का उपयोग भी आ जाता है। यह कहना भी गलत नहीं होगा कि वह पूँजी प्रयोग करने वाला प्राणी है। दूसरे प्राणी भी परिश्रम करते हैं तथा विभिन्न प्रकार की संपत्तियाँ और भण्डार जुटाते हैं। परन्तु इन सबमें केवल मनुष्य ही पूँजीवादी है और मानव जीवन का प्रत्येक विकास पूँजी पर ही आधारित होता है। इस शब्द के विस्तृत अर्थ के अनुसार प्रत्येक मनुष्य पूँजीवादी होता है। आगे अध्याय ७ विभाग ४ देखिए।

को सम्मान में, प्रभुता को कानून और सरकार में और पारस्परिक सहयोग को सहकारी राष्ट्र-मंडल के रूप में परिवर्तित कर सका।

परन्तु इन सब बातों में मनुष्य अकस्मात् ही पारंगत नहीं हो गया और न ही वह प्रारम्भ से ही इन सब बातों का ज्ञान लेकर कहीं से आया था अथवा उन्हें एकदम समझ गया था। मानव को उसकी कुछ विशेष योग्यताओं के बिना 'बुद्धि-जीवी प्राणी' नहीं कहा जा सकता परन्तु उसे एक विचार-शक्ति रखने वाला प्राणी ही कहा जा सकता है। मानव अपना जीवन की क्रियाओं और परिस्थितियों को क्रमशः विकसित करता हुआ ही आज की स्थिति तक पहुँचा है।

परन्तु इतना कह देना ही पर्याप्त नहीं है। यह स्पष्ट है कि विचार-शक्ति मात्र से ही मानव-जीवन जैसा वह है आज नहीं हुआ होता यदि वह एक विशेष शारीरिक ढाँचे से विभूषित न होता। विकसित मांस पेशियों और हड्डियों के ऊपरी ढाँचे के बिना वह अपने शरीर को उठाने और अगले भाग का सीधा करके उस को अपने वश में रखने में समर्थ नहीं हो सकता था। सुविकसित आँखों और अन्य इन्द्रियों के बिना वह पदार्थों को अपने वश में सहायक बनाने और उनको यथार्थता के साथ निरीक्षण करने में समर्थ नहीं हो सकता था। गतिशील हाथों[1] के बिना वह विविध औजारों और अन्य मशीनों को जिनसे आज हमारा परिचय है मुश्किल से ही निर्माण और प्रयोग कर सका होता। पहले ये औजार और मशीनें अपनी प्रारम्भिक अवस्था में उसके शारीरिक अवयवों के विकास से कुछ ही अधिक समझी जा सकती थीं[2]। एक जटिल स्वर-यन्त्र के बिना वह मानव-मात्र में प्रचलित इन भाषाओं का विस्तार और प्रयोग नहीं कर सका होता। सूक्ष्म श्रवण-शक्तियों के बिना वह उन्हें समझ भी नहीं सकता। अंगुलियों के बिना वह उन्हें स्थायी रिकार्ड के रूप में निर्माण भी नहीं कर सका होता। सूक्ष्म स्नायु-संस्थान के बिना वह कला के उच्चतम रूपों की उत्पत्ति और मूल्यांकन करने में मुश्किल से ही योग्य हुआ होता। यहाँ तक कि विचार के प्रयोग के लिए मस्तिष्क का होना भी आवश्यक प्रतीत होता है। मनुष्य केवल बुद्धि

---

१ अनेक्सागोरस की प्रकृति पर प्रतीत होती है कि वह मनुष्यमात्र की श्रेष्ठता पूर्णतः उसके हाथों के कारण समझता था पर इसके अनुसार तो बन्दरों का स्थान भी ऊँचा होना चाहिए। वर्नी महोदय की पुस्तक 'मनोविज्ञान रिनाइन्ड' पृ. २६७ भी देखिए। हाथों और पैरों की निम्नता को एक महत्वपूर्ण विषय मानना चाहिए।

२. अन्य लेखों में से सिनुरहम्मद महोदय ने इस पर अपनी पुस्तक 'Evolution' पृ. १२ में प्रकाश डाला है।

जीवी प्राणी ही नहीं है परन्तु वह एक विशेष प्रकार का प्राणी है जो एक विचित्र एवं जटिल शारीरिक ढाँचा रखता है। उसी पर उसके विचार भावनाएँ और कार्य पूरी तरह से सुनिश्चित और आधारित होते हैं। यदि मनुष्य एक उच्चतर-श्रेणी के बन्दर की अपेक्षा एक कीड़े के रूप में होता जैसे सिक्रम महोदय का हिम्स तो उसका बौद्धिक जीवन वर्तमान अवस्था से बहुत ही भिन्न होता चाहे भले ही उस रूप में कितना ही विकास क्यों न कर पाता। यदि चीटियों और मक्खियों में विवेक विकसित होता तो उससे हमारे इस सुपरिचित मानव-जीवन के विवेक से भिन्न परिणाम निकलते। मानव के शारीरिक-गठन की पूर्ण विशेषताओं को जाने बिना हम मनुष्य के जीवन को पूर्ण-रूप से नहीं जान सकते। यहाँ इन सब विशेषताओं के विवेचन की हमें आवश्यकता नहीं क्योंकि वह हमें अपने विषय से बाहर ले जाए। उन्हें हम शरीर रचना विज्ञान शरीर विज्ञान मनोविज्ञान प्राकृतिक-इतिहास और मानव-विज्ञान आदि विषय के लेखकों पर छोड़ देते हैं। हम पहले से ही इस विषय की मुख्य-मुख्य बातों से पर्याप्त रूप से परिचित हैं और यहाँ पर हमें उन पहलुओं की कुछ आधारभूत बातों से जानकारी करके सन्तोष करना चाहिए।

यह मान लेने पर कि मानव एक विशेष प्रकार का प्राणी है उसमें अनेकों विशेष अभिरुचियाँ और प्रवृत्तियाँ हैं यह जानना आवश्यक हो जाता है कि जन्तुओं की सामान्य विशेषताएँ क्या हैं। हम इसे संक्षेप में ही रखेंगे। यह स्पष्ट है कि कुछ बातों में पशुओं का जीवन वनस्पतियों से मिलता-जुलता है परन्तु कुछ बातों में वह स्पष्ट तथा भिन्न भी है। कुछ

१ मानव-जीवन के तीन मुख्य पहलू

दृष्टिकोणों से उसे निम्न श्रेणी का समझा जा सकता है। सामान्यतः जन्तुओं में वह शान्ति एकरसता और सौन्दर्य नहीं है जो वनस्पति जीवन के कुछ रूपों में प्राप्त है। परन्तु जो माप-दण्ड से निम्न श्रेणी के ठहराए जाते हैं उनमें सामान्यतः श्रेष्ठता की कुछ बातें होती हैं। यहाँ तक कि कुछ बातों में निर्जीव पदार्थ भी वनस्पतियों से कुछ श्रेष्ठ होते हैं। फूलों में वह शान्ति और गंभीरता कहाँ है जो शाश्वत पर्वतों में है? वाल्ट व्हिटमैन ने निम्न श्रेणी के प्राणियों और मानव जाति के अशान्त अस्तित्व में भेद प्रदर्शित किया है वे अपनी स्थिति के सम्बन्ध में कठोर श्रम और विलाप नहीं कर सकते वे अन्धकार में जागते पड़े रहकर अपने पापों के लिए रुदन नहीं कर सकते। उनमें से कोई भी आदरणीय अथवा दीन-दुःखी नहीं होता सामान्यतः जहाँ सक्रियता अधिक होती है वहाँ शान्ति कम होती है। यह मानव-जीवन में ही देखा जा सकता है कि 'श्रम एक स्वर्ग है' इसमें भी एक भावपूर्ण तथ्य छिपा है।

सामान्यत एक किसान एक दार्शनिक या एक राजनीतिज्ञ की अपेक्षा कम अशान्त स्थिति में रहता है।

परन्तु साधारणत जैसे जन्तुओं का जीवन स्पष्टत वनस्पतियों की अपेक्षा श्रेष्ठ और अधिक जटिल होता है, ठीक इसी तरह से मानव-जीवन भी अन्य प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठतम और अधिक जटिल होता है। इस अन्तर को सदा सूक्ष्म रूप से प्रदर्शित नहीं किया जा सकता जिस प्रकार वह प्राकृतिक पदार्थों में प्रदर्शित किया जा सकता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि सामान्यत जन्तु पेड़-पौधों की तरह उगने और पौधों की तरह अपनी जाति को फिर पैदा करने के अतिरिक्त एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की योग्यता और अपने आस-पास के पदार्थों के प्रति कुछ इन्द्रिय ज्ञान रखते हैं और क्रियाओं के प्रति कुछ मनोवृत्त्यात्मक प्रवृत्तियाँ दिखाते हैं। उच्चतर प्राणियों में जिनमें मानव सम्मिलित है, परिस्थितियों के प्रति समायोजन के लिए अधिक शक्तियाँ और जटिल संगठन होते हैं। अत यद्यपि प्राणियों के जीवन के कई प्रकार हो सकते हैं और पौधों के अनेकों भेद हो सकते हैं तो हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि हर एक जन्तु थोड़ी या अधिक मात्रा में कुछ सूक्ष्म अनुभूति और क्रिया करने की अचेतन-शक्ति और विशेष योग्यता अवश्य रखता ही है। यदि यह बात सही है तो फिर हम यह भी कह सकते हैं कि एक मनुष्य भी वास्तव में एक पौधा ही है जिसमें जटिल जन्तुओं वाली विशेषताएँ भी हैं तथा वह विचार-शक्ति और उसके साथ सम्बन्धित अन्य शक्तियाँ भी रखता है। निस्सन्देह अन्य शक्तियों में से हम मानव की शुद्ध मानसिक शक्तियों और प्रवृत्तियों में ह्रास को भी ले सकते हैं जिसे केवल वृद्धि मात्र कहना भ्रमात्मक होगा।

इस प्रकार हम मानव-जीवन में प्राप्त तीन प्रमुख पहलुओं के विषय में विचार कर सकते हैं। पहला पहलू वनस्पति-सम्बन्धी, दूसरा पशु-सम्बन्धी और तीसरा पहलू जो अधिक महत्त्वपूर्ण है वह स्वयं उससे सम्बन्धित है। मानव-जीवन का गौरव इसी जटिलता पर आधारित है। परन्तु यह हमारी कठिनाइयों का और कभी-कभी हमारे पतन का स्रोत भी होता है। कुछ अर्थों में हमारी जड़ें पौधों की तरह हवाओं और मौसमों की कृपा पर भी आधारित होती हैं। पशुओं की तरह हम अपनी क्षुधा मनोवृत्तियों और आवेगों द्वारा पथभ्रष्ट भी हो सकते हैं। विवेक हमें आत्म-संयम का बल देता है पर वह क्रमशः विकसित होने वाली चीज़ है। वह हमारे स्वभाव में उपस्थित निम्नतम पर कठिनाई से ही अधिकार कर पाता है। हमारी प्रकृति की जटिलता हमें समझने की शक्ति और सहानुभूति की सम्भावना प्रदान करती है। पर आशा की जा सकती है कि इसका कुछ बुद्धि-स्तर में अभाव हो सकता है पर यह जटिलता हमारी आधारित पुष्ट और सामग्री पर दृष्टि डाल देने की सम्भावना

जीवी प्राणी ही नहीं है परन्तु वह एक विशेष प्रकार का प्राणी है जो एक विचित्र एवं जटिल शारीरिक ढाँचा रखता है। उसी पर उसके विचार भावनाएँ और कार्य पूरी तरह से सुनिश्चित और प्रभावित होते हैं। यदि मनुष्य एक उच्चतर-श्रेणी के बन्दर की अपेक्षा एक घोड़े के रूप में होता जैसे स्विफ्ट महोदय का ह्विन्ह तो उसका बौद्धिक जीवन वर्तमान अवस्था से बहुत ही भिन्न होता वह भले ही उस रूप में कितना ही विकास क्यों न कर पाता। यदि चींटियों और मक्खियों में विवेक विकसित होता तो उससे हमारे इस सुपरिचित मानव-जीवन के विवेक से भिन्न परिणाम निकलते। मानव के शारीरिक-गठन की पूर्ण विशेषताओं को जाने बिना हम मनुष्य के जीवन को पूर्ण-रूप से नहीं जान सकते। यहाँ इन सब विशेषताओं के विवेचन की हमें आवश्यकता नहीं क्योंकि वह हमें कहीं विषय से बाहर न ले जाए। उन्हें हम शरीर रचना विज्ञान शरीर विज्ञान मनोविज्ञान प्राकृतिक-इतिहास और मानव-विज्ञान आदि विषय के लेखकों पर छोड़ देते हैं। हम पहले से ही इस विषय की मुख्य-मुख्य बातों से पर्याप्त रूप से परिचित हैं और यहाँ अब हमें उन पहलुओं की कुछ आधारभूत बातों से जानकारी करके सन्तोष करना चाहिए।

यह मान लेने पर कि मानव एक विशेष प्रकार का प्राणी है उसमें अनेकों विशेष अभिरुचियाँ और प्रवृत्तियाँ हैं यह जानना आवश्यक हो जाता है

कि पशुओं की सामान्य विशेषताएँ क्या हैं। हम इसे

है मानव जीवन के संदर्भ में ही रखेंगे। यह स्पष्ट है कि कुछ बातों में

तीन मुख्य पहलू पशुओं का जीवन वनस्पतियों से मिलता-जुलता है

परन्तु कुछ बातों में वह स्पष्ट तथा भिन्न भी है। कुछ दृष्टिकोणों से उसे भिन्न श्रेणी का समझा जा सकता है। सामान्यतः जन्तुओं में वह शान्ति एकरसता और सौन्दर्य नहीं है जो वनस्पति-जीवन के कुछ रूपों में प्राप्त है। परन्तु जो भाग रूप से निम्न श्रेणी के ठहराए जाते हैं उनमें सामान्यतः श्रेष्ठता की कुछ बातें होती हैं। यहाँ तक कि कुछ बातों में निर्जीव पदार्थ भी वनस्पतियों से कुछ श्रेष्ठ होते हैं। वृक्षों में वह शान्ति और गंभीरता कहाँ है जो शाश्वत पर्वतों में है? वास्तव में टेनीसन ने निम्न श्रेणी के प्राणियों और मानव-जाति के अशान्त अस्तित्व में भेद प्रदर्शित किया है वे अपनी स्थिति के सम्बन्ध में कठोर श्रम और विलाप नहीं कर सकते वे अन्धकार में जागते पड़े रहकर अपने पापों के लिए रुदन नहीं कर सकते। उनमें से कोई भी आदरणीय अथवा दीन-दुखी नहीं होता सामान्यतः जहाँ सक्रियता अधिक होती है वहाँ शान्ति कम होती है। यह मानव-जीवन में ही देखा जा सकता है कि 'अज्ञान एक वरदान है' इसमें भी एक महत्त्वपूर्ण सत्य छिपा है।

सामान्यतः एक किसान एक दार्शनिक या एक राजनीतिज्ञ की अपेक्षा कम अशान्त स्थिति में रहता है।

परन्तु, मानोंकि जैसे जन्तुओं का जीवन स्पष्टतः वनस्पतियों की अपेक्षा श्रेष्ठ और अधिक जटिल होता है, ठीक इसी तरह से मानव-जीवन भी अन्य प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठतम और अधिक जटिल होता है। इस अन्तर का सही सूक्ष्म रूप से प्रदर्शित नहीं किया जा सकता जिस प्रकार वह प्राकृतिक पदार्थों में प्रदर्शित किया जा सकता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि सामान्यतः जन्तु पेड़-पौधों की तरह वमन और पौधों की तरह अपनी जाति को फिर पैदा करने के अतिरिक्त एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की योग्यता और अपने आस-पास के पदार्थों के प्रति कुछ इन्द्रिय ज्ञान रखते हैं और क्रियाओं के प्रति कुछ मनोवृत्यात्मक प्रवृत्तियाँ दिखाते हैं। उच्चतर प्राणियों में जिनके मानव प्रतिनिधि हैं परिस्थितियों के प्रति समायोजन के लिए अधिक शक्तियाँ और जटिल मस्तिष्क हुआ है। यद्यपि प्राणियों के जीवन के कई प्रकार हो सकते हैं और पौधों के अन्तरों भेद हो सकते हैं तो हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि हर एक जन्तु थोड़ी या अधिक मात्रा में कुछ सूक्ष्म अनुभूति और क्रिया करने की सचेतन-शक्ति और विशेष योग्यता वाला एक पौधा ही है। यदि यह बात सही है तो फिर हम यह भी कह सकते हैं कि हर मनुष्य भी वास्तव में एक पौधा ही है जिसमें जटिल जन्तुओं वाली विशेषताएँ भी हैं तथा वह विचार शक्ति और उसके साथ सम्बन्धित अन्य शक्तियाँ भी रखते हैं। निस्सन्देह अन्य शक्तियों में से हम मानव की शुद्ध मानसिक शक्तियाँ और प्रवृत्तियों के ह्रास को भी न लगने दें जिसे केवल बुद्धि मात्र कहना भ्रमात्मक होगा।

इस प्रकार हम मानव-जीवन में प्राप्त तीन प्रमुख पहलुओं के विषय में विचार कर सकते हैं। पहला पहलू वनस्पति-सम्बन्धी, दूसरा पशु-सम्बन्धी और तीसरा पहलू जो अधिक महत्त्वपूर्ण है वह स्वयं उनसे सम्बन्धित है। मानव-जीवन का गौरव इसी जटिलता पर आधारित है। परन्तु यह हमारी कठिनाइयों का और कभी-कभी हमारे पतन का स्रोत भी होता है। कुछ अंशों में हमारी जड़ें पौधों की तरह स्थानों और मौसमों की कृपा पर भी आधारित होती हैं। जन्तुओं की तरह हम अपनी इच्छा मनोवृत्तियों और संवेगों द्वारा पथभ्रष्ट भी हो सकते हैं। विवेक हमें आत्म-संयम का बल देता है पर यह क्रमशः विकसित होने वाली चीज है। यह हमारे अन्दर में उपस्थित निम्नतत्त्व पर कठिनाई से ही अधिकार कर पाता है। हमारी प्रकृति की जटिलता हमें समस्त की शक्ति और सहानुभूति की सम्भावना प्रदान करती है। यह माना जा सकता है कि इसका कुछ बुद्धि-भाग में अभाव हो सकता है पर यह यदि सदा हमारी सामाजिक रूप और मानसिक का उचित ढंग सब की सम्भावना

भी रखती है। वह उन्हें समाकृतिक उपयोग के लिए विकृत भी कर सकती है।[1] विवेक स्वर्ग का प्रकाश कहा जा सकता है परन्तु जब यह अर्द्धविकसित होता है तो इसे सरलता से पथभ्रष्ट भी कर सकता है। मेफिस्टोफिलिस (Mephistopheles) के अनुसार इसका प्रयोग मानव को एक पशु से भी अधिक पाशविक होने में किया जा सकता है। मानव प्रकृति की महान् समस्या उसके अपने जटिल संगठन के लिए उचित संतुलन प्राप्त करने की है।

अब हमें यह देखना है कि इस जटिलता द्वारा मानव-जीवन का सामाजिक पहलू अपने सामान्य रूप में कैसे प्रभावित होता है।

४ मानव की सामाजिक प्रकृति

मनुष्य स्वभाव से एक सामाजिक प्राणी है। यह कहाँ तक सही है इस पर विचार करते हुए हम उसके निर्माण के प्रमुख घटकों का एक विवरण प्रस्तुत करना होगा। यह स्पष्ट है कि उसकी प्रकृति का समष्टि-पक्ष सामाजिक संगठन के लिए आधार उपस्थित नहीं करता। पौधे निश्चित अर्थों में पूनवार नहीं रहता उसके और उनका पृथक् पृथक् व्यक्तित्व भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि चट्टान अथवा पर्वत भी मुश्किल से ही ऐसे हैं। उनमें भी एक लम्बी शृंखला होती एक समूह होता है। वे आपस में धरती के विकास की सामान्य प्रक्रिया के साथ अति रोचक और जटिल रूप के साथ सम्बन्धित हैं। वे प्रायः पौधों जन्तुओं और मानव के जीवन पर भी सूक्ष्म प्रभाव डालते हैं। सभी पौधे कम-से-कम दूसरे पौधों को उत्पन्न करते हैं। उनमें समूह में बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। कई पौधों की उर्वरता उनके एक से अधिक रूपों को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकती है। प्राणियों के जीवन में जो इस तरह की समाज जाति है उन्हें उनके प्रारम्भिक रूप से समष्टि-पक्ष में समझा जाना चाहिए और वे अधिकतर प्राणियों में थोड़ा बहुत आश्चर्य उत्पन्न करती है। ज्यादातर प्राणियों की पीढ़ियों में यौन-सम्बन्धी भिन्नता और यौन समुदाय मिलते हैं। उनके बच्चे कम-से-कम कुछ वर्षों में असहाय होते हैं और एक निश्चित काल तक माँ-बाप में से एक या दोनों की सहायता की आवश्यकता अनुभव करते हैं। पाले जाने वाले खतरे उन्हें एक समूह बना कर रक्षा करने की आवश्यकता अनुभव करने के लिए तैयार कर देते हैं। उन्हें कभी-कभी वर्ष के किसी भाग में दूसरे समय के उपयोग के लिए भोजन सामग्री भी एकत्रित करनी पड़ती है। कभी-कभी यह काम सामूहिक प्रयत्नों द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। अतः अधिकतर उच्च श्रेणी की विकसित

---

१ इस पर ग्रीन महोदय की 'प्रोलिगोमेना टू एथिक्स' पृष्ठ १९९ में अच्छी तरह से बल दिया गया है।

जन्तु जातियाँ स्वाभाविक रूप से यूथ-चर होती हैं। यह सही है कि वे अपनी प्रकृति के वनस्पति-पक्ष पर स्वाभावतः ही आधारित होती हैं। यद्यपि यह सब कुछ उनकी समझने की शक्तियों, क्रियाओं मनोवृत्तियों तथा उनके मंशियों के विकास के द्वारा ही संभव हो सकता है।

अब यह स्पष्ट है कि मानवीय साहचर्य की भी इसी रूप से व्याख्या की जा सकती है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है[1] कि समाज का निर्माण जीवन के निमित्त किया गया। यद्यपि समाज सुन्दर-जीवन के लिए बनाया गया है और उसी के लिए उसको बराबर स्थिर रखा गया है। बच्चों की देख भाल भोजन और पानी का संग्रह पर्याप्त आश्रय और सुरक्षा का विधान मानव समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। यद्यपि इन कारणों को भी मानव समाज की उत्पत्ति के लिए आवश्यक न समझें तो भी यह कारण मानव-समाज के निर्माण के लिए पर्याप्त सिद्ध होगा कि मनुष्य बिना समाज के अकेला नहीं रह सकता। अतः सामाजिक साहचर्य का कोई रूप उसके वास्तविक जीवन के लिए आवश्यक होता है। इस प्रकार के साहचर्य का प्राकृतिक रूप इस तथ्य से वास्तव में प्रभावित नहीं होता। विभिन्न काल और स्थानों में उसके भिन्न भिन्न रूप पाये जाते हैं। फिर भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न प्रकार का भोजन पाया जाता है और कुछ स्थानों में उसका संग्रह दूसरे स्थानों की अपेक्षा अधिक महत्व रखता है। और जिन अनेक खतरों से सुरक्षा करनी पड़ती है वे भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए वे कभी-कभी गरमी कभी कभी ठंडक कभी अनावृष्टि कभी बाढ़ कभी जंगली जानवरों और कभी दूसरे आदमियों के द्वारा उत्पन्न होते रहते हैं। जन्तु भी कुछ थोड़ी हद तक अपने आपको विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार ढालने में समर्थ होते हैं। इसीलिए एक-ही जाति में व्यवहार के ढंग सर्वत्र प्राकृतिक होते हुए भी प्रायः सदा बिल्कुल एक जैसे नहीं होते।

परन्तु केवल वनस्पति-पक्ष के आधार पर की गई इस सामाजिक जीवन की व्याख्या के साथ-साथ जान्तव प्रकृति से सम्बन्धित कुछ ऐसे तथ्य भी हैं जो साहचर्य को स्वाभाविक बनाते हैं। कुछ जन्तु दूसरों का शिकार करते हैं यह उनकी प्रकृति का एक स्वाभाविक तत्त्व है। यही तत्त्व अपनी सुरक्षा और कभी-कभी दूसरों पर आक्रमण के लिए साहचर्य की ओर प्रवृत्त करता है। कुछ हद तक एक-ही जाति के जन्तुओं में अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष होता है। इस हम विनाशक-तत्त्व कह सकते हैं। परन्तु इससे सम्बन्धित मनोवृत्ति कुछ अंशों में साहचर्य की प्रेरक है। कुछ मिलकर खोजने और बाद खाने से

1 "पॉलिटिक्स" खण्ड १ अध्याय २।

आनन्द अनुभव करते हैं। चिड़ियाँ भी अपने छोटे-छोटे घोंसलों में हमेशा मिल जुलकर रजामन्दी से ही नहीं रहती परन्तु जैसे वे लड़ने के लिए इकट्ठी होती हैं वैसे ही वे परस्पर सहयोग भी करती हैं। यह पूर्णत: एक कल्पना ही नहीं है कि लड़ने की मनोवृत्ति कभी-कभी संगठन की शृंखला भी बन जाती है। सारांश में भिन्नता ही व्यक्तियों को पृथक-पृथक रखती है। संघर्ष और प्यार उन्हें मिलाते हैं। हैराक्लिटीज ने होमर की इस भावना की निन्दा की है कि कितना अच्छा होता यदि संघर्ष देवताओं और मानव-जाति से नष्ट हो जाता। उसका यह विचार है कि संघर्ष समाप्त हो जाने का अर्थ है जीवन समाप्त हो जाना। इस विवाद में न पड़कर कम-से-कम हम यह तो कह सकते हैं कि प्राणियों के साहचर्य निर्माण में संघर्ष भी एक पहलू है। वे कभी मिलकर रहते हैं पर इसलिए नहीं कि वे एक-दूसरे की सहायता करेंगे अपितु इसलिए कि कोई और दूसरा उन्हें किसी प्रकार की हानि न पहुँचा सके। इन सब उद्देश्यों के बारे में उन्हें किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता वे तो मूक भावनाओं के पीछे काम करते रहते हैं। यदि पृथक रहने वाले एक-दूसरे के साथ सहयोग नहीं करेंगे तो वे प्रतियोगिता भी नहीं करेंगे। अत: हम सहयोग और प्रतियोगिता प्रेम और संघर्ष इन दोनों को विपरीत होने पर भी एक साथ स्थान देंगे। क्योंकि यही बातें भावनाओं से प्रभावित होकर जन्तुओं में सामाजिक-संगठन उत्पन्न करती हैं।

स्पष्ट रूप से ये शक्तियाँ मानव जीवन में भी इसी प्रकार क्रियाशील रहती हैं। पारस्परिक सहयोग और प्रतिद्वन्द्विता कबीलों और जन समुदाय के निर्माण के प्रेरक हैं अथवा वे एकता के सूत्र को और अविच्छिन्न बनाने में सहयोग करते हैं किसी समय एक-दूसरे का समर्थन करते हैं तो कभी एक-दूसरे का विरोध। इस प्रकार दोनों बातों में वे एक दूसरे के कार्य में तीव्र रुचि लेते हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि मनुष्य प्रकृति से ही सामाजिक है। मनुष्य ही मानवता के विभिन्न गुण जीवों और जन्तुओं से सम्बन्धित न हो।

परन्तु एक मनुष्य के रूप में उसकी विशेषताएँ साहचर्यगामी प्रवृत्तियों को एक नया महत्त्व प्रदान करती हैं। विवेक-वर्धित गुण रूप-से एक एकत्व प्रदान करने वाली शक्ति है। भोजन-संग्रह की अपेक्षा ज्ञान के संग्रह के लिए अधिक सहयोग की आवश्यकता है। उसे केवल वर्ष प्रतिवर्ष नहीं बल्कि पीढ़ी दर-पीढ़ी इकट्ठा करना होता है। बच्चों को सोच-विचार के लिए प्रेरित करने और विचारों को मार्गदर्शन के लिए व्यवहार में लाने के लिए एक लम्बे और दृढ़ साहचर्य की जितनी आवश्यकता है उतनी आवश्यकता चलना और भागना सीखने में नहीं पड़ती है। दाँतों और पंजों की अपेक्षा औजार और मशीनों का प्रयोग अधिक आपसी सहयोग और अधिक जटिल प्रतिद्वन्द्विता की

भावना को जन्म देता है। भाषा का प्रयोग एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से और एक पीढ़ी को दूसरी पीढ़ी से जिस तरह से बाँधता है वैसा बन्धन अन्य जगत् में किसी रूप में नहीं पाया जा सकता। इसके साथ ही यह विभिन्न जातियों और लोगों के बीच कभी-कभी गहन पार्थक्य और दृढ़ विरोध भी उत्पन्न करता है परन्तु उससे भी संगठन के जटिल रूपों को अधिक दृढ़ता ही मिलती है। प्राणियों द्वारा वंशानुक्रम से उपार्जित विशेषताओं के बारे में कुछ भी सही सिद्धान्त क्यों न हो[1] परन्तु यह स्पष्ट है कि मानव की अपनी विशेष उपलब्धियाँ साहचर्य के द्वारा ही प्राप्त हुई हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मानव-समाज में मिलने वाली विषमताएँ इस बात के लिए पर्याप्त आधार नहीं बन सकतीं कि साहचर्य मनुष्य के लिए एक प्राकृतिक वस्तु नहीं है। परन्तु इससे यह अधिक स्पष्ट हो जाता है कि मानव-प्रकृति की महान् विषमताएँ विभिन्नता, भेद भाव और विरोध तथा साथ-ही-साथ एकत्व को भी उत्पन्न करने वाली होती हैं। ये दोनों प्रवृत्तियाँ कुछ अंशों में साहचर्य मात्र से पूर्ण होती हैं परन्तु स्वभावतः ही साहचर्य के ऐसे रूपों को जन्म देती हैं जो परस्पर विरोधी और परिवर्तनशील होती हैं।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए अब हम समुदाय के उन स्वरूपों पर और भी निश्चयात्मक ढंग से विचार करेंगे जिनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे मनुष्य के लिए प्राकृतिक हैं।

यहाँ पर सामाजिक अध्ययन के आधार के रूप में प्रयुक्त मानव प्रकृति के विश्लेषण के प्रमुख तरीकों पर ध्यान देना उचित होगा। इस सम्बन्ध में ध्यान आकर्षित करने वालों में प्रधान लेखक प्लेटो और अरस्तू हैं। हम उनके विचारों का यहाँ संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे और फिर बाद में विचार प्रवृत्तियों पर ध्यान देंगे।

१ कुछ ऐतिहासिक विवरण

---

1 यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका अभी कोई हल नहीं मिला है और इसकी व्याख्या का उत्तरदायित्व जीवशास्त्रियों पर छोड़ दिया जाना चाहिए। लामार्क का सिद्धान्त था कि ऐसी विशेषताएँ वंशानुक्रम से आती हैं और उसके विचार को मुख्य रूप से स्पेन्सर महोदय ने स्वीकार किया है। डार्विन महोदय ने इस पर सन्देह किया और वीजमन ने इस पर बड़ा ही प्रभावशाली प्रत्युत्तर दिया है। पर यह सिद्धान्त मानने वालों का यह कहना है कि एक व्यक्ति के जीवन में अर्जित की गई विशेषताओं को उसकी सन्तान में नहीं पहुँचाया जा सकता। अतः शिक्षा ही एक ऐसा प्रमुख साधन बन जाता है जिसके सहारे मानव जाति की प्रमुख मूल्यवान सम्पत्तियों को सुरक्षित रखा जा सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि की पुस्तक 'साइंस एण्ड ह्यूमन' के मुख्य प्रश्नों में से यह एक है और इसी पर उनकी अन्य पुस्तक में भी बल दिया गया

(क) प्लेटो के 'रिपब्लिक' में तीन प्रकार के विभाग प्रस्तुत किये गए हैं। कुछ अंशों में उन्हीं को हम यहाँ रख रहे हैं। ये तीन विभाग प्लेटो के आदर्श-राज्य में उपस्थित तीन विभिन्न वर्गों के स्वरूप को व्यक्त करने के लिए आधार बने।[1] प्लेटो के अनुसार ये तीन तत्त्व क्रमशः क्षुधा-सम्बन्धी, महत्त्वेच्छा अथवा एषणा-सम्बन्धी और चिन्तनशीलता-सम्बन्धी होते हैं। इन्हीं से क्रमशः सम्बन्धित-वर्ग उद्योग, सेना और शासन हैं। अन्तिम दो वर्ग कई बातों में एक ही वर्ग के दो भाग समझ जाते हैं। इस बारे में कई प्रश्न उठाये जा सकते हैं परन्तु निम्नलिखित प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण हैं

(१) सभी मनुष्यों में ये तीनों आधार युक्त तत्त्व मिलते हैं। ये समाज में विभिन्न विशिष्ट वर्गों के उत्पन्न होने पर कोई आधार उपस्थित नहीं करते। (२) क्षुधा का पहलू अन्य दो पहलुओं से अधिक बल के साथ पृथक उपस्थित किया गया है। (३) संवेग या एषणा सम्बन्धी पहलू, सभाओं की क्रियाओं में पर्याप्त रूप से नहीं देखा जाता। (४) एक शासन का कार्य मुश्किल से ही शुद्ध बुद्धि-सम्बन्धी कहा जा सकता है। इन आक्षेपों के उत्तर में संक्षिप्त रूप से कुछ कहना उचित होगा

(१) सभी मानव या मानव वर्ग के लिए शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति अनिवार्य है। उदाहरण के लिए जीवन-यापन उत्पत्ति और जातियों की वृद्धि सभी के लिए अनिवार्य है। ये कुछ अंशों में क्षुधा के नाम से पुकारी जा सकती हैं। कुछ अंशों में ये हमारे इन्द्रिय ज्ञान में भी आते हैं जैसे गरमी सरदी दुख और अन्य शारीरिक कष्टों की अनुभूति। सभी मनुष्य अपनी क्षुधाओं की तृप्ति के लिए और अपनी असुविधाओं को हटाने अथवा पूरी तरह से मिटाने के लिए कुछ अंशों में अपने पथ प्रदर्शक विवेक का सहारा लेते हैं। सभी लोग इस बात को जानते हैं कि जिसे एक मनुष्य अनुभव करता है वही केवल एकमात्र आवश्यकता नहीं होती। अतः भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न लोग प्रमुख रूप से काम करते हैं। इसलिए जीवन के किसी विशेष पहलू को पृथक रूप से लेकर कोई एक वर्ग उसी में लगा रहे यह प्राकृतिक नहीं कहा जा सकता। अपने विषय का विवेचन प्रस्तुत करते समय यह बात प्लेटो ने स्पष्ट रूप से उपस्थित किया है। वह अपने आदर्श राज्य में संगठन पर अत्यधिक बल देता है। परन्तु उन वर्गों में एकदम से विभाजित कर देना लोगों की समान विचारधारा के विकास को रोकता है जो लोगों के संगठन के लिए अत्यावश्यक भी है।

---

१. इस सम्बन्ध में सुझाव इसी पुस्तक के अध्याय ३ और ४ को देखिए। इन अध्यायों से सम्बन्धित परिशिष्ट की टिप्पणियों को भी देखिए।

श्रम वर्ग चाहे उच्चवर्ग को न समझ सके परन्तु उच्चवर्ग के सुशिक्षित और श्रम-संकल्प वाले व्यक्ति निम्न-वर्ग वालों के साथ कुछ मौलिक सहानुभूति अवश्य रखते हैं।

(२) यह लोग औद्योगिक वर्ग—जो-क्षुधाग्नि की तृप्ति से सम्बन्धित है का दूसरे दो वर्ग—जो विवेक शक्ति से सम्बन्धित है दोनों के पारस्परिक स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। केवल दूसरे दो वर्गों के लिए कोई सुनिश्चित शिक्षा दी जाती है परन्तु औद्योगिक वर्ग केवल दूसरों की इच्छाओं पर निर्भर बना रहे यह भी अपेक्षित नहीं है। परन्तु वह भी अपने कार्य में ऐसी कलात्मकता उत्पन्न कर सकता है जिससे सब लोगों के लिए एक सुन्दर वातावरण पैदा हो सके। सम्भवतः प्लेटो का विचार यह था कि शासक लोग ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध करें जो इन आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। परन्तु यह निश्चित है कि इस प्रकार की शिक्षा प्रबन्ध ही उच्चवर्ग की शिक्षा के समान होगी और फिर वह ऐसा विभाग पैदा करेगी जिसका कुछ भी अर्थ नहीं होगा। अन्य समस्याओं के साथ प्रान्मू महोदय ने भी इस समस्या को सम्मुख रखा है।[1] वर्तमान समय में ता यह और भी स्पष्ट हो उठी है। अब लोग उद्योग के तकनीकी तरीकों के साथ गणित और अन्य विज्ञान का प्रयोग भी करने लगे हैं और इसके साथ युद्ध सम्बन्धी सभी सामग्रियों की जानकारी भी चाहते हैं।

(३) यह भी स्पष्टतः गलत है कि सैनिक जीवन को जीवन एक उच्च प्राकृतिक रूप समझा जाए जिसमें मानव प्रकृति की ऐषणा अथवा महत्वाकांक्षा का तत्त्व प्रकट हो। प्लेटो स्वयं युद्ध को एक रुग्ण समाज के राज्य से उत्पन्न होने वाला बताता है। उसका आदर्श समाज विधान वस्तुतः इसी विचार के साथ आयोजित किया गया है। निश्चय ही मानव प्रकृति का ऐषणा-सम्बन्धी तत्त्व प्रेम और संघर्ष में क्रीड़ा भावना से साहस में कविता और अन्य सभी कला रचनाओं में दिखाई देता है। प्लेटो यद्यपि स्वयं एक कवि और नाटककार थे परन्तु कवित्व सम्बन्धी कला को उन्होंने प्रारम्भिक-शिक्षा के अतिरिक्त कहीं भी कोई स्थान नहीं दिया और नाट्यकला का तो एकदम न ही कहीं भी नहीं रखा है। यह दिखाई देता है कि बीट्स ने अपनी बाद की और प्रारम्भिक कविताओं में अपनी प्रकृति के दमन को अभिव्यक्त किया है। वर्तमान काल में सैन्य-कला एवं औद्योगिक कला भी पूरी तरह वैज्ञानिक और यान्त्रिक बन गई है। इसके साथ ही वे प्रमुख रूप से विज्ञान और कलाओं से सम्बन्धित लोगों के हाथ में भी चली गई है।

(४) किसी राज्य का शासक निश्चित रूप से एक विचारशील व्यक्ति

[1] प्रान्मू महोदय की पुस्तक "क्रिटिसिज्म" खण्ड १ अध्याय १-२ देखिए।

होता है। निस्सन्देह उसको अपने विवेक का प्रयोग एक उद्योगशाला के मुखिया की अपेक्षा अधिक समन्वयात्मक-रूप से करना पड़ता है। परन्तु वह अपने विवेक का प्रयोग एक कलाकार अथवा वैज्ञानिक से कम ही करता है। प्लेटो चाहता था कि राजा लोग दार्शनिक हों। यह तो निश्चित रूप से वाञ्छनीय है कि वे लोग दार्शनिक संस्कारों से युक्त हों। परन्तु श्रम के विभाजन के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार यह दिखाई पड़ता है कि शुद्ध और व्यावहारिक विज्ञान के विद्यार्थी तथा सिद्धान्त-मात्र या केवल कुछ प्रयोग-मात्र जानने वाले विद्यार्थी में कुछ अन्तर अवश्य होना चाहिए। अरस्तू ने इस पर विशेष रूप से बल दिया है। उसे ही अब हम आगे प्रस्तुत कर रहे हैं।

(ख) अरस्तू ने जीवन के तीन पहलुओं को मान्यता दी है। उनका विवरण हम पहले प्रस्तुत कर चुके हैं। वर्धी-पक्ष को उसने अविवेकपूर्ण कहा है और मनुष्य सम्बन्धी पहलू में विवेक या विचार को स्थान दिया है। उसने विवेक को पाशविक-प्रवृत्तियों के नियमन तथा संयम के रूप में और विशेष उद्देश्यों के अनुशीलन करने के रूप में विभक्त किया है।[1]

इस विश्लेषण को पूर्ण सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। इसने अरस्तू की नैतिक मूल्यों की व्याख्या के समय कुछ उलझाव उपस्थित किया है।

उन्हें कुछ अंशों में हमारी जैव आवश्यकताओं की पूर्ति में नियमितता लाने के साथ-साथ कुछ अंशों में हमारी पाशविक प्रवृत्तियों को संयमित करने से सम्बन्धित समझना चाहिए। परन्तु उनकी पूर्ण व्याख्या का उत्तरदायित्व तो नीतिशास्त्र पर ही छोड़ देना चाहिए। समाज-दर्शन अथवा राजनीति-शास्त्र में अरस्तू महोदय ने वर्गों के तीन भेद की अवहेलना की है। अतः वह जनता के पूर्ण नैतिक संगठन की व्याख्या में प्लेटो की अपेक्षा अधिक सफल हुआ है (कम-से-कम जब 'रिपब्लिक' को हम प्लेटो के विचारों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाली पुस्तक मान लेते हैं।)

दूसरी ओर उसके द्वारा विवेक का दो रूपों में विभाजन[2] उसे प्लेटो की अपेक्षा सैद्धान्तिक और व्यावहारिक जीवन में एक तीव्र पार्थक्य उत्पन्न करने की ओर ले जाता है। कभी-कभी वह ऐसा कहता दीखता है कि

१ अरस्तू महोदय की पुस्तक निकोमेकियन एथिक्स खण्ड १ अ० १३ को देखिए।

२ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विवेक। निस्सन्देह इस भेद को बहुत अधिक तक खींचा जा सकता है। विवेक मूलतः एक-सा ही रहता है चाहे उसका प्रयोग सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक समस्याओं में किया जाए। वह एक ही व्यक्ति उसके दोनों प्रयोगों को समझ सकता है। यह सत्य है कि कुछ लोग तो अपने विचारों को अभिव्यक्त करने में और अन्य लोग मुख्य रूप से अपनी अनुभूति को अथवा अपने कार्यों को व्यवस्थित रखने में अधिक निपुण होते हैं।

एक दार्शनिक और एक समाजिक का जीवन एक राजनीतिज्ञ और एक नागरिक के जीवन से पूर्णतः भिन्न है।[1] परन्तु उसने उसे यह कह कर कुछ अन्तर अवश्य कर दिया है कि बाद वाले पहले वाले लोगों के लिए आवश्यक आधार प्रस्तुत करते हैं। 'गुलामों के लिए आराम नहीं है।' सर्वप्रथम हमें जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। यहाँ तक कि श्रेष्ठ जीवन वाले लोगों के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है। उसके बाद ही ज्ञान और चिन्तन के लिए परमानन्द का लाभ किसी को ही हो सकता है।[2] परन्तु यह इस बात को मुश्किल से ही मान्यता देता दीखता है कि सामान्यतः मनुष्यों के उत्तम जीवन के प्रगतिशीलकरण के लिए ज्ञान और चिन्तन स्वतः कोई साधन हों। प्लेटो या अरस्तू ने क्या कहा था उससे हम आज कुछ भी वास्तविक सम्बन्ध नहीं रखते। परन्तु हमारा सम्बन्ध तो इस बात से है कि वे लोग क्या कहना चाहते थे और कितना कह पाए। यदि उन्होंने पूर्णतः उसे कह दिया और उनके कहने का यही मतलब था तो निस्सन्देह वह सब ठीक है। कुछ भी हो उनका विचार काफी सीमा तक ठीक था।

(घ) वर्तमान समय में प्लेटो और अरस्तू के सिद्धान्तों का एक अच्छा प्रभाव पड़ा है। ये कुछ अंशों में स्टोइकों के द्वारा उत्पन्न किए तीव्र विरोध के द्वारा प्रतिद्वन्द्व हो गए थे। स्टोइकों ने मानव प्रकृति के शुद्ध विवेक और तर्कनात्मक तत्त्व में विरोध उत्पन्न किया है। सारांश में कान्टियन ने इस विरोध भावना का समर्थन किया है। जीवन के धर्म-निरपेक्ष और पवित्र पहलुओं के विरोध ने जो स्वयं भी कुछ भिन्नता लिए हुए था अनेकों लोगों को प्रभावित किया। उसने एक ओर वैराग्य को प्रोत्साहन दिया दूसरी तरफ आधुनिक मनोविज्ञान और सम्पन्न जीवन की एकता पर इस प्रकार से बल दिया है कि जीवन के विभिन्न पहलुओं का महत्त्व कम दिखाई पड़ता है। अतः सारांश में मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं में परिपूर्णता लाने में कमी रही है और कभी-कभी एक भाग और कभी-कभी दूसरे भाग पर अनुचित रूप से बल देता है। वर्तमान समय में जीवन का आर्थिक-पक्ष बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है। समाज की व्याख्या करने वाले विज्ञानों में अर्थ शास्त्र की व्याख्या सबसे अधिक की गई है। यह अपने क्षेत्र से बाहर केन्द्रीय स्थान को ग्रहण करता जा रहा है। मार्क्सिज्म और रस्किन ने इसका विरोध करके नैतिकता तथा कला के अधिकारों को दृढ़ता प्रदान करके एक अच्छा और सुधार का कार्य किया है। दूसरी तरफ

१. ईथिक्स १०-१० अध्याय ७-८। उनकी पुस्तक "पॉलिटिक्स [illegible] भी देखिए।
२. पॉलिटिक्स [illegible]

संस्कृति के पक्षपाती कभी-कभी यूनानी विचारों द्वारा थोड़ा-सा समर्थन पाकर—जीवन के औद्योगिक और वाणिज्य सम्बन्धी पहलू के बारे में अनुचित भेद प्रदर्शित करते हैं। नैतिकता और धर्म के पक्षपाती कभी-कभी औद्योगिक जीवन कला और संस्कृति के अधिकारों के प्रति थोड़ी सहानुभूति दिखाते हैं। यह प्रथम रूप में ग्रीक-दर्शन का एक नवीनीकरण है और प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओं का एक विशेष अध्ययन है जिसने मानव-प्रकृति में उपस्थित विभिन्न-तत्वों की सन्तुलित विचारधारा को प्रस्तुत करने में सहायता दी है।

यह विवरण बहुत-कुछ रूप में एक अधूरा विवरण ही है परन्तु भावी विवेचना को स्पष्ट रूप से समझने के लिए सहायक होगा।

द्वितीय अध्याय

समुदाय

प्रथम अध्याय के विवेचन से यह स्पष्ट है कि समाज एक प्राकृतिक आधार पर स्थित है। मानव प्रकृति के सभी आधार-भूत तथ्य सामाजिक-संगठन को किसी-न-किसी रूप को जन्म देते हैं। सभी प्राणियों की कुछ आवश्यकताएँ होती हैं (जिन्हें हम वर्गी कह सकते हैं।) जैसे भोजन और पानी की उपलब्धता और सरदी से बचाव की, तूफ़ान और बाढ़ से सुरक्षा की और रोग एवं जंगली पशुओं के आक्रमण से बचाव आदि की आवश्यकताएँ पड़ती हैं। सभी प्राणी अपनी जाति को बनाये रखने की कोशिश करते हैं। इसलिए दूसरों से सहयोग प्रत्येक प्राणी के लिए आवश्यक हो जाता है। हमारी विशेष सामाजिक इच्छाएँ प्रेम और संघर्ष की प्रवृत्तियाँ तथा इन्हीं केन्द्रीय भावनाओं के चारों ओर घूमने वाली विभिन्न मनोवृत्तियाँ और हमारे संवेग हमें एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्धों में आबद्ध हो जाने के लिए अनिवार्य रूप से प्रेरित करते हैं। समुदाय बनाने के लिए इन से भी ज्यादा अनिवार्य रूप से मार्गदर्शित करने वाले हमारे शुद्ध मानवीय गुण हैं जो अपने सुविकसित विचार तत्त्व से पैदा होते हैं। यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए सामाजिक संगठन का कम-से-कम कोई-न-कोई रूप तो उतना ही प्राकृतिक समझा जाना चाहिए जितना उसके लिए भोजन और पानी का कोई-न-कोई रूप आवश्यक होता है। बटलर महोदय के शब्दों में[1] एक मनुष्य का एक-दूसरे मनुष्य की ओर आकर्षित होना एक प्राकृतिक सिद्धान्त है कि एक ही देश की भूमि पर चलने-फिरने के कारण एक जैसी ही जलवायु में या आस-पास रहने के कारण, म, साथ खेले के कारण अथवा थोड़ी जान-पहचान के पश्चात् एक थोड़ी जानकारी अथवा परिचय का कारण बन जाते हैं तथा उनमें से कोई भी बात इसमें सहायक सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार के नाम-मात्र के सम्बन्ध किसी नायक के द्वारा नहीं परन्तु निम्न से निम्नतम प्राणी के लोगों द्वारा ही आरम्भ में निर्धारित और परिष्कृत किये जाते हैं। ये सम्बन्ध ही मानव जाति को एक

१ समुदाय का प्राकृतिक आधार

छोटे से भ्रातृत्व और सहभागिता के बन्धनों में बाँधने के लिए पर्याप्त है। कितने कमजोर हैं ये बन्धन! इन्हें ही यदि मूढ़ता से उस संगठन के वास्तविक सिद्धान्त के रूप में समझ लिया जाए तो कितनी उपहासास्पद बात होगी। परन्तु सच्चाई तो यह है कि ये कुछ ऐसे अवसरों को उत्पन्न करते हैं जैसे कोई-न-कोई वस्तु किसी-न-किसी वस्तु से तो उत्पन्न होती है जिनकी ओर हमारी प्रकृति अपने पूर्व झुकाव और प्रवृत्ति के अनुसार हमें खींचे ले जाती है। यदि हमारे पूर्व के संस्कारों और हमारी प्रकृति के झुकावों को ध्यान नहीं दिया जाएगा तो इस प्रकार के अवसरों का कुछ भी महत्त्व नहीं होगा।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता, जैसा बार्कर ने पूर्वोक्त उद्धरण में कहा है कि मानव-जाति में पाए जाने वाले साहचर्य को उचित रूप में उसी तरह परम्परागत कहा जा सकता है जैसे कुटिर अथवा कोष के प्रयोग परम्परागत होते हैं। यह मनुष्य की विचारशील प्रकृति का ही महत्त्व है कि हममें चयन, समायोजन और यन्त्रों को बनाने की शक्ति है। हमारे साहचर्य के रूप मनोवृत्त्यात्मक प्रकृति से नहीं होते जैसे निम्न श्रेणी के प्राणियों में समूह बनाकर रहने का स्वभाव होता है। हम अपने मित्र और शत्रुओं का चयन कभी-कभी अच्छी तरह सोच-समझ कर कभी-कभी यों ही स्वेच्छा से और कभी-कभी मनोवृत्ति के आधार पर विविध प्रकार से करते हैं। हमारे शिष्टाचार और हमारी प्रथाएँ कुछ अर्थों में अपने चिन्तन पर, कुछ अर्थों में वंशानुगतक्रम से प्राप्त होने वाली भावनाओं से उत्पन्न भावना पर, कुछ अंशों में अपने वातावरण के प्रति क्रमिक और अनजान समायोजन पर, कुछ अर्थों में महान् व्यक्तित्व वाले लोगों के आकर्षक प्रभावों, कुछ अंशों में मूलतः अज्ञात प्रभावों पर और प्रायः कुछ अंशों में विशेष लोगों, समूहों तथा दूसरे लोगों के दबावों पर आधारित होती हैं। हमारे नियम-कानून और सरकार के ये रूप बहुत सीमा तक विकास की मन्द प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त हुए हैं। इस प्रक्रिया में विवेक-सहित चयन का हाथ महत्त्वपूर्ण अंशों तक रहा है। परन्तु इस प्रकार के चुनाव करने वाले लोग बड़ी-बड़ी परिस्थितियों के दबावों से, दबावों को भुला देने वाली ताकतों से, समझौते की इच्छा से तथा अन्य आकस्मिक एवं अवर्णनीय प्रभावों के द्वारा निर्दिष्ट और अवरुद्ध होते रहे हैं। इस तरह से प्राप्त रूप अन्त में परम्परागत बन जाते हैं और फिर ये परम्पराएँ मनुष्य के लिए स्वाभाविक हो जाती हैं। मनुष्य के लिए विविध कानून, रीति रिवाज और सरकार की विविध प्रणालियों का होना उतना ही स्वाभाविक है जितना चिड़ियों के लिए विशेष प्रकार के घोंसले होना आवश्यक होता है। यह भी स्वाभाविक है कि मनुष्य चिड़ियों की अपेक्षा अधिक भिन्न होता है।

मनोवृत्ति के परिणाम प्रधान रूप से एक-समान होते हैं परन्तु चयन के परिणाम भिन्नतापूर्ण होते हैं। ये कुछ अर्थों में हमारी मनोवृत्तियों पर और कुछ अर्थों में बदलती हुई परिस्थितियों के दबावों पर आधारित होते हैं। ये हमारे जटिल सम्बन्धों की समानता और भिन्नता के दोनों रूपों में मिलते हैं। सारांश में हम अपनी मानव-समाज की व्याख्या में यही बतलाना चाहते हैं।

मानव-साहचर्य को प्राकृतिक और सजीव रूप में मान्यता देना उसे उसके जैव सम्बन्धी स्वभाव की ओर से आना है। उसे प्रारम्भिक और चयन सम्बन्धी होने की मान्यता देना सामाजिक संविदा की अवधारणा की ओर से आना है। इन दो रूपों पर कुछ प्रकाश डालना हमारी वास्तविक प्रकृति को समझने के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकता है। यहाँ संविदा की अवधारणा से शुरू करना ही उत्तम रहेगा।

यह एक पुरानी अवधारणा है। परन्तु प्लेटो के 'रिपब्लिक' के दूसरे भाग में इसे स्थान नहीं मिला। आधुनिक काल में इसका एक लम्बा इतिहास मिलता है। अगले अंश में हम उसका यहाँ विवेचन करेंगे।

१ सामाजिक संविदा की अवधारणा

हाब्स महोदय ने सामाजिक संविदा की अवधारणा को बहुत ही कठोर और बहुत ही तर्क-संगत रूप में प्रस्तुत किया है। हाब्स के अनुसार मानवता की प्राकृतिक स्थिति सब लोगों के द्वारा सबके विरुद्ध एक युद्ध के रूप में थी जिसमें एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के लिए भेड़िया था। उस अवस्था में जीवन पृथक् दीन-हीन जंगली घृणित और क्षुद्र था। सभी लोगों की औसत समानता की भावना ने किसी एक को स्थायी प्रभुसत्ता प्राप्त करने में सफल नहीं होने दिया क्योंकि सभी लोग स्वभावतः समानता चाहते थे। अन्त सब ने मिलकर आपस में झगड़ा न करने की संधि की और पूर्ण शान्ति की स्थापना की। यह सब कुछ एक संविदा के रूप में सम्पन्न हुआ। इस संविदा के अनुसार उन्होंने अपने सक्रिय (क्रियात्मक) अधिकारों को त्याग दिया और व्यवस्था के लिए एक सरकार की स्थापना की और उसके प्रति निष्ठावान् रहने का वचन दिया। इस प्रकार एक सत्तात्मक स्थापना के कारण मनुष्य मनुष्य के लिए रक्षक बन गया।

अन्य लेखक हाब्स की विचारधारा पर एक गंभीर चिन्तन के बाद उस मूल संविदा को भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं। स्पिनोज़ा और लॉक ने हाब्स द्वारा प्रतिपादित सत्तावादी की सब कुछ मौन देन की मान्यता को स्वीकार किया

---

१ हाब्स महोदय के प्रमुख सिद्धान्तों की रूपरेखा [illegible] परिशिष्ट की पु [illegible] हाब्स १ [illegible] में प्राप्त की जा सकती है।

है। रूसो ने इस संविदा को सदा के लिए घटना नहीं माना परन्तु उसे आपसी सम्बन्ध के रूप में सामान्य इच्छा के अनुसार निरन्तर नवीनीकरण के रूप में माना है। इस अवधारणा पर हम आगे विचार करेंगे। इस बीच यह कहना पर्याप्त होगा कि धीरे-धीरे लोगों में यह मानना शुरू कर दिया था कि यह बात एकदम कल्पना-मात्र है पर यह उत्कृष्ट कल्पना भी नहीं कि कभी मानव-जाति में कोई सामाजिक बन्धन नहीं थे। अन्त में मानव और जन्तुओं के जीवन के बीच का सम्बन्ध जिसमें नागरिक साहचर्य का असंस्कृत प्रारम्भ स्पष्ट दिखाई देता है समाप्त कर दिया गया। परन्तु आधुनिक विकास के सिद्धान्त ने इस भाव धारणा की अवहेलना करना हमेशा के लिए असम्भव बना दिया है। ऐसे सिद्धान्तों की मान्यता से पूर्व कुछ पदों में पाशविक जीवन का साम्यानुमान करना चाहिए। उदाहरण के लिए शेक्सपीयर महाशय ने मधुमक्खियों का वर्णन इस प्रकार किया

'प्राणिगण (मधुमक्खियाँ) शिक्षा देती हैं प्रकृति के शासन को
व्यवस्था से एक कर्म' को मानव-शासन को।
इनका एक राजा है और हैं अधिकारी वर्ग
उनमें कुछ न्यायाधीश सुधार करते अपने घर पर
अन्य सौदागरों की तरह करते हैं विदेश में व्यापार
दूसरे सैनिकों की भाँति अपने डंकों में हथियारबन्द
बनाते हैं अपने लूटे ग्रीष्म की मखमली दूब के अंकुरों को
और वे स्व-गृह से आनन्द लिए अभियान में
पहुँचते हैं अपने-सम्राट् के राज-कुटीर पर।
सम्राट् भी शाही सर्वेक्षण में हैं व्यस्त
उधर कलाकार बना रहे हैं स्वर्णमय गुम्बज में मस्त
नागरिक-गण जुटा रहे हैं शहद;
गरीब श्रमिक-सी दुःखी भीड़ में
भाग रहे हैं अपने बोझ को छोड़ द्वार के तट पर
उधर निराश-भैरवी वाला न्यायाधीश अपने गुञ्जन से
पहुँचाता है द्वारा व्यवस्थापक-मण्डल के प्रभाव को।"

निस्सन्देह, कुछ पदों में ये काव्य-पंक्तियाँ काल्पनिक हैं[१] परन्तु इन में

---

१ व्यवस्था के रूप का भय नहीं कल्पित-मात्र भी है।

२ मेंडल मैटरलिंक महाशय का मधुमक्खियों पर लिखा गया विवरण कुछ अंशों में काल्पनिक है। मेटरलिंक महोदय ने जिस पर अधिक विश्वास किया जा सकता है अपनी पुस्तक सोशलाइज्ड एम. एडवर्ड्‌स नामक में कीट-पतंगों के सामाजिक ढंग को सुन्दर उदाहरणों द्वारा प्रदर्शित किया है।

पर्याप्त सत्य छिपा है। इसके अनुसार मानव-जीवन को प्राकृतिक स्थिति में पशुओं के जीवन से भी अधिक स्वेच्छाचारी माना जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य की चिन्तन-शक्ति जो उसे बड़े-बड़े अधिकार पाने के लिए प्रोत्साहन देती है समाज के प्राकृतिक संगठन को तोड़ने के लिए भी तैयार रहती है। इस प्रकार एक अधिक जटिल संगठन की संरचना होती है जो एक निश्चित संविदा पर आधारित होता है।[1] इस अवधारणा को रूसो द्वारा कल्पित कहा जा सकता है यद्यपि स्पष्ट रूप में ऐसा कहा भी नहीं जा सकता। सम्भवतः बर्क की प्रसिद्ध घोषणा इसके लिए घातक ही सिद्ध हुई कि समाज वास्तव में एक संविदा है। अल्पकालिक स्वार्थों के लिए की गई वे सहायक संविदाएँ इच्छानुसार समाप्त की जा सकती हैं। परन्तु राज्य को मिर्च और कॉफी कपड़ा या तम्बाकू के व्यापार की साझे की रजामन्दी का काम नहीं समझा जा सकता और इसी प्रकार उसे कोई निम्न श्रेणी की मामूली-सी चीज भी नहीं समझा जा सकता है जिसे कुछ स्वल्पकालीन स्वार्थों के लिए बनाया गया हो और विभिन्न दलों की इच्छाओं के अनुसार समाप्त कर दिया जाए। वह एक सम्मान की वस्तु है क्योंकि वह उन वस्तुओं का साझा नहीं है जो अल्पकालिक और नश्वर प्रकृति के स्थूल पार्थिव अस्तित्व के लिए होती हैं। वह सभी विज्ञानों का एक साझा है वह सभी कलाओं और सभी गुणों के पूर्णत्व का एक साझा है। इस प्रकार के साझे का अनन्त पीढ़ियों तक अन्त नहीं हो सकता। वह जीवित रहने वाले व्यक्तियों का ही एक साझा नहीं है परन्तु वह तो उन लोगों के बीच का एक साझा है जो मर चुके हैं और जो भविष्य में जन्म लेंगे। प्रत्येक विशेष स्थिति की प्रत्येक संविदा शाश्वत समाज के परम मौलिक संविदा की एक धारा है। वह निरन्तर निम्नतर और उच्चतर प्रकृतियों को एक सूत्र में पिरोता है, दृश्य और अदृश्य संसार को मिलाता है। उसके ये सब काम एक निश्चित स्थान पर नियत शक्तियों द्वारा सम्पन्न होते हैं। उसकी ये शक्तियाँ भी सभी प्रकार की भौतिकता और नैतिकता की शपथों की दुहाई देने वाली होती हैं। राज्य का कानून उन लोगों की इच्छा का विषय नहीं बन सकता जो अपने-आपको किसी वैधानिकता के कारण उससे ऊपर समझते हैं और असीम धृष्टता प्रदर्शित करते हैं वे सभी धृष्टता के अनुगामी अपनी इच्छाएँ उस नियम को समर्पित करने के लिए बाध्य होते हैं।'[2] इसमें सन्देह नहीं है कि यदि इस उद्धरण को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से

---

१ रूसो के विचारों के बारे में उत्तम विवरण प्रो॰ सी॰ ई॰ वॉन की पुस्तक पोलिटिकल राइटिंग्स में पाया जा सकता है।

२ बर्क महोदय के विचार प्रशंसनीय रूप से विस्तार और आलोचनापूर्वक प्रो॰ बेकर की पुस्तक "पोलिटिकल थिन्कर्स ऑफ दी ..." में प्रस्तुत किये गए हैं।

देखा जाए तो यह बहुत अधिक अस्पष्ट और आलंकारिक दिखाई देगा। पर यह पर्याप्त रूप से समाज के सामान्य संगठन और एक राज्य से सम्बन्धित विशेष प्रकार के संगठन में कोई अन्तर उपस्थित नहीं करता। परन्तु यह कम से-कम एक मौलिक महिमा की अवधारणा के दोष को प्रकाश में लाता है और एक प्राकृतिक मशीन और अन्य अवयवीय एकता-सम्बन्धी भिन्न अवधारणा से परिचय कराता है।

मानव-समाज की एक जीवित शरीरधारी अवयवी के साथ तुलना की जा सकती है। यह विचार चिन्तनशील लोगों के मस्तिष्क में बहुत पहले से ही

४ अवयवीय एकता की अवधारणा

पा गया था। इस सम्बन्ध में प्लेटो के 'रिपब्लिक' मे विशद विवेचन किया गया है। और उसके अन्य भागों से की गई है।[1] यह विचार ईसामसीह और सेण्ट पॉल के प्रवचनों मे भी मिलता और अनेक आधुनिक लेखकों ने भी प्रभावपूर्ण ढंग से ऐसे ही प्रयोग किये हैं। परन्तु इसका अधिक विस्तृत विवेचन हरबर्ट स्पेन्सर[2] और शेफ्ले[3] की समाज-शास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकों में प्राप्त हो सकता है। इन लेखकों ने मानव-समाज और एक जीवित शरीर की आपसी तुलना की है। परन्तु यह सम्भवतः उतनी ही समझ है जितनी सही है। उन अवधारणाओं में महत्त्वपूर्ण कितना अंश है उसे संक्षेप में देखिए।

समाज एक जीवित वस्तु है अर्थात् वह एक निर्जीव मशीन की तरह नहीं है। संविदा की अवधारणा से यही प्रकट होता है कि उसमें एक स्वाभाविक वृद्धि होती रहती है। और यदि इस बात पर बहुत अधिक बल दिया जाए जैसा कि अवयवीय एकता के प्रति किया है तो इससे हम मानव-समाज में भिन्न ... की अवहेलना कर उसे की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। एक प्राकृतिक अवयवी (जीवधारी) अपने शारीरिक ढाँचे में न कुछ जोड़ सकता है और न अपने अंगों की रचना में आमूल परिवर्तन कर सकता है। पर इसके विपरीत एक समाज अपने समग्र ज्ञान द्वारा अपने-आपको एकदम बदल सकता है और पुरातन से नाता तोड़कर नया जन्म ही धारण कर सकता है। यदि इसकी वृद्धि होती है तो उसका अभिप्रायतः विनाश आवश्यक नहीं। वह बाज और फीनिक्स पक्षी (एक पौराणिक पक्षी) की तरह पुनः युवावस्था को धारण

१ शेक्सपीयर की कोरियोलानस देखिए।
२ प्रिन्सीपल्स ऑफ सोशियोलॉजी भाग I।
३ "Bau und Leben des sozialen Korpers" एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है परन्तु अनेक दृष्टिकोणों से अति विस्तृत है।

कर सकता है। यदि समाज एक अंगी है तो वह कम से कम अनेक अवयवों का अंगी है जिन जीवधारियों में से प्रत्येक का अपना अलग जीवन है। उसका अन्यों के साथ सम्बन्ध केवल बाह्य नहीं है परन्तु स्वयं अपने-आप में अन्तर्ग्रथित है। वस्तुतः वह जीवित है परन्तु वह विचारों के साथ जीवित है। उसमें सद् करने, चयन करने और निर्णय की शक्ति है और वह अपने भविष्य का अतीत के चिन्तन एवं वर्तमान की आलोचना द्वारा निर्माण करता है। मानव-समाज के ये दो प्रकार के पहलू एक साथ ही प्राकृतिक रूढ़ि एवं विचारपूर्वक किए हुए संगठन से तथा कुछ अर्थों में सामान्य इच्छा की अवधारणा से किए गए हैं। इस सम्बन्ध में सबसे हम पहले ही कह चुके हैं और अब भी कुछ प्रसंग में विचार करेंगे। परन्तु पहले हमें यह देखना है कि निर्णायक अथवा संघटक तत्त्व किसे कहते हैं?

सामाजिक संगठन की कोई भी व्यवस्थित प्रणाली प्रायः निर्णय करती रहती है और अपनी सामूहिकता के आधार पर उन्हें कार्य रूप में परिणत करती है। इस वैधानिक रूप में निर्णयों को व्यक्ति

१. संघबद्ध नियमित कार्य के रूप में ग्रहण और व्यवहार किया जाता है। यहाँ तक कि राज्य का वर्णन भी इसी तरह किया गया है।[1] वे कोई निर्णय करते हैं और उन्हें इकाई के रूप में सम्पन्न करते हैं ठीक वैसे ही जैसे व्यक्ति किया करते हैं। वास्तव में पशुओं के झुण्ड भी इस प्रकार के संगठित कार्य करने में समर्थ होते हैं। विशद प्रकार के सामाजिक संगठन के साथ-साथ इस प्रकार के कार्यों की विविध पद्धतियाँ भी व्यापक रूप में बरतनी पड़ती हैं। निरंकुश शासक या नेता कोई निर्णय करता है और उस निर्णय में अपने सहायकों की इच्छाओं और आवश्यकताओं का ध्यान रखना न रखना उसकी इच्छा पर निर्भर होता है। अथवा कुछ निर्णय एक सामूहिक सभा द्वारा विचार के बाद किए जाते हैं। यह सामूहिक सभा सारे समाज के विचारों का प्रतिनिधित्व कर भी सकती है और नहीं भी। अथवा समाज कोई ऐसा उपाय भी कर सकता है कि उसके सदस्यों की राय को ध्यानपूर्वक सुना जाए। अधिकतर इस प्रकार के निर्णय एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों और फिर सभी के सामूहिक दबाव द्वारा किए जाते हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि उनमें सारे समाज का भी भला हो और सभी निर्णय किसी स्वार्थ या काल्पनिक हित की ओर संकेत करते हैं। परन्तु इस तरह के निर्णय जो राज्य अथवा समाज में पाए जाते हैं विभिन्न प्रकार के होते हैं। सेना एक सामूहिक सभा है और उसका अपना एक विशेष अधिकार भी है। परन्तु इस प्रसंग का प्रथम स्थान

१. [illegible]

का निर्णय अनिवार्यतः सेना के हित को ध्यान में रखकर नहीं किया जाता अपितु सेना के उद्देश्य को ध्यान में रखकर किया जाता है। यही बात हमारे समाज और सामुदायिक नियमों के निर्णय के बारे में भी कही जा सकती है। यहाँ तक कि एक राज्य के निर्णय भी अनिवार्यतः उस राज्य के हित की ओर संकेत करते हैं उसके वैयक्तिक हित की ओर नहीं। वे निर्णय किसी और अधिक सामान्य उद्देश्य को ध्यान में रखकर किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए वे दूसरे देश की रक्षा अथवा धर्म के किसी रूप के समर्थन में किये जा सकते हैं। परन्तु यह तो सामान्यतया सत्य है कि किसी भी सुव्यवस्थित समाज के निर्णय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उस समाज के वास्तविक या मान्य हित की ओर अवश्य संकेत करते हैं।

इससे हमें पता चलता है कि सामूहिक कार्य में सामान्य इच्छा हो भी सकती है अथवा नहीं भी। वह सामान्य इच्छा सामान्य हित की ओर प्रेरित कर सकती है अथवा नहीं भी कर सकती। परन्तु अब हम कम-से-कम यह समझने की स्थिति में आ गए हैं कि एक सामान्य इच्छा और सामान्य हित का क्या अभिप्राय होता है।

इस अवधारणा को रूसो ने अपनी एक व्याख्या में प्रस्तुत किया है।[1] उसने उसे एक मौलिक सविदा के रूप में रखा है और वह समझता था कि उसके द्वारा सामाजिक एकता स्थिर रखी जा सकती है। अनेक लेखकों ने इसका प्रयोग किया है परन्तु सदा उन्हीं अर्थों में नहीं। तर्क यह है कि व्यक्ति-समूह अथवा कोई एक अकेला व्यक्ति इच्छा-शक्ति का प्रयोग करता है और उसी इच्छा-शक्ति पर एक समाज के संगठित समस्त अथवा कार्य आधारित होते हैं। रूसो ने यही प्रतिपादित किया है कि यह इच्छा-शक्ति किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न के निर्णय के लिए बुलायी गई सभा में लोगों के बहुमत में निश्चित रूप से व्यक्त होती है। उसने सामान्य इच्छा और सब लोगों की इच्छा में जो भेद किया है उसमें पुनः संगति बिठाना कोई सरल कार्य नहीं है। केवल वोट देना एक संगठित पूर्णत्व की अपेक्षा कुछ व्यक्तियों के एक समूह की एक क्रिया

१ सामान्य इच्छा की अवधारणा

---

१ इस ग्रन्थ संख्या में सिमोज़ा महोदय की सामान्य इच्छा और सामान्य हित की अवधारणा में पहले ही प्रकट हो चुका था। डॉ॰ आर॰ ए॰ डक महोदय की पुस्तक "सिनोज़ा पोलिटिकल एंड एथिकल फिलासफी" गिरीरा-इण्ड संख्या १०४-१४ और ११६-२० में देखिए। इस पूरे विषय पर पूर्वोक्त आर॰ आरणाओं से जो बात महोदय ने अपनी पुस्तक के प्रारम्भिक परिचय में प्रकाश डाला है। रूसो पर लिखे गए ई॰ वेहन महोदय के साहित्यिक निबन्धों को रूसो की प्रकृति पर सामान्य दीप्ति विवेचन प्रस्तुत करने वालों के रूप में उल्लिखित किया जा सकता है।

है और इस तरह से व्यक्त किया गया निर्णय उस समूह में बहुसंख्यक लोगों की इच्छा होगी। इसे हम एक संयुक्त इच्छा कह सकते हैं किन्तु एक सामान्य इच्छा नहीं। डा० बोसांके[1] और कुछ अन्य लोगों ने इस विश्लेषण को स्वीकार नहीं किया है। परन्तु उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया है कि लोगों की एक यथार्थ इच्छा होती है यद्यपि उसे सरलता से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। उसे वोट की अपेक्षा बहस या बातचीत द्वारा जाना जा सकता है। यह विश्लेषण अधिक सन्तोषजनक है परन्तु इच्छा-शक्ति की सामान्य प्रकृति से हम यह जान सकते कि सही रूप से किन अर्थों में यह कहा जा सकता है कि लोगों की एक सामान्य इच्छा होती है।

किसी विशेष अवसर पर व्यक्ति की इच्छा उसकी स्वेच्छा से किया हुआ निर्णय होती है। किसी वास्तविक चयन के समय विचार करने के अनेक वैकल्पिक मार्ग होते हैं (कभी-कभी उनमें से कुछ न करना भी एक मार्ग होता है) जिन पर कोई निर्णय निर्धारित किया जा सकता है। प्रायः प्रत्येक वैकल्पिक मार्ग के पक्ष में कुछ विचार होते हैं और उनका कम या अधिक तुलनात्मक महत्त्व निश्चय ही निर्धारित किया जा सकता है। विशुद्ध व्यक्तिगत निर्णय के सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण का पूर्ण निर्णायक होता है। वह उसके द्वारा हुए लाभ और हानि के तुलनात्मक मूल्यांकन के आधार पर निर्णय कर लेता है। परन्तु दूसरे अन्य मामलों में सम्भवतः बहुसंख्यक मामलों में अन्य लोगों के दृष्टिकोण का भी उस पर प्रभाव पड़ता है।

जब मैकबेथ और लेडी मैकबेथ डंकन की हत्या के बारे में विचार कर रहे थे तो यह कार्य स्वयं मैकबेथ द्वारा किया जाना था और अन्तिम निर्णय उसी पर आधारित होना चाहिए था। परन्तु शेक्सपीयर के प्रस्तुत करने के ढंग के अनुसार (जिसका कोई भी ऐतिहासिक आधार दिखाई नहीं देता) उसके अपने विचार ने उसे सारे विश्लेषण को छोड़ देने के लिए बाध्य कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम निर्णय लेडी मैकबेथ पर छोड़ा जाता तो वह भी इस कार्य को करने में संकोच करती। वह अपने पति के संदेह और संशय को हटाने के लिए पर्याप्त दृढ़ दिखाई देती है। परन्तु अन्ततः यह कार्य किया

१. बर्नार्ड बोसांके : *फिलासफिकल थ्योरी ऑफ द स्टेट*, विशेषतया अध्याय ५ देखिए।
२. इच्छा-शक्ति की सामान्य प्रकृति पर डा० स्टाउट की पुस्तक 'मैनुअल ऑफ साइकोलॉजी' खण्ड ४ अध्याय ९ का उपयोग किया जा सकता है। इस समाज दर्शन की रूपरेखा के मूल लेखक श्री मैकेन्जी महाशय के पूरे विचारों को उनकी एक अन्य पुस्तक 'मैनुअल ऑफ एथिक्स' खण्ड [illegible] अध्याय [illegible] में देखा जा सकते हैं।

सम्मिलित करने से पूरा नहीं होता। ये बातें ही स्थिति को कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ देती हैं।

कुछ भिन्न प्रकार का एक दूसरा उदाहरण लीजिए। संभवतः इससे कुछ और प्रकाश पड़ेगा। मध्यकालीन यूरोप में धर्मयुद्धों की घटना कुछ अन्य बातें भी स्पष्ट कर देती है। ईसाई धर्म में सम्मिलित प्रत्येक व्यक्ति जो जनता के नेताओं के बारे में कुछ भी दिलचस्पी रखता था, पवित्र भूमि से विधर्मियों को निकालने का इच्छुक था। यह इच्छा केवल एक निश्चय नहीं थी। परन्तु अनेक शासकों ने धर्मोपदेशकों के सहयोग से और कभी-कभी अन्य शासकों के साथ विचार-विमर्श से इस इच्छा की पूर्ति के लिए समय-समय पर आक्रमण करने का निर्णय किया था। इन शासकों को विशेष अर्थों में सामान्य इच्छा का निर्वाह करने वाले कहना संगत है। यह इस अर्थ में कि उन्होंने जो निर्णय किया उसे समस्त लोगों की इच्छाओं अथवा उनके भागों के प्रभावशाली समर्थन का समर्थन प्राप्त था। और इसका एक शुभ इच्छा के साथ इसमें सम्मिश्रण थी। इस उचित अर्थ में हम इसे निर्णय नहीं कह सकते परन्तु एक सम्भाव कह सकते हैं जिससे एक निर्णय का समर्थन किया गया था। इस अर्थ में यह शब्द निरन्तर प्रयुक्त होता रहा है। विशेष और पर इस वाक्यांश जैसे 'शुभ इच्छा' और 'अशुभ इच्छा' और ऐसे वाक्य-खण्ड जैसे '[illegible]' एक सही-पूरी वचन [illegible] द्वारा प्रयुक्त किये गए हैं — 'मेरी पत्नी इसे स्वीकार कर सकती है परन्तु मेरी इच्छा नहीं।' इसमें 'इच्छा' शब्द का निरन्तर प्रयोग हुआ है। परन्तु पारिभाषिक शब्दों में हम इस इच्छा की बजाय अभिलाषा कहना अधिक पसन्द करेंगे। अभिलाषा जैसा अन्य कोई कठिन शब्द नहीं मिलता जिसमें अस्पष्ट इच्छा का सम्भाव छिपा रहता है। परन्तु वर्तमान उदाहरण में पहले की तरह मूल बात यह है कि निर्णय एक होता है जिसमें जनता की सहमति रहती है। और उस निर्णय को हम सामान्य-इच्छा निर्णय कहेंगे यदि उसमें सम्बन्धित लोग दूसरे भागों के दृष्टिकोणों से प्रभावित नहीं हुए अथवा किये जाएँ। ग्रीन के शब्दों में उसे यों कहा जा सकता है कि 'सामान्य हित के [illegible] का भाव भागों की ओर से सामान्य ध्येय के लिए एक इच्छा है।'[1] इस सब से यह स्पष्ट है कि हम साधारण इच्छा की बात कर रहे हैं और विशाल समूह वाले भागों के साथ कठिनता से ही कभी इस प्रकार की इच्छाओं के बिना विचार अथवा प्रभावपूर्ण कहलाए जा सकते हैं। वास्तव में इनके बिना एक समाज का भी धारण नहीं कर सकते हैं।

यदि यही सत्य है तो यह स्मरण रखना नितान्त आवश्यक है कि सभी निर्णय कुछ विशेष व्यक्तियों द्वारा ही किये जाते हैं यद्यपि वे दूसरों की इच्छाओं का

१. 'प्रिन्सीपल्स ऑफ पोलिटिकल ऑब्लिगेशन' पृ० ८४।

जाता है। अतः यही कहा जा सकता है कि इच्छा-शक्ति साहचर्यपूर्ण कार्य है। हम इसे सहकारी कार्य इसलिए कह सकते हैं कि एक व्यक्ति का निर्णय अधिकतर उसके साथ काम करने वाले अन्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण द्वारा प्रभावित अथवा निर्धारित हुआ करता है। इसे हम एक सामान्य इच्छा मुश्किल से ही कह सकते हैं और उचित रूप से इसे हम संयुक्त इच्छा भी नहीं कह सकते हैं। परन्तु इसे हम सहकारी की इच्छा ही कह सकते हैं।

फिर एक दूसरा उदाहरण किसी एक परिवार द्वारा छुट्टियों में कहीं जाने के निर्णय के बारे में लीजिए। मान लीजिए कि परिवार का प्रत्येक सदस्य कहीं जाने की इच्छा करता है। परन्तु उन सभी के छुट्टी बिताने के बारे में विचार बिलकुल एक-जैसे नहीं हैं। उनमें से कोई नौका विहार चाहता है, कोई पहाड़ की सैर चाहता है कोई साइकिल की सवारी का आनन्द लेना चाहता है कोई चित्र बनाना चाहता है और कोई खा-पीकर आत्म-तृप्ति चाहता है। ऐसी स्थिति में वे कैसे निर्णय करें? स्पष्टतः कई संभावनाएँ हो सकती हैं। वे अपनी इच्छा अनुसार पृथक पृथक जा सकते हैं और प्रत्येक अपना पृथक् निर्णय कर सकता है। यदि परिवार का मुखिया ही सबके स्थान पर निर्णय करता है तब दूसरों के विचारों का कुछ मूल्य नहीं रह जाता है। वह एक व्यक्ति की इच्छा होगी। फिर वे एक ऐसा निर्णय भी कर सकते हैं जो उन सबकी इच्छा-पूर्ति के उपयुक्त हो। वे सर्व-सम्मति से भी उस निर्णय पर पहुँच सकते हैं। यह सब लोगों की संयुक्त इच्छा का एक निगम होगा। अल्पसंख्यकों के विचारों को बहुमत वाले दबा सकते हैं। वे किसी विषय पर बातचीत करके एक ऐसे समझौते पर पहुँच सकते हैं जो ज्यादा या अधिक सभी को सन्तोष देने वाला हो। यह एक सहकारी या आपसी सहयोग की इच्छा होगी। अथवा इस सम्बन्ध में विचार करते हुए वे इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि एक सदस्य जो संभवतः बीमार है उसकी आवश्यकता अन्यों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकती है और उसके लिए दूसरे अपने अधिकारों का बलिदान करने के लिए तत्पर हो सकते हैं। मैं मानता हूँ कि यह अन्तिम निर्णय ऐसा है जिसे हम वास्तव में सामान्य इच्छा का सही रूप कह सकते हैं। यह केवल विभिन्न दृष्टिकोणों में एक समझौता ही नहीं है परन्तु एक ऐसा निर्णय है जो लोगों को व्यक्तिगत लाभ को छोड़कर एक नियम पर पहुँचाता है जिसमें परिस्थितियों को एक इकाई के रूप में देखा जाता है। यदि सामान्य इच्छा का यह एक सही विश्लेषण है तो इसके साथ दो बातें संबद्ध दिखाई देती हैं—(१) कुछ बहुसंख्यक लोगों का एक निगम पर पहुँचना और (२) पूरे समूह को ध्यान में रख कर निर्णय किया जाना। परन्तु यह कथन लोगों की व्यक्तिगत इच्छा को

ध्यान में रखते हैं। उदाहरणस्वरूप एक राजनीतिज्ञ को कोई विशेष निर्णय करना है सही रूप में उसे करने से पूर्व वह न केवल अपने साथियों और मित्रों से परामर्श ही लेता है परन्तु उसे समाचारपत्रों में भी प्रकाशित करवाता है और वह यह जाँच करना चाहता है कि लोगों का बहुमत उसके बारे में क्या सोचता है। कुछ लोग इस एक अभिव्यक्ति का प्रयोग करते हैं उनके दिमाग में निश्चय ही सही निर्णय मत और मनोभाव आदि का अन्तर स्पष्ट नहीं होता जिसके द्वारा उसका समर्थन होता है और इनके स्पष्ट ज्ञान के बिना गलत अर्थ लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए रूसो ने यह प्रस्तुत किया है कि सामान्य इच्छा कभी गलत नहीं होती। इसमें उस सामान्य कहावत का भाव छिपा है जिसके अनुसार 'जनता के मुँह से भगवान् बोलता है' अर्थ लिया जाता है। वास्तव में इसका कुछ अर्थ तो यह हो सकता है कि बहुमत का निर्णय गलत भी हो सकता है और यह भी स्पष्ट है कि एक ऐसा निर्णय जिसमें सभी लोगों की इच्छाओं को स्थान मिला है उसमें भी कुछ भूल हो। इसके लिए इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस प्रकार का निश्चय सामान्यतः अन्य तरीकों से किये गए निर्णयों से सम्भवतः कम गलत सिद्ध होगा। फिर कभी-कभी यह बात भी हो सकती है कि केवल एक बुद्धिमान् और बहुश्रुत व्यक्ति उदाहरण के लिए पेरीक्लीज अथवा कैसर द्वारा किया गया निर्णय अनभिज्ञ लोगों के निर्णय से उत्तम हो सकता है। हाँ, बोसांके यह दावा नहीं करते कि सामान्य इच्छा गलत हो ही नहीं सकती जैसा कि उन्होंने इसके बारे में सोचा है। फिर वह अपनी यथार्थ इच्छा के रूप में उसके वर्णन को यह मान्यता देने को तैयार है कि उसके द्वारा अवलंबित इच्छा केवल सामान्य ही नहीं समुदाय के यथार्थ हित की ओर भी संकेत करती है। उनकी इस बात की सत्यता में मुझे विश्वास के लिए कोई आधार नहीं मिल रहा। परन्तु यह धारणा सामान्य हित की अवधारणा की ओर संकेत कर रहा है और मैं सोचता हूँ कि इसे सामान्य इच्छा से अलग भी नहीं किया जा सकता। और मुझे यही अधिक सुरक्षित और अधिक सामान्य अवधारणा प्रतीत होती है।

७ सामान्य हित की अवधारणा

एक-दो पीढ़ियाँ पहले सभी जन-नायकों और आप्तवाक्य रूप से व्यक्तिगत स्वार्थों के योग के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त उक्ति प्रसिद्ध थी कि वे 'अधिक-से-अधिक व्यक्तियों के लिए अधिक-से-अधिक हित' के लिए हैं।

---

१ सामान्य इच्छा के विषय पर अधिक विश्लेषण के लिए प्रो० मैकाइवर की पुस्तक कम्युनिटी परिशिष्ट ब और प्रो० हाबहाउस की पुस्तक सोशल इवोल्यूशन ऐंड पोलिटिकल थ्योरी, अध्याय ४ देखिए।

अब यह मान लिया गया है कि यह उक्ति कभी लाभदायक सिद्ध रही होगी पर अब सैद्धान्तिक रूप में अयथार्थ और व्यावहारिक रूप में भ्रामक है। इससे भी संक्षिप्त और सरल अभिव्यक्ति 'सामान्य हित' इससे कम गलत और कम उलझन में डालने वाली है यद्यपि यह भी पूरी तरह से अस्पष्टता के दोष से मुक्त नहीं है।[1] पिछले उदाहरणों में से परिवार के कार्य-सम्बन्धी उदाहरण से यह स्पष्ट है कि सामान्य हित की अवधारणा व्यावहारिक है। एक अवकाश का दिन वांछित ही नहीं वांछनीय भी समझा जा सकता है। यह परिवार के सभी सदस्यों के लिए, अथवा एक के लिए, अथवा उन अधिक लोगों के लिए लाभदायक हो सकता है जिन्हें इसकी विशेष रूप से इच्छा है। उससे भले ही पूर्व-विचारित लाभ न हो पर कम-से-कम हम यह मान सकते हैं कि उस विचार के प्रति ऐसा सोचा गया था। यहाँ तक कि किसी एक ने उसे अपने प्रत्यक्ष लाभ के लिए भी चाहा तो भी वह एक सामान्य हित ही होगा क्योंकि वह एक ऐसी चीज है जिसे सभी चाहते हैं। धर्म-युद्धों को उत्तेजित करने वाले भाग एक-जैसा रवैया कैसे अपना सके, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। ऐतिहासिक उदाहरणों का उतने सरल रूप से विश्लेषण नहीं किया जा सकता है जितना किसी विशेष मुद्दे को समझाने के लिए विशेष रूप से गढ़े गए उदाहरणों का विश्लेषण किया जा सकता है। धर्म-युद्ध-कर्त्ता किसी को अनुगृहीत करने उत्साह दिखाने अथवा किसी पूर्व-संभावित लाभ की अपेक्षा घृणा से प्रेरित हुए हों अथवा इस भावना को प्रोत्साहित करने वाली शक्ति से प्रेरित होकर ऐसा किया गया हो सामान्यतः यह स्पष्ट दिखाई देता है कि सभ्य समाज के अधिकतर सार्वजनिक कार्य हित को ध्यान में रखकर किये जाते हैं। परन्तु तब तक यह कार्य मुश्किल से ही न्यायसंगत बताया जा सकता है जब तक हम यह पूरी तरह निष्कर्ष न निकाल लें कि उसके द्वारा प्राप्त हित कुछ अर्थों में और कुछ सीमा तक सामान्य हित था।

स्पष्टतः कुछ अच्छी चीजें एक सुन्दर अर्थ में सामान्य के रूप में वर्णन की जा सकती हैं। स्पिनोजा के अनुसार आत्मिक हित सब लोगों के लिए सामान्य होता है और सभी लोग उसका उपभोग कर सकते हैं। उदाहरण के लिए दूसरे लोगों की पराधीनता से मुक्त होना सामान्यतः सभी लोगों के लिए शुभ है। एक सुन्दर कविता एक तैल-चित्र एक सुन्दर भाषण शुभ होते हैं और सभी लोग उनकी बार-बार प्रशंसा करते हैं। कुछ अन्य अच्छी वस्तुएँ जो प्रयोग से समाप्त

१ श्री टी एच ग्रीन ने संभवतः सबसे अधिक इस सामान्य हित की अवधारणा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनकी पुस्तक खण्ड १ अध्याय ३ तथा दूसरी पुस्तक प्रिन्सीपल्स ऑफ पॉलिटिकल ऑब्लिगेशन पृष्ठ-संख्या ११०-१९ देखिए।

हो जाती है उनका इस तरह से सामान्य उपयोग नहीं उठाया जा सकता है। फिर भी प्रचुर सामान्य इच्छा करना पानी का सुन्दर समस्त सामान्य हित की बातें है भले ही उनका उपभोग पृथक भागों में हो रहा हो। यह प्रतीत होता है कि पूर्व-वर्णित सामान्य इच्छा इस प्रकार के हित के लिए सर्वोत्तम विचार है परन्तु इस मुहावरे की अस्पष्टता के कारण यह उचित होगा कि उसे छोड़ ही दिया जाए।

कुछ गलतफहमियों को रोकने के लिए यह ध्यान में रखना उचित होगा कि सामान्य हित का साम्यवाद से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। सामान्य हित पर बल देना मानव जीवन की व्यष्टिवादी अवधारणा के अवश्य ही विरुद्ध होगा। परन्तु जब साम्यवाद समाजवाद और समष्टिवाद से व्यष्टिवाद का अन्तर प्रदर्शित किया जाता है तो वे शब्द साधारण सम्पत्ति के समान स्वामित्व तथा उपयोग के सामूहिक समायोजन की ओर संकेत करते है। इसके बारे में हम औद्योगिक संस्थाओं के वर्णन के समय ध्यान देंगे इसी बीच सम्प्रदायवाद शब्द साधारणतः व्यष्टिवाद के विरोध में समझ लेना चाहिए। एक हित जो वास्तव में साधारण है पृथक-पृथक व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है अपनाया जा सकता है और विभिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त किया जा सकता है, उदाहरण के लिए समुदाय का स्वास्थ्य सामान्य हित की बात है फिर भी प्रत्येक व्यक्ति का अपना पृथक् स्वास्थ्य है और वह उसकी पृथक रूप से रक्षा करता है। परन्तु इसके बारे में बाद में विचार करना अधिक उचित होगा।

८ आध्यात्मिक एकता

इन विचारों के आधार पर हम स्पष्टत यह देख सकते हैं कि मानव समाज के उचित सम्बन्ध को वर्तमान वाली एकता का सामान्य स्वभाव क्या है। सम्भवत हम इसे आध्यात्मिक एकता के रूप में बहुत अच्छी तरह से रख सकते हैं। यह एक ऐसी एकता है जिसमें आध्यात्मिक प्राणी व मनुष्य ही भाग लेने के योग्य होता है। ऐसे वे प्राणी थोड़े-बहुत रूप से स्पष्टतः एक मनुष्य के रूप में चेतना रखते हुए किसी हित का अनुसरण करते हैं और वे उन अन्य लोगों के बारे में भी ज्ञान रखते हैं जो उसी अथवा उस-जैसे ही हित का अनुसरण करते हैं। इस तरह वे सब एक समुदाय में बँध जाते हैं। जो चिन्तनशील प्राणी हैं वे ही अपना तथा दूसरों का आदर कर सकते हैं। मधुमक्खियाँ अथवा ऊदबिलाव अपनी मनोवृत्तियों के कारण सामान्य हित की ओर प्रेरित होते हैं परन्तु वे सोच-समझकर ऐसा नहीं करते अर्थात् उन्हें उसका ज्ञान नहीं होता व उसका चयन नहीं कर सकते वे केवल उसके प्रति अनुप्रेरित होने के और कुछ नहीं कर सकते। कुछ अर्थों में कभी-कभी संभवतः

बहुधा मनुष्यों के साथ भी ऐसा ही होता है परन्तु उनकी मनोवृत्तियाँ जन्तुओं की भाँति उतनी सरल और निरन्तर नहीं होतीं। उन सभी की भावनाएँ तो एक मनुष्य में एकता की अपेक्षा एकता को समाप्त करने का ही कारण हो सकती हैं। कुछ भी हो उनमें मानव-जाति जैसी एकता उत्पन्न नहीं हो सकती जो मानव-जीवन के लिए अति लाभदायक और महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। सामान्यतः एक सुव्यवस्थित समाज उसे ही कहा जा सकता है जिसमें अनुकरण के लिए की जाने वाली बातों का स्पष्ट ज्ञान होता है। कुछ अंशों में सब लोगों के लाभ के लिए यह भावना जितनी अधिक विकसित होगी उतनी ही इकाई के रूप में एकता में वृद्धि होगी।

२. सामाजिक भिन्नताएँ

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की एकता ऐसी वस्तुओं की एकता है जो अनेक बातों में विभिन्न होती हैं। इस एकता का निर्माण कुछ ऐसे लोग नहीं कर सकते जिनके हित और इसमें अधिक जिनकी यथार्थ हित के प्रति अवधारणा बिलकुल एक-जैसी नहीं होती। परन्तु उस एकता का निर्माण प्रायः कुछ भिन्न-भिन्न समूहों द्वारा होता है। उन समूहों में भी पृथक्-पृथक् निर्णय लिए जाते हैं और उन सबका पृथक्-पृथक् उद्देश्य होता है यद्यपि यह सत्य हो सकता है कि ये सभी लक्ष्य एक महान् समन्वयात्मक उद्देश्य में सम्मिलित कर लिए गए हों। यदि ऐसा समाज एक अंगीय कहलाता है तो यह स्मरण रखना चाहिए कि यह अंगियों का एक अंगी है और उसमें भी प्रत्येक छोटे अंगियों में रहने वाला अंगी भी अपने आपमें अनेक अन्य शरीरधारियों को रखता है। अतः अंगीय एकता की साधारण विचारधारा का पूर्णतः वर्णन नहीं किया जा सकता। यह एक आध्यात्मिक पूर्णत्व है जिसमें उससे कम पूर्णत्व वाले होते हैं और उनमें भी कुछ आध्यात्मिक कहलाए जा सकते हैं और अन्य आंशिक रूप से तथा दूसरे प्रधान रूप से यान्त्रिक कहला सकते हैं परन्तु इस प्रकार वे सभी एक सुव्यवस्थित समाज में सामान्य हित के लिए कुछ अंशों में परस्पर सहकार में समर्थ होते हैं।[1]

अब हमें निश्चित रूप से यह देखने का प्रयास करना चाहिए कि ऐसे कौन से सबसे अधिक सामान्य भाग होते हैं जिनमें यह समाज भिन्न रूपों को धारण करता है और फिर उनके पृथक् पृथक् कार्य क्या हो सकते हैं।

---

१ सामाजिक एकता के दार्शनिक विश्लेषण पर कुछ रोचक बातें डा॰ मक्टगार्ट की पुस्तक 'स्टडीज इन हीगेलियन कास्मोलाजी' अ॰ ७ में प्राप्त की जा सकती हैं। मैकेन्जी महोदय (इस पुस्तक के मूल लेखक) के विचारों को उनकी एक अन्य पुस्तक 'आउटलाइन्स ऑफ कन्स्ट्रक्टिव फिलासफी' खण्ड २ अ॰ ७-११ में अधिक पूर्ण रूप प्राप्त किया जा सकता है।

विवाह का विशेष ढंग एक संस्था है परन्तु परिवार एक संस्था नहीं है। लोकसभा एक संस्था है परन्तु स्वयं राज्य एक संस्था नहीं है। इसी तरह भाषा को संस्था नहीं कहा जा सकता परन्तु मुद्रण-संस्थान एक संस्था है। शिक्षा एक संस्था नहीं है परन्तु तकनीकी विद्यालय एक संस्था है। धर्म संस्था नहीं है परन्तु देवालय संस्था है और इसी तरह आगे भी समझा जा सकता है। यह सम्भव नहीं है कि व्यापक और सीमित अर्थों के बीच कोई स्पष्ट भेद उपस्थित किया जा सके। इसका सही प्रयोग का प्रश्न भी अधिकांश रूप से मौखिक ही होता है। यदि वह केवल मौखिक नहीं होगा तो वह एक ऐसा प्रश्न होगा जिसमें चयन का एक निश्चित रूप रहेगा तथा उसमें वह चयन थोड़ा-बहुत स्थायी रूप में अभिव्यक्त भी होगा। सारांश में विशेष साहचर्य-पद्धति निश्चितता तथा स्थायित्व देने वाली विशेष संस्थाओं तथा उन संस्थाओं के समर्थन एवं जिनके द्वारा वे काम करती हैं उन साधनों में भेद दिखाया जाना उचित होगा। परन्तु जब एक साहचर्य प्रणाली और उसके साधनों के मध्य स्पष्ट भेद प्रदर्शित किया जा रहा हो उस समय ऐसी संस्थाएँ जो कुछ अंशों में इन दोनों के बीच का रूप होती हैं इन दोनों के अनुकूल होनी चाहिएँ। स्कूल एक संस्था है परन्तु उसे साहचर्य की एक विशेष प्रणाली के उदाहरण के रूप में भी रखा जा सकता है। लोकसभा एक संस्था है परन्तु इसे शासकीय संस्था के एक साधन के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। भाषा एक साधन है परन्तु यह एक ऐसा उपकरण अथवा साधन है जो अचेतन प्रक्रिया द्वारा समृद्ध होता रहता है और मानव-साहचर्य की सभी प्रणालियों के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः इसे एक संस्था भी कहा जा सकता है अथवा साहचर्य की आधारभूत प्रणालियों में से भी एक कहा जा सकता है। कुछ भी हो सभी मानवीय समागमों में इसका स्थान क्या है यह देखने के लिए भाषा का विशेष कार्य प्रदर्शित करते हुए प्रमुख साहचर्य प्रणालियों का एक विवरण प्रस्तुत करना ठीक रहेगा।

३ भाषा का स्थान

भाषा का अर्थ विशेषतः कानों के लिए प्रयुक्त बोलने का एक ढंग है। भाषा के अधिकतर रूप आँख और कान दोनों के लिए प्रयुक्त होते हैं और कुछ ऐसे रूप भी हैं जैसे चित्रलिपि अथवा मूक-बधिर लोगों की भाषा केवल आँखों के लिए ही प्रयुक्त होती है। अन्धे लोग प्रायः कुछ सीमा तक स्पर्श-शक्ति का सहारा लेते हैं। साधारणतया लेखन और मुद्रण निस्सन्देह प्राथमिक रूप में हमारी आँखों के लिए ही प्रयुक्त होते हैं परन्तु उनमें सुनने के शब्दों का भाव भी निकलता है।[1]

[1] अंग्रेजी भाषा की यह तो सर्वमान्य कमजोरी है कि कभी-कभी तो एक व्यक्ति अपने विचारों को स्वयं लिपि रूप में दूसरे व्यक्ति के प्रति व्यक्त नहीं कर पाता।

व्यापक अर्थों में भाषा में उन सभी प्रकार की प्रणालियों का ग्रहण किया जा सकता है जिनके द्वारा एक या अधिक मनुष्य अन्य लोगों को अपनी निश्चित बात पहुँचाते हैं। यहाँ हम उस अस्पष्ट भाषा का नहीं अर्थ जो पशुओं अथवा निर्जीव वस्तुओं के साथ अथवा (जैसा कुछ लोग विश्वास करते हैं) प्रेतात्माओं के साथ प्रयुक्त किए जाते हैं। यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल मानव-जीवन से ही है। अपना भाव जिन तरीकों से व्यक्त किया जा सकता है उनमें हम अभिव्यञ्जनात्मक संकेतों विस्मयादिबोधकों गणित-सम्बन्धी प्रतीकों संकेत-स्वरों और उनके संयोजनों चित्र-रचनाओं समारोहों जुलूसों झंडा और यहाँ तक कि कभी-कभी खाने-पीने के ढंग भी ले सकते हैं। अन्तिम उदाहरण के रूप में और इसी तरह के अन्य उदाहरणों के लिए हम विचार-सम्वहन-माध्यमों की ओर संकेत करते हैं और उन गीतों की ओर भी जैसे 'मेरा पान करना अपनी आँखों से कीजिए' अथवा उमर खैयाम की कविताओं की ओर भी हमारा संकेत हो सकता है।

अब यह स्पष्ट है कि व्यापक एवं सीमित दोनों अर्थों में भाषा के बिना किसी भी तरह मानवीय साहचर्य की कल्पना नहीं की जा सकती। मानव चेतना के विकास में भाषा ने जो हाथ बँटाया है, उसका मूल्यांकन मनोवैज्ञानिकों पर आधारित है।[1] भाषा किस अर्थ को लेकर चल रही है उसका अर्थ निकालना तर्क-शास्त्रियों पर आधारित है।[2] यहाँ ध्यान देने की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सामान्यतः मानव जीवन पर भाषा का सूक्ष्म प्रभाव कैसे पड़ता है और विशेष रूप से यह देखना है कि यह किस प्रकार से विभाजन तथा एकता के उपकरण के रूप में काम करती है। बाबेल की मीनार की कहानी बाद की बात का एक स्पष्ट उदाहरण है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि मानव के मन को छू लेने के प्रयास अथवा दूसरे शब्दों में अपने सामाजिक आदर्शों को पालने के असफल अन्य कारणों की अपेक्षा भाषाओं की भिन्नता के कारण अधिक प्रबल होते रहे हैं। इनमें केवल विभिन्न राष्ट्रों के शब्दों के मध्य में उपस्थित विभिन्नता ही नहीं दिखाई देती बल्कि उनके वाक्यों की रचना उनकी अभिव्यक्ति और उनके प्रतीकात्मक शब्दों के प्रयोग में भी और इसके साथ ही राष्ट्र के अन्दर की बोलियों की छोटी-छोटी भिन्नता भी प्रदर्शित होती है। इससे भी अधिक साधारण भिन्नता उच्चारणों विशेष-मुहावरों, संकेतों और अभिव्यक्ति की अन्य प्रणालियों के प्रयोग में देखी जा सकती है। इससे समुदाय के विभिन्न वर्गों के पृथक रूप का हम पता लगा सकते हैं। इंग्लैंड में H (एच) अक्षर का प्रयोग एक स्पष्ट उदाहरण है। यहाँ हास्य उक्तियों के

---

[1] स्टाउट की पुस्तक 'मैनुअल ऑफ् साइकोलोजी' खंड ४ अ० ५ को देखिए।

[2] [illegible] की पुस्तक 'लॉजिक' [illegible] देखिए।

साथ और सामाजिक महत्त्व पर अधिक बल देने वाले अन्य उदाहरण बर्नार्ड शा की रचना 'पिगमेलियन' मे देख जा सकते हैं और निस्सन्देह पाठकों को ऐसे उदाहरण और भी बहुत मिल जाएँगे। सभी बोलियों में कुछ ऐसे अभिव्यञ्जनात्मक शब्द और मुहावरे होते हैं जो उन्हें जानने वालों के लिए महत्त्वपूर्ण अर्थ रखते हैं और इस प्रकार एक पृथक् वृत्त की रचना करते हैं। और यही बात अनेक भाषाओं पर भी लागू होता है। अधिक सामान्य पक्ष में सामान्य भाषा के महत्त्व प्रतिपादन के रूप में हम कह सकते हैं कि यूरोप में लेटिन का जैसा प्रयोग होता रहा है और अब भी वह काम अंग्रेजी और कुछ अन्य भाषाओं द्वारा होता है तथा वे अन्तरराष्ट्रीय विचार-वहन के लिए सामान्य साधन का रूप भी धारण कर चुकी हैं वे हमारी भावी शंकाओं का समाधान प्रस्तुत कर सकती हैं। जिन भावों की भावाभिव्यंजक प्रणालियाँ भिन्न होती हैं अथवा जिनकी विशेष अभिव्यक्ति में भाव भिन्न होते हैं, वे लोग अनिवार्य रूप से अपने विचारों और भावों की प्रणालियों में भी भिन्न होते हैं। उनके विचार एक-जैसे नहीं होते और इस प्रकार के समुदाय के बिना धार्मिक-सामाजिक समागम और किसी प्रकार के सर्वहित की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं हो सकती है।[1] इस तरह भाषा को विकास रूप में देखने से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि भाषा सभी सामाजिक संस्थाओं की आधारभूमि है यहाँ तक कि यह अपने-आपको संस्था कहलाने का अधिकार रखती है।

अब हम ऐसी संस्थाओं की ओर ध्यान देंगे जिनका प्राथमिक उद्देश्य एकता के किसी विशेष प्रकार को स्थिर रखने की बजाय सामाजिक एकता का निर्माण करना है। उन्हें विस्तृत रूप मे हम निर्माणा

४ निर्माणात्मक संस्थाएँ (रचनात्मक) कह सकते हैं यद्यपि कुछ रूपों में वे वैयक्तिक लक्ष्यों की पूर्ति निश्चित रूप से नहीं करती हैं। उदाहरणस्वरूप इस के अनुसार परिवार को हम प्रधानतः शिक्षणात्मक यह साधन हैं यद्यपि परिवार अन्य लक्ष्यों की पूर्ति भी करता है पर हम विशेषता के अन्तर्गत नहीं आते। निश्चय ही इसका अस्तित्व छोटे बच्चों के पालन पोषण के रूप में और विकास सामुदायिक जीवन में प्रवेश की तैयारी के रूप में होता है। स्कूल और कालेज स्पष्टतः इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए स्थापित किये जाते हैं और उन्हें ही स्पष्ट रूप में ऐसी संस्थाएँ कहना अधिक ठीक है। अभी थोड़ा आगे चलकर हम उनके महत्त्व का कुछ विस्तृत विवेचन करेंगे पर उनके बारे में इसी समय कुछ कहना आवश्यक नहीं।

१ यहाँ बहुत-कुछ अंशों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून और नैतिकता की मान्यता को कठिन बनाये हुए हैं। आगे के तृतीय खण्ड के प्रथम अध्याय को भी देखिए।

ये कुछ ऐसी संस्थाएँ होती हैं जो मानव जीवन का निर्माण तो नहीं करती हैं परन्तु उनके रक्षण में सहायक अवश्य होती हैं। ये प्राथमिक रूप से हमारी अर्थी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं।

४ आर्थिक संस्थाएँ

मनुष्य को स्पष्टतः भोजन पानी हवा धूप और व्यायाम गरमी और विश्राम की आवश्यकता होती है। लोगों की आवश्यकताएँ विभिन्न स्थान और परिस्थितियों के कारण पृथक पृथक होती हैं वैसे ही वस्तुओं की आवश्यकताएँ कुछ अंशों में शारीरिक-गठन और जीवन के आदर्शों की भिन्नता के कारण भी पृथक पृथक होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन और सुविधाएँ उद्योग और वाणिज्य के विभिन्न रूपों में मिलती हैं। फिर उद्योग और वाणिज्य हमारी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी करते हैं उदाहरण के लिए उन्हें हम पुस्तकों चित्रों युद्ध-सामग्री, खेल का सामान यात्रा सुविधाएँ वाद्ययन्त्रों आदि की पूर्ति के रूप में भी समझ सकते हैं। इन पदार्थों की माँग और समरण की बातें अन्य पदार्थों से इतनी भिन्न होती हैं कि हम इन्हें आर्थिक पदार्थों के रूप में मानने को भी तैयार नहीं होते। अब हम इन आर्थिक संस्थाओं को प्राथमिक रूप से अपनी अर्थी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली ही समझेंगे। उद्योग और वाणिज्य से सम्बन्धित अधिकतर संस्थाएँ मुख्यतः इन्हीं बातों से सम्बन्धित होती हैं। जैसे भूमि अधिकरण कारखाने बाजार सहकारी-संस्थाएँ मजदूर-संघ बन्दरगाह, पोत निर्माण-स्थल आदि। यद्यपि कुछ संस्थाएँ जो पूर्ण रूपसे आर्थिक नहीं होती ऐसी संस्थाओं के मूल कार्यों से लगभग मिली-जुली होती हैं।

मैं यहाँ इस शब्द का प्रयोग इससे उपयुक्त शब्द के न मिलने के कारण ही कर रहा हूँ और इसलिए भी कर रहा हूँ कि यह शब्द उन संस्थाओं की विशेषता बतलाता है जो मूलतः पाशविक वृत्तियों की तृप्ति से सम्बन्धित होती हैं। इसे अपमानसूचक अर्थ में नहीं लिया जाना चाहिए, पर इसके प्रयोग में मुझे एक महोदय के एक संस्मरण की याद आती है। उन्होंने एटन कालेज के एक भाषण में कहा था हमारे छोटे बर्बर (असभ्य) खेल में लगे हैं। मैथ्यू आर्नल्ड ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है[1] कि इंगलैण्ड का उच्चवर्ग बर्बर लोगों द्वारा निर्मित है। यहाँ बहुत-सी ऐसी संस्थाओं की ओर संकेत करना कठिन है जो केवल हमारी पाशविक वृत्तियों की पूर्ति करती हैं। यदि हम गति का पशु-जीवन की

५ बर्बर संस्थाएँ

---

१ 'कल्चर एण्ड अनार्की' III. यहाँ मेरे कहने का तात्पर्य क्या है इसके लिए अच्छा उदाहरण के रूप में हाल सर्वविदित आन्दोलन को प्रस्तुत किया जा सकता है जो स्पष्ट रूप से बर्बर संस्था की विशेषता को लिए हुए है। प्रो० वेब्लेन की पुस्तक 'थ्योरी आफ दि लैजर क्लास' में विशेषतः पृ० सं० १०—८ को भी देखिए।

महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं में से लेते हैं तथा प्रेम और संघर्ष को मूलवृत्तियों में, तब यह देखना कठिन नहीं रहेगा कि अनेक साहचर्य प्रणालियां प्राथमिक रूप से उन्हीं की पूर्ति के लिए बनी हैं। जब हम शिशु बर्बरों (बच्चों) को खेलते हुए देखते हैं तो उन्हें पशुओं के छोटे बच्चों की तरह ही व्यवहार करते हुए पाते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी वे अपनी क्रीड़ाओं को नियमों और उपकरणों द्वारा संस्थाओं का रूप भी दे देते हैं। कभी-कभी वे अवश्य ही एक शैक्षणिक कार्य की पूर्ति करते हैं। परन्तु उनकी प्राथमिक आवश्यकता जिसकी अभिव्यक्ति उसमें मिलती है मिटा नहीं है और यदि शैक्षणिक लक्ष्य को जानबूझ कर उसमें प्रधान कर भी दिया जाता है तो उसका उत्साह और महत्त्व दोनों ही मारे जाते हैं। उन्हें केवल व्यायाम की तरह ही नहीं माना जा सकता मले ही खेलों में यह ध्येय भी छिपा रहता है। ऐसा मालूम होता है कि बच्चों में प्रेम और संघर्ष के वास्तविक आवेग अधिक हैं। जब वे लोकनृत्य आदि करते हैं तो यह आवेग और भी स्पष्ट हो उठते हैं। प्रायः सभी खेलों में प्रतियोगिता होती है जनमें मित्रतापूर्ण सहयोग और प्रतिद्वन्द्विता दोनों ही बातें होती हैं। कला के प्रारम्भिक रूपों में प्रेम और संघर्ष की स्मृतियां छिपी रहती हैं और स्वाभाविक आवेगों को प्रोत्साहन देती हैं। अधिकतर वे बहुत ज्यादा स्थायी दिखाई देती हैं। अधिक विकसित कलाओं में तो यह आवेग शुद्ध कलात्मक मांग की अपेक्षा बहुत अधिक होता है।

प्रेम और संघर्ष के अन्य प्रकारों जिनमें साहचर्य प्रणालियों को प्रोत्साहन मिलता है खोजना मुश्किल नहीं। परिवार की जड़ें निश्चय ही प्रेम में छिपी हैं। परिवार कुछ ऐसी संस्थाओं को भी जन्म देता है जो पारिवारिक जीवन के विरुद्ध होती हैं। उससे एक ऐसा प्रसन्न समुदाय बनता है जिसका प्रधान उद्देश्य आवश्यकताओं की पूर्ति और बौद्धिक अथवा कलात्मक लक्ष्यों को प्रोत्साहन देना नहीं है फिर भी वे प्रायः मूल आवेगों के साथ मिल जाते हैं और उनका अपने प्रिय-साथी की तरह उपभोग भी कर सकते हैं। इसके साथ साथ संघर्ष का तत्त्व भी रहता है जैसे—अवसर और चातुर्य के खेलों में तुरंत मजा का संघर्ष रहता है। इसी प्रकार दूसरे प्रतियोगितात्मक खेलों में भी और कभी-कभी वास्तविक युद्ध और लड़ाइयों में भी प्रकट होता है। पर प्रतियोगितात्मक क्रीड़ाओं में युद्धांश का कितना भाग रहता है यह निश्चय करना कठिन है। मुक्केबाजी आदि में तथा शारीरिक व्यायाम की पूर्ति के साधनों को बुद्धिमत्तापूर्वक समायोजित करने में भी यही संघर्ष दिखाई देता है। कभी-कभी इस प्रकार की क्रियाओं का उद्देश्य शैक्षणिक भी होता है। परन्तु इसमें संदेह नहीं है कि युद्धनायकों से हमें आनन्द भी प्राप्त होता है और यह आनन्द हमें प्रतियोगितापूर्ण मजा और यहाँ तक कि अपने जीतने की बात करते समय भी प्राप्त

होता है जैसा कि जॉनसन महोदय कहते हैं। युयुत्साभेव अपने भुण्ड के बाहर के सदस्य के विरुद्ध अधिक तेजी और मजबूती से प्रकट होता है। युद्ध का आधार इसी से है फिर इन आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए प्रतियोगिता में अथवा मानवीय प्रकृति की कुछ अन्य आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए मनुष्य तुरन्त अपने आपको विशुद्ध बर्बर युद्ध की वृत्तियों में सम्मिलित कर लेता है। पर आज की कुछ अत्यन्त विकसित जातियों में भी स्पष्टतः यह भावना पूरी तरह से विलीन नहीं हुई है। सभ्य लोग इस प्रकार सोचना पसन्द करते हैं कि वे अपने विशाल सैनिक संगठन द्वारा स्वतन्त्रता, संस्कृति और धर्म के लिए संघर्ष कर रहे हैं अथवा दूसरों की रक्षा करते हैं। परन्तु सभी लोगों को मीरस के इस कथन से सहानुभूति है कि एक अच्छा युद्ध किसी भी ध्येय की कुर्बानी कर सकता है।

साहचर्य की जिन प्रणालियों का वर्णन किया जा चुका है यदि उन्हें कुछ अर्थों में नियमित और सुसंगठित न किया जाए तो वे स्पष्टतः समाज में अव्यवस्थित स्थिति की जनक होती हैं। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी होते हुए भी एक धर्मी और शान्तिक आवेगों के कारण स्वाभाविक रूप से समन्वय और नियंत्रण की ओर प्रेरित होता है। अतः हम सभी

७ सरकार सम्बन्धी-संस्थाएँ

समुदायों में यहाँ तक कि आदिकालीन समुदायों में भी सरकार के किसी-न किसी रूप को पाते हैं—चाहे यह कबीले में किसी को मुखिया मान लेने के रूप हो। भले ही उसमें चारों ओर के लोगों के साथ संघर्ष अथवा आन्तरिक अनुशासन की कठिनाइयाँ हों इससे एक विकसित व्यवस्था की स्थापना को जन्म मिला जिसमें आदिकालीन रीतिरिवाज नियम के रूप में रखे गए और इस तरह राज्य ने एक संस्था का रूप धारण किया और अन्य सभी संस्थाएँ राज्य की सहायक बनीं। क्रमशः अधिकारों का निश्चय हुआ उनकी परिभाषाएँ दी जाने लगीं और न्याय के सिद्धान्त को महत्त्व मिला। इस प्रकार अपने अधीन करने की प्रणालियों में बल प्रयोग भी निहित था और इस प्रकार की व्यवस्था ने स्वभावतः सेना ने स्थान प्राप्त कर लिया। वास्तव में यही हुआ जैसा प्लेटो ने अनुभव किया था कि सैनिक कार्यवाही केन्द्रीय सरकार को अवश्य मजबूत बनाती है। इस बारे में अधिक विचार आगे के अध्यायों में करेंगे।

जैसे-जैसे जीवन के मानवीय पहलू महत्त्व प्राप्त करते गए वैसे-वैसे धर्मी और शान्तिक प्रकृति को लक्ष्य की अपेक्षा साधन का रूप दिया जाने लगा और मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्रमशः तर्क-बुद्धि के विकास को समझा जाने लगा। इस तरह

८ सांस्कृतिक संस्थाएँ

महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं में से मिले हैं तथा प्रेम और संघर्ष की मूलवृत्तियों में तब यह देखना कठिन नहीं रहेगा कि अनेक साहचर्य-प्रणालियाँ प्राथमिक रूप से उन्हीं की पूर्ति के लिए बनी हैं। जब हम लघु बर्बरों (बच्चों) को खेलते हुए देखते हैं तो उन्हें पशुओं के छोटे बच्चों की तरह ही व्यवहार करते हुए पाते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी वे अपनी क्रीड़ाओं को नियमों और उपकरणों द्वारा संस्थाओं का रूप भी दे देते हैं। कभी-कभी वे अवश्य ही एक शैक्षणिक कार्य की पूर्ति करते हैं। परन्तु उनकी प्राथमिक आवश्यकता जिसकी अभिव्यक्ति उनमें मिलती है छिपता नहीं है और यदि शैक्षणिक तत्त्व को जानबूझ कर उसमें आबद्ध कर भी दिया जाता है तो उनका उत्साह और महत्त्व दोनों ही मारे जाते हैं। उन्हें केवल व्यायाम की तरह ही नहीं माना जा सकता भले ही खेलों में यह ध्येय भी छिपा रहता है। ऐसा मालूम होता है कि बच्चों में प्रेम और संघर्ष के वास्तविक आवेग अधिक हैं। जब वे लोकनृत्य आदि करते हैं तो यह आवेग और भी स्पष्ट हो उठते हैं। प्रायः सभी खेलों में प्रतियोगिता होती है उनमें मित्रतापूर्ण सहयोग और प्रतिद्वन्द्विता दोनों ही बातें होती हैं। कला के प्रारम्भिक रूपों में प्रेम और संघर्ष की स्मृतियाँ छिपी रहती हैं और स्वाभाविक भावनाओं को प्रोत्साहन देती हैं। अधिकतर ये बहुत ज्यादा स्थायी दिखाई देती हैं। अधिक विकसित कलाओं में तो यह आवेग शुद्ध कलात्मक माँग की अपेक्षा बहुत अधिक होता है।

प्रेम और संघर्ष के अन्य प्रकारों जिनमें साहचर्य प्रणालियों को प्रोत्साहन मिलता है खोजना मुश्किल नहीं। परिवार की जड़ें निश्चय ही प्रेम में छिपी हैं। परिवार कुछ ऐसी संस्थाओं को भी जन्म देता है जो पारिवारिक जीवन के विरुद्ध होती हैं। उससे एक ऐसा प्रसन्न समुदाय बनता है जिसका प्रधान उद्देश्य आवश्यकताओं की पूर्ति और बौद्धिक अथवा कलात्मक सभ्यता को प्रोत्साहन देना नहीं है फिर भी वे प्रायः मूल-आवेगों के साथ मिल जाते हैं और उनका अपने प्रिय-साथी की तरह उपभोग भी कर सकते हैं। इसके साथ उनमें संघर्ष का तत्त्व भी रहता है जैसे—अवसर और चातुर्य के खेलों में तुरंत प्रथा का संघर्ष होता है। इसी प्रकार दूसर प्रतियोगितात्मक खेलों में भी और कभी-कभी वास्तविक युद्ध और लड़ाइयों में भी प्रकट होता है। पर प्रतियोगितात्मक क्रीड़ाओं में युद्धावेग का कितना भाग होता है यह निर्णय करना कठिन है। घुड़दौड़ आदि में तथा शारीरिक व्यायाम की पूर्ति के साधनों को बुद्धिमत्तापूर्वक समायोजित करने में भी यही संघर्ष दिखाई देता है। कभी-कभी इस प्रकार की क्रियाओं का उद्देश्य शैक्षणिक भी होता है। परन्तु इसमें संदेह नहीं है कि युद्धाभ्यासों से हमें आनन्द भी प्राप्त होता है और यह आनन्द हमें प्रतियोगितापूर्ण खेलों और यहाँ तक कि अपने जीवन की बाजी लगाते समय भी प्राप्त

होता है जैसा कि ओमिकन महोदय कहते हैं। युयुत्सावेग अपने भुण्ड के बाहर के सदस्य के विरुद्ध अधिक तेजी और मजबूती से प्रकट होता है। युद्ध का आधार इसी में है फिर इन आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए प्रतियोगिता में अथवा मानवीय प्रकृति की कुछ उच्च आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए मनुष्य तुरन्त अपने आपको विशुद्ध बर्बर युद्ध की वृत्तियों में सम्मिलित कर लेता है। पर आज की कुछ अत्यन्त विकसित जातियों से भी स्पष्टतः यह भावना पूरी तरह से विलीन नहीं हुई है। सभ्य लोग इस प्रकार भावना पसन्द करते हैं कि वे अपने विशाल सैनिक संगठन द्वारा स्वतन्त्रता संस्कृति और धर्म के लिए संघर्ष कर रहे हैं अथवा दूसरों की रक्षा करते हैं। परन्तु सभी लोगों को नीत्शे के इस कथन से सहानुभूति है कि एक अच्छा युद्ध किसी भी ध्येय की कुर्बानी कर सकता है।

साहचर्य की जिन प्रणालियों का वर्णन किया जा चुका है यदि उन्हें कुछ अंशों में नियन्त्रित और सुसंगठित न किया जाए तो वे स्पष्टतः समाज में अव्यवस्थित स्थिति की द्योतक होती हैं। मनुष्य एक विवेक-

● सरकार सम्बन्धी-संस्थाएँ

शील प्राणी होते हुए भी एक धार्मिक और आत्मिक आवेगों के कारण स्वाभाविक रूप से समन्वय और नियंत्रण की ओर प्रेरित होता है। अतः हम सभी समुदायों में यहाँ तक कि आदिकालीन समुदायों में भी सरकार के किसी-न-किसी रूप को पाते हैं—चाहे यह कबीले में किसी को मुखिया मान लेने के रूप हो। भले ही उसमें चारों ओर के लोगों के साथ संघर्ष अथवा आन्तरिक अनुशासन की कठिनाइयाँ हों इससे एक विकसित व्यवस्था की स्थापना को जन्म मिला जिसमें आदिकालीन पैतिरिवाज नियम के रूप में रखे गए और इस तरह राज्य ने एक संस्था का रूप धारण किया और अन्य सभी संस्थाएँ राज्य की सहायक बनीं। क्रमशः अधिकारों का निश्चय हुआ उनकी परिभाषाएँ दी जाने लगीं और न्याय के सिद्धान्त को महत्त्व मिला। इस प्रकार अपने अधीन करने की प्रणालियों में बल प्रयोग भी निहित था और इस प्रकार की व्यवस्था में स्वभावतः सेना ने स्थान प्राप्त कर लिया। वास्तव में यही हुआ जैसा प्लेटो ने अनुभव किया था कि सैनिक कार्यवाही केन्द्रीय सरकार को अवश्य मजबूत बनाती है। इस बारे में अधिक विचार आगे के अध्यायों में करेंगे।

जैसे-जैसे जीवन के मानवीय पहलू महत्त्व प्राप्त करते गए वैसे-वैसे धर्म और आत्मिक प्रकृति को लक्ष्य की अपेक्षा साधन का रूप दिया जाने लगा और मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्रमशः

● सांस्कृतिक संस्थाएँ

तर्क-बुद्धि के विकास को समझा जाने लगा। इस तरह गए कुछ तक भक्ति के ही अन्तर्गत माना जाने

लगा। इस मान्यता ने साहचर्य की नयी प्रणालियों को जन्म दिया। संस्थाएँ बच्चों को केवल ज्ञान और शिक्षण देने के लिए ही नहीं बनायी गई, परन्तु, ज्ञान की संवृद्धि बुद्धि तथा चरित्र के विकास के लिए भी बनायी गई हैं। प्रेम के सरल आवेग को कला के विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति में बदल दिया जाता है, ये केवल पाशविक इच्छाओं में ही नहीं, वरन सूक्ष्म और अधिक चिन्तनशील संवेगों और मनोभावों की अभिव्यक्ति में सुन्दर रूप धारण कर लेती हैं। इतना ही नहीं अन्त में वे जीवन के विचारशील दृष्टिकोण और फिर उसके विश्लेषण के प्रयास तक पहुँच जाती हैं। विचार-तत्त्व नियम का आधार है। नियम की बाह्य-दबाव की शक्ति क्रमशः नैतिकता के दायित्वों को मान्यता देती है। जीवन का एक पूर्णत्व के रूप में दृष्टिकोण धार्मिक मत को मान्यता देता है जिसमें व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की पूर्णता अधिकाधिक बलवती मनोवृत्ति का रूप धारण करती जाती है। जीवन के विकासमान पहलू सामाजिक जीवन की संस्थाओं में एक परिवर्तन लाते हैं और उच्चतर लक्ष्य को प्राप्त करने वाली नवीन संस्थाओं को जन्म देते हैं। वैवाहिक संस्थाएँ बनती हैं कलात्मक समूहों का निर्माण किया जाता है, नैतिकता की वृद्धि और धर्म की स्थापना के लिए देवालयों की उत्पत्ति होती है। मानव-जीवन को मूल एकता का गहरा भाव और सत्यों के मूल्यांकन जो उसमें निहित हैं वे विभिन्न समाजों के विरोध को समाप्त कर देते हैं। फिर कुछ ऐसी संस्थाओं को स्थापित करते हैं जो आपसी समागम में वृद्धि करती हैं।

संस्थाओं की इन जटिल पद्धतियों में कुछ अंशों में संघर्ष भी उत्पन्न हो जाता है और फिर उसे दूर करना सरल काम नहीं होता। मनुष्य जैसा हमने प्रस्तुत किया है मुश्किल से ही एक तर्कनापरक प्राणी है परन्तु वह एक ऐसा प्राणी है जो तर्कनापरक बन रहा है। मनुष्य की प्रकृति की उच्च शक्तियाँ उसके निम्न रूप को सरलता से वश में करने में सफल नहीं हो पाती। कभी-कभी उसके इस उच्चतर और निम्नतर रूप के बीच उत्पन्न संघर्ष उसे ऐसे प्रयासों की ओर ले जाते हैं जो निम्नतर को एकदम से कुचल डालते हैं। कई समाजों में यति लोग इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण स्थिति को प्राप्त कर गए हैं। दूसरे मामलों में जीवन के अधिक निरपेक्ष और अधिक धार्मिक पहलुओं से भर प्रस्तुत किया जाना चाहिए। इस तरह एक ऐसा प्रयास किया जाना चाहिए जिसमें सीज़र की वस्तुएँ उस ओर देवताओं की वस्तुएँ उन्हें ही प्राप्त हो जाएँ। इसे कुछ अंशों में अपरिष्कृत रूप से किया जाना चाहिए। ऐसा कहा जाता है कि व्यापार व्यापार ही है और यह नैतिकता से पूरी तरह पृथक् है अथवा इसी तरह अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों में भी यही कहा जाता है कि मित

६. संस्थाओं को मार्गोन्य किया

की भांति उसकी मैत्री अर्थात् शक्तिशाली हो सकता है। परन्तु इस तरह के प्रयास जो जीवन को उसके मुख्य हित से पृथक करते हैं शीघ्र ही पूर्णतः असन्तोषजनक सिद्ध होते हैं। जीवन की एकता स्वयं हमारी भिन्नता का विरोध करती और हमारी प्रकृति के पहलुओं को उनके आधारभूत हितों के प्रति समायोजित करती है। परन्तु इस में समय लगता है और संघर्ष और अव्यवस्था के विभाजनीय तत्त्व लगभग हमेशा ही समायोजन की प्रक्रिया में सम्मिश्र (मिलकर) रहा करते हैं। अतः मानव-जीवन की समस्या के किसी सरल समाधान की हमें आशा नहीं करनी चाहिए।

जिस प्रक्रिया से मानव प्रकृति के विविध तत्त्वों का समायोजन होता है और अन्ततः वह जिस परिणाम की ओर ले जाता है उसे सामान्यतः सभ्यता की परिभाषा के रूप में व्यक्त किया जाता है। जर्मन

१ सभ्यता का अर्थ

लोग कल्टर (Kultur) शब्द का प्रयोग विशेष स्थान और काल की सभ्यता के विशेष रूप में किया करते थे।[1] 'सभ्यता' शब्द 'नागरिक' शब्द की तरह यह संकेत करता है कि यह प्रधानतः नगरों से सम्बन्धित है और वहीं उसकी प्रक्रिया एक तीव्र रूप में हुई है। प्राचीन नगरों में मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं को एक-दूसरे से घनिष्ठता के बन्धनों में बाँधा गया है। वहाँ उनके समायोजन की आवश्यकता का अनुभव किया गया। यह बात स्वतन्त्र यूनानी नगर राज्य अपने श्रेष्ठतम रूप में प्रकट करते हैं। परन्तु इससे निम्नश्रेणी के रूप में यह (संगठन) आधुनिक नगरों में भी स्पष्ट दिखाई देता है। इस प्रक्रिया में कुछ ऐसी जटिल कठिनाइयाँ मिली हुई हैं कि वे अनेकों आकस्मिक अवगुणों को जन्म देती हैं। नगर का जीवन अस्वास्थ्ययुक्त तथा ग्राम्य जीवन से कम संगठित होता है। यहाँ धर्मों तथा पारिवारिक पक्षों को हानि पहुँचती है और उनमें नैतिक और धार्मिक जीवन और कभी-कभी कलात्मक और बौद्धिक जीवन भी प्रभावित होते हैं। अतः कभी कभी उनके विरोध में एक प्रतिक्रिया होती है और फिर जीवन की सरल और स्वतन्त्र प्रणाली की ओर लौट जाने के प्रयास किए जाते हैं। तुलनात्मक रूप में एक गँवार आदमी के जीवन को भी कभी-कभी बहुत सभ्य लोगों के लिए एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरण के रूप में यह प्रवृत्ति पूर्ण रूप से रूसो की प्रारम्भिक रचनाओं का प्रतिनिधित्व करती है। वर्तमान समय में एडवर्ड कारपेन्टर ने 'सभ्यता' पर एक रोचक पुस्तक 'सिविलिजेशन: इट्स

---

१ इस शब्द के प्रयोग के महत्त्व पर प्रो० [illegible] ने अपनी पुस्तक [illegible] एण्ड [illegible] में अच्छी तरह से प्रकाश डाला है। सर [illegible] की पुस्तक 'नेशनालिटि: नेशनल एंड इंटरनेशनल' पृ० [illegible] २१-२ भी देखिए।

काल एण्ड क्योर' लिखी है। परन्तु रूसो और एडवर्ड कारपेण्टर दोनों इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सभ्यता की बुराइयों का उपचार अधिक सभ्य बनना ही है। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे वैसे ही इन लोगों को जिन कठिनाइयों और प्रणालियों का सामना करना पड़ा उन्हें स्पष्टतः जान सकेंगे।

भाग के सम्बन्धों की रूपरेखा

यह स्पष्ट है कि सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के बारे में जितना विवरण हम पहले प्रस्तुत कर चुके हैं पूर्ण रूप से वर्णन करने का प्रयास करें तो हमें एक व्यापक अध्ययन करना पड़ेगा। इस प्रकार की रूपरेखा में तो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्यों को ही स्पर्श किया जाएगा। अब आगे इसे उपखण्ड की उस प्रणाली से प्रारम्भ करना अच्छा रहेगा जो सरलतम एवं प्राकृतिक हो—जैसे परिवार। परिवार हमारी मूल प्रवृत्तियों की आवश्यकताओं से उत्पन्न होता है फिर भी कई तरीकों से यह लगभग सभी तरह की अच्छी व्यवस्था करता है और उच्चतम मानव की प्राप्ति करने में पूरी तरह से समर्थ होता है। फिर परिवार से शिक्षा-संस्था पर सरलता से पहुँचा जा सकता है। उससे फिर जीवन के औद्योगिक रूपों पर भी आ सकते हैं। इसके उपरान्त राज्य के विषय में सावधानी से विचार किया जा सकता है। इससे न्याय की अवधारणा की ओर बढ़ा जा सकता है। फिर हम सामाजिक जीवन के विविध आदर्शों तक पहुँच सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जानकारी धर्म और संस्कृति के स्थान को हम तीसरे भाग के लिए छोड़ सकते हैं। उनमें निहित एकता की प्रणालियों को मूलतः पुस्तक के रूप में मानवता के संगठन से सम्बन्धित माना जाना चाहिए साम्राज्य-प्रणाली के संकुचित-संगठन से सम्बन्धित नहीं।

द्वितीय खण्ड

राष्ट्रीय-अवस्था

प्रथम अध्याय

परिवार

१ परिवार का प्राकृतिक आधार

मनुष्य के लिए परिवार प्राकृतिक है[1]। यह इस बात से पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि परिवार अधिकतर विभिन्न जन्तुओं के लिए भी प्राकृतिक होता है। यह स्पष्ट है कि जन्तु जीवन की उच्चतर श्रेणियों में शिशु-पालन का महत्त्व बढ़ता जाता है क्योंकि जन्म के समय वे अधिक-से-अधिक असहाय अवस्था में होते हैं और उनके उचित विकास के लिए अधिक-से-अधिक देख भाल की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु यहाँ पर यह बतलाना हमारे क्षेत्र के बाहर की बात है कि किस प्रक्रिया से—शायद प्राकृतिक या अन्य तरीकों से—माता-पिता की मनोवृत्तियाँ इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए अपने आपको समायोजित करती रहती हैं। पर यह समझ लेना हमारे लिए यहाँ काफी होगा कि सामान्यतः ये पारिवारिक एकता के किसी रूप के द्वारा ही पूरी की जाती हैं। लालन-पालन के लिए आवश्यक प्रारम्भिक भार कोयल द्वारा बच्चों के पालन के असाधारण अपवाद को छोड़कर सामान्यतः माता-पिता पर ही रहते हैं। कभी-कभी तो पालन का भार केवल माता पर ही रहता है और बहुत बार उसे अकेले ही सब कुछ करना पड़ता है। परन्तु सामान्यतः कुछ अंशों में पिता पर भी यह भार रहता है। इस बात को हम परिवार का प्राकृतिक आधार कह सकते हैं। अब इससे सम्बन्धित यह प्रश्न उठता है कि इस प्राथमिक लक्ष्य की पूर्ति किन सर्वोत्तम तरीकों से हो। इस उद्देश्य के लिए एक पत्नी वाले परिवार सर्वोत्तम सिद्ध होते हैं। परिवार में एक अकेले होने के कारण माता-पिता सामान्यतः आवश्यक कार्य में पूरे दिल से लग जाते हैं और पूरा सहयोग करते हैं। यह स्वीकार करना पड़ता है कि यदि निम्नवर्ग में परिवार के प्राकृतिक आधार को हम देखें तो कुछ चिड़ियों की जातियों में प्रधानतः यह दिखाई देगा कि पारिवारिक जीवन का यह रूप अपने

---

[1] पारिवारिक-प्रश्न पर श्रीमती बोसांके ने अपनी पुस्तक 'फैमली' में बहुत विस्तृत ढंग से प्रकाश डाला है।

आपमें काफी पूर्ण है परन्तु अन्य दृष्टिकोण से यह मानव-जीवन के अधिक निकट नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है जैसा हम पहले भी कह चुके हैं ऐसा सोचने के लिए कोई भी स्पष्ट कारण नहीं है कि परिवार हमारे लिए सबसे अधिक प्राकृतिक ढंग है। परन्तु वास्तव में कुछ चिड़ियाँ मनुष्य-जाति के बहुत करीब होती हैं—विशेषतौर से बच्चों की देख भाल और उनके जीवन की तैयारी की आवश्यकता के रूप में समझा जा सकता है।[1] उड़ना अधिकतर चिड़ियों की प्राकृतिक उपलब्धि है जैसे मनुष्यों में चिन्तन करना। सामान्यतः छोटे बच्चे इन दोनों बातों के लिए नितान्त असमर्थ होते हैं अतः माता को लम्बे समय तक छोटे बच्चों पर ध्यान देना पड़ता है तथा पिता की सहायता की भी आवश्यकता पड़ती है। अतः मनुष्य-जीवन की विशेषताओं के बारे में अधिक विचार न करते हुए हम दृढ़ता के साथ यह कह सकते हैं कि एक विवाह अथवा पत्नी वाला परिवार साहचर्य का प्राकृतिक रूप है।

यह सत्य है कि परिवार का एक प्राकृतिक आधार है पर प्रश्न किया जा सकता है कि क्या इसका कोई परम्परागत आधार भी माना जा सकता है? इसके कई उत्तर दिए जा सकते हैं परन्तु ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ेंगे कुछ प्रश्न स्वतः स्पष्ट होते जाएँगे।

२ परिवार का परम्परागत पहलू

उनमें से एक को अभी प्रस्तुत किया जा सकता है कि जो बात चिन्तन से स्पष्ट होती है वह चिन्तन न करने वालों के लिए स्पष्ट नहीं होती। वास्तविक दृष्टि न रखने वाले लोगों के लिए बच्चा परिवार का किसी तरह से महत्त्वपूर्ण सदस्य नहीं है। हो सकता है उन परिवारों में बच्चा हो ही नहीं। अंगरेजी 'फैमिली' शब्द जिसका अर्थ परिवार करते हैं स्वयं अपने निज स्वरूप पर प्रकाश डालता है अपने विचार में हम उसे अवास्तविक कह सकते हैं। रोम में फैमुलस नाम का एक व्यक्ति पारिवारिक गुलाम था (अंगरेजी का स्वामी शब्द उसी स्थिति का स्मरण करवाता है) और 'फैमिलिया' का अर्थ मूलतः एक गृहस्थ से सम्बन्धित गुलामों के एक समूह से लिया जाता था। तत्पश्चात् फैमिली (परिवार) का अर्थ केवल गुलाम ही नहीं रहा परन्तु उस गृहस्थ में रहने वाले सभी भिन्न-भिन्न सदस्यों के अर्थ में लिया जाने लगा। इसके बाद सभी लोग कम या अधिक

---

१ यह संभव है कि चिड़िया वर्ग के जन्तु भी अपनी आनुवंशिक मनोवृत्तियों के द्वारा कुछ ऐसा ही अपना जीवन-संचालन अपने पैतृक-संरक्षण के बिना भी करते हैं परन्तु इस प्रवृत्ति का प्रचुर रूप से अतिरंजन किया गया है। इस विषय पर कुछ रोचक सामग्री बेन्जामिन किड महाशय की मृत्यु के उपरान्त उनकी प्रकाशित 'साइन्स ऑफ पावर' पृ० ७०-७२ में और डाक्टर मारगन की 'हैबिट एण्ड इंस्टिंक्ट' पृ० १२२ देखें।

मात्रा में उस परिवार के मुखिया की सम्पत्ति समझे जाने लगे और जो मुखिया होता था वह बच्चा न होकर पिता होता था। परिवार का यही रूप हम कुछ ग्रंथों में बाइबिल के दस आदेशों में भी देखते हैं— तुम अपने पड़ोसी के घर की ओर लालच-भरी दृष्टि से न देखो। तुम अपने पड़ोसी की स्त्री अपने पड़ोसी के सेवक सेविकाओं बैल गधे और अन्य वस्तुएँ, जो उसकी हैं, उनकी ओर भी लालच भरी दृष्टि से नहीं देखोगे। यह महत्त्व की बात है कि यहाँ बच्चों का कुछ भी संकेत नहीं किया गया। क्या इस आदेश का रचयिता बच्चों को अपने पड़ोसी की वस्तुओं में स्थान देते हुए लज्जा का अनुभव करता था? अथवा क्या उसने यह मान लिया था कि बच्चे ऐसी वस्तुएँ ही नहीं हैं जिनकी ओर कोई लालच-भरी दृष्टि से देखने की चेष्टा कर सकता है? यह भी ध्यान देने की बात है कि माता-पिता को सम्मान देने वाले आदेश की रचना की गई, परन्तु बच्चों की ओर ध्यान देने वाले किसी एक भी आदेश की रचना नहीं की गई। सम्भवतः यह सोच लिया गया होगा कि प्रकृति स्वयं इस बारे में शिक्षा देगी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अब हम एक मनुष्य के परिवार को उसके गुलामों के रूप में नहीं देखते और कुछ अंश में हमने उसे उसकी सम्पत्ति के रूप में भी सोचना छोड़ दिया है। परन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इसके बारे में सोचने का जो सामान्य ढंग है वह अब भी बहुत कुछ सोचने के पुरातन ढंग से प्रभावित है। यदि परिवार पिता की सम्पत्ति है तो वह अन्य सम्पत्तियों से अलग क्यों समझा जाता है? यदि पिता अनेक बैल और बच्चे रखने का अधिकारी है तो वह अनेकों पत्नियों को रखने का अधिकारी क्यों नहीं? यदि वह अपने एक बैल को बेच सकता है और दूसरे को खरीद सकता है तो वह अपनी स्त्री का भी विनिमय क्यों नहीं कर सकता? और यदि हम स्त्रियों की समानता को मानते हैं तो फिर हम पूछ सकते हैं कि वे दोनों इस सम्बन्ध को एक के अथवा दोनों के सहमत होने पर समाप्त क्यों नहीं कर सकते? इस दृष्टिकोण से देखने पर हम साहचर्य-प्रणाली में कोई भी प्राकृतिक रुकावट नहीं पाते। विवाह केवल एक कृत्रिम संविदा दिखाई देता है वह किसी भी धर्म में एक धार्मिक बन्धन नहीं है। प्रधानतः इसी रूप में परिवार को परम्परागत समझा जा सकता है और उसका दृढ़ आधार प्राकृतिक नहीं माना जा सकता। उत्कर्ष के पश्चात् हम उसका पतन भी देख सकते हैं।

इस आधार पर परिवार का विश्लेषण कर लेने पर भी हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि उसका कुछ प्राकृतिक आधार भी है। इसका वर्णन हम बाद में करेंगे। इससे पहले हम इसे कुछ दूसरे ढंग से प्रस्तुत

करेगे जो उसके आधारभूत रूप की ओर अधिक दृढ़ता से ध्यान आकर्षित करेगा ।

१ अथवा केन्द्र के रूप में

बच्चे को परिवार के प्राकृतिक आधार के रूप में रखकर जीवन के लिए उसे तैयार करने को इस साहचर्य-प्रणाली का प्राथमिक कार्य समझ सकते हैं । यदि परिवार को हम एक छोटा-सा राज्य मानें तो बच्चा उसका सर्वप्रभु है[१] परन्तु वह अपने मन्त्रियों द्वारा शासन करता है । उसकी इच्छाओं की पूर्ति अनिवार्यतः नहीं होती विशेषतया जब परिवार में बहुत से बच्चे होते हैं । परन्तु ऐसे लगता है कि परिवार का सामान्य कार्य मूलतः बच्चे के पोषण के लिए सर्वोत्कृष्ट अवस्था का प्राप्य है जिसमें से संभव—उत्तम वस्तुएँ प्राप्त करना है । यह सब कुछ बच्चे को विशाल समुदाय का एक नागरिक बनाने की तैयारियों के दृष्टिकोण से किया जाता है। परिवार के जीवन में निहित दूसरे कार्य स्वभावतः इस आधारभूत अवधारणा के अधीन ही समझे जाने चाहिए। यह निश्चय करना सरल नहीं है कि किस तरह और किन अर्थों में वे प्राकृतिक रूप से उसके अन्तर्गत आते हैं। वे विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं फिर भी यहाँ इस बारे में कुछ सामान्य संकेत देना आवश्यक होगा ।

हम इस विचार को दृढ़ता से अस्वीकार कर सकते हैं कि बच्चों का पालन करना परिवार का प्राकृतिक अथवा तर्क-सिद्ध आधार है। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिसे तर्क द्वारा प्रथम स्थान मिलता है उसे समय की गति मुश्किल से ही प्रथम स्थान देती है, और महत्त्व के दृष्टिकोण से भी वह प्रथम नहीं रह सकता । परिवार का आधार दो विरोधी लिंग वाले व्यक्तियों के विवाह के बंधन में बन्धने से स्थापित होता है । इस प्रकार के किसी साहचर्य का परिणाम बच्चे होना आवश्यक नहीं और यदि ऐसा हो भी जाता है तो दम्पति को बच्चों के पालन-पोषण के लिए आपसी सहयोग की आवश्यकता पड़ती है । अतः बच्चों के पालन-पोषण की अपेक्षा दो उभय लिंगी व्यक्तियों के प्रेम को ही परिवार का मौलिक आधार मान लिया जाए तो वह अप्राकृतिक नहीं होगा । वास्तव में यह एक प्राकृतिक आधार है । हम यही पशु-जीवन में भी देखते हैं तथा मनुष्य के जीवन में भी ऐसा पाते हैं । परन्तु परावर्तन के बाद ऐसा लगता है कि यह साधारणतः दूसरे आधारों का सहायक है । एक ही लिंग के दो व्यक्तियों में घनिष्ठ प्रेम हो सकता है भाई या

१　इसका भाव करने अभिभावकों द्वारा शासन करने वाले सर्वप्रभुत्व सम्पन्न बनाना के अर्थ में लिया जाना चाहिए, न कि स्वतन्त्र रूप में ।

मनुष्यों में भी ऐसा हो सकता है। यह एक सुखद और महत्त्वपूर्ण साहचर्य का रूप भी धारण कर सकता है परन्तु उसे परिवार नहीं कहा जा सकता। बच्चों के पालन-पोषण की संभावना ही विवाह को अन्य साहचर्यों से पृथक करती है। यह उन्हें उन साहचर्यों से पृथक करती है जो व्यक्तिगत आकर्षण पर आधारित होते हैं और यह स्पष्ट है कि विवाह का आधार भी सदा यही नहीं होता। अतः यद्यपि बच्चों के पालन-पोषण पर आधारित सहयोग की अपेक्षा दो प्रौढ़ों के मध्य प्रेम कभी-कभी एक सुन्दर और महत्त्वपूर्ण मेल को जन्म दे सकता है फिर भी वह तत्त्वतः एक परिवार का आधार नहीं बन सकता।

फिर यह भी ध्यान देने की बात है कि बच्चे की वृद्धि का एक लम्बा समय माता पर भारी बोझ होता है विशेषतः यह तब और भी बढ़ जाता है जब परिवार बड़ा होता है और उसके साधन सीमित। यह स्वाभाविक है कि इस कार्य की पूर्ति में पिता का सहयोग भी होना चाहिए। हम पशु-जगत के व्यवहार से ऐसे अनेकों उदाहरण दे सकते हैं। यह सहयोग कुछ अंशों में बच्चों के पालन-पोषण के लम्बे वर्षों से भी अधिक वर्षों तक बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। पशुओं में ऐसा बहुत कम मिलेगा कि जब बच्चे बड़े हो जाते हों तो वे अपने पालन-पोषण का कोई बदला चुकाते हों परन्तु मानव-जीवन में यह स्वाभाविक है। कभी कभी शायद विशेषतः जापान (बच्चों के स्वर्ग के रूप में वर्णित देश) में बच्चों के पालन-पोषण की अपेक्षा परिवार के इस पहलू पर बहुत अधिक बल दिया गया है (जो कुछ अर्थों में निस्सन्देह प्राकृतिक है)। पशुओं में भी अपने हित के प्रति कृतज्ञता का भाव देखा जाता है। कम-से-कम यह भिन्नता का प्राकृतिक आधार बनता है। बूढ़ों को सहायता की विशेष आवश्यकता होती है अतः यह उचित ही है कि वे उन लोगों से सहायता प्राप्त करें जिनका उन्होंने पालन-पोषण किया है। परन्तु यह आवश्यक भी नहीं कि ऐसी सहायता अवश्य ही ली जाए। संभवतः उन्होंने अपनी वृद्धावस्था के लिए काफी कुछ बचाकर रखा हो अथवा जिस समाज में उन्होंने सेवा-कार्य किया है वे उससे भी सहायता प्राप्त कर सकते हैं। कुछ भी हो इस विवेचन से हम इस तथ्य का महत्त्व कम नहीं होने देंगे कि बच्चों का पालन-पोषण परिवार का मूल आधार है।

इस विश्लेषण से यह अनुमान कभी नहीं लगा लेना चाहिए कि बच्चों के अभाव में विवाह निरर्थक होता है। इस विषय पर हम फिर शीघ्र ही विचार करेंगे।

परिवार के प्राकृतिक आधार पर बात करते समय बच्चों के सही अंश पर

उत्पन्न होने के महत्व को समझना जरूरी है। इन वर्षों में इस विषय पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया है।[1] प्लेटो ने इस पर बहुत बल दिया है बल्कि अधिक दृढ़ता से और संभवतः कठोर रूप में। निश्चय ही

४ सौजनिकी

अच्छा प्राकृतिक रूप से बादशाह यदि संभव हो सके तो प्रत्येक मत में एक बादशाह होना चाहिए। निम्न वर्ग के जन्तुओं में जीवन की परिस्थितियों का सामना करने में असमर्थ बच्चे पिता द्वारा ध्यान देने पर भी शीघ्र ही मर जाते हैं। इसके विपरीत बुद्धिमत्तापूर्वक औषधि आदि का प्रयोग और सही पालन-पोषण से मानव बच्चों की जीवन रक्षा होती है अन्यथा उनकी वृद्धि असंभव हो जाए। कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि इस तरह के संरक्षण से मानव-जाति का ह्रास होता जाएगा और ऐसा लगता है कि कुछ धर्मों में इसी कारण से बच्चों के विगोपन की प्राचीन पद्धति का प्रयोग हुआ था। परन्तु यह निश्चय करना सरल नहीं है कि जो बातें निम्न वर्ग के जन्तुओं के लिए सही हैं वे कहाँ तक मनुष्य जाति के उपयुक्त हैं। कुछ मनुष्य जिनके प्रति मानव-जाति बहुत अधिक ऋणी है सम्भवतः विगोपन किया से वे बचपन में ही मृत्यु के ग्रास बन जाते। कुछ ऐसे बच्चे भी होते हैं जिनका परिवार नहीं होता परन्तु उनके संरक्षण में मानव जाति को कुछ भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता। आधुनिक सौजनिकी का अध्ययन करने वालों का कहना है कि अनुचित विवाहों को रोकने के लिए कुछ कार्यवाही करनी चाहिए। यह एक ऐसी बात है कि स्पष्टतया कुछ रोगी लोगों को छोड़ कर सरलता से कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता परन्तु ऐसे विवाहों के लिए विशेष प्रोत्साहन दिया जा सकता है जिनसे अच्छे परिणामों की आशा हो। यह सन्देहात्मक है कि सौजनिकी इतना विकसित हो गया हो कि इस दिशा में वह उत्तम मार्ग प्रदर्शन कर सके परन्तु भविष्य में वह ऐसा करने में समर्थ हो सकता कि आवश्यक ज्ञान के आधार पर वांछित प्रोत्साहन दे सके। परन्तु इस विषय में अधिक लिखना हमारे विषय से बाहर की बात है।[2]

विवाह के सामान्य विषय को लेकर यहाँ कुछ और दृष्टिकोण रखेंगे।

---

१. इस विषय को महत्व देने वालों में गाल्टन महोदय प्रथम थे परन्तु अब तो यह विषय बहुत सामान्य रूप से अध्ययन की एक महत्वपूर्ण शाखा के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुका है।

२. प्रा० जे बी हेल्डेन की पुस्तक 'डारविनिज्म एण्ड ऐम प्रायम' हाकर मनोरंजन स्मरणीय है। रसेल की पुस्तक 'एजुकेशन एण्ड पॉलिटिक्स' की भूमिका भी स्मरणीय है।

परिवार के मूल-आधार की महत्ता के कारण विवाह को एक विशेष पवित्रता और स्थायित्व प्राप्त होता है। स्वयं प्रकृति द्वारा प्रदत्त शक्तियाँ इसे अपूर्व बल देती हैं। यदि पशु-जगत में मानव-विवाह

५ विवाह

जैसी कोई बात हो तो उसे भी सरलता से हटाया नहीं जा सकता। स्त्री-पुरुष वास्तव में एक-दूसरे के पूरक होते हैं और उनके मध्य प्राकृतिक आकर्षण उनके स्वाभाविक साहचर्य को कमजोर करने की अपेक्षा उसे दृढ़ बनाता है। रोमान्टिक लेखकों ने इस प्रवृत्ति के प्रति कुछ अतिशयोक्ति से काम लिया है और उसकी प्रतिक्रिया में कुछ अन्य लेखकों ने संभवतः अनुचित रूप से इसकी शक्ति को कम किया है। इस में सन्देह नहीं कि मानव प्रकृति अधिकांश जन्तुओं की प्रकृति की अपेक्षा अस्थिर है। स्त्री और पुरुष दोनों के स्वभाव में तथा उनके चिन्तन और अनुभूति के ढंग में परिवर्तन आना सम्भव है। और ऐसा परिवर्तन शीघ्र ही उनके विवाह-बन्धन को समाप्त करने की इच्छा की ओर भी प्रेरित कर सकता है। वास्तव में इस सन्देह के कारण है कि मनुष्य जो जन्तु वर्ग के अति निकट है उनमें से एक है जिन्हें प्रकृति ने इस प्रकार स्थायी साहचर्य के उपयुक्त बनाया है। इस विचार के कई आधार हैं और यह वांछनीय भी है कि हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को धर्म कानून आदि कृत्रिम बन्धनों द्वारा स्थायित्व की ओर प्रेरित किया जाए। अभी हाल के वर्षों में इस बात की ओर प्रेरित करने की प्रवृत्ति रही है। इन नियमों पर बहुत बल दिया जाता रहा है और इस बात की माँग की जाती रही है कि तलाक की अधिक सुविधाएँ दी जाएँ। यह ध्यान देने योग्य बात है कि कुछ देशों में—जैसे जापान में इस तरह की कानूनी सुविधाएँ एक लम्बे काल से प्राप्त थीं अब वहाँ भी इन बन्धनों को मजबूत करना वांछनीय समझा गया है[1]। प्राथमिक महत्व की बात तो बच्चों की पर्याप्त देख-भाल है और यह बहुत-कुछ अंशों में माताओं पर आधारित है। परन्तु यह कार्य तब कठिन होता है जब विवाह-बन्धन में साधारणतः शिथिलता आने लगती है। यह एक कठिन विषय है और यहाँ व्यापक वर्णन कठिन है।

बच्चों के पालन-पोषण का अर्थ मूलतः उचित भोजन पानी विश्राम वायु, प्रकाश तथा अन्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति द्वारा जीवन और स्वास्थ्य की रक्षा में है। परन्तु आत्मिक वृत्तियों के

६ परिवार के सौंदर्यिक कार्य

विकास, विशेषतः मति और अभिव्यक्ति की आवश्यकताओं पर भी विचार किया जाना चाहिए। और यह भी स्वभावतः परिवार की परिधि में ही आ जाता है

---

१. इस विषय पर श्री ए. आर. पी. पोर्टर की पुस्तक जापान : दि न्यू वर्ल्ड पावर पृ० ८ देखिए।

कि वह बच्चे को माता का प्रारम्भिक प्रयोग और इच्छाओं को संयम में रखना (यहाँ तक हो सके आत्म-संयम) तथा सामाजिक शिष्टाचार के मूल सिद्धान्त सिखाए। उन्हें कुछ अंशों में दूसरों को ही सौंप देना चाहिए। उच्च वर्ग के सम्बन्ध में अपने आदर्श-समाज में प्लेटो ने यह सुझाव रखा कि है कि ये सब कार्य जनता के अधिकारियों को सौंपे जाने चाहिएँ। पर वह औद्योगिक-वर्ग के लिए ऐसा सुझाव नहीं देता परन्तु कुछ लोग आजकल साधारण सिद्धान्त के रूप में इसका समर्थन करने को तैयार दिखाई पड़ते हैं। परन्तु बच्चों को दूसरों को सौंपने की यह पद्धति प्रकृति के विरुद्ध दिखाई पड़ती है। माँ-बाप का स्वाभाविक स्नेह विशेषतः माताओं का अपनी सन्तति के प्रति वह स्नेह—जो निम्न वर्ग के जन्तुओं में आकर्षण होता है इस बात की सच्चाई को प्रमाणित करता है कि दूसरा कोई भी किसी भी हालत में उनकी प्रारम्भिक असहाय अवस्था में पालन करने में समर्थ नहीं हो सकता। यह भी स्वीकार करने की बात है कि कुछ माता पिता में यह स्नेह तुलनात्मक रूप में कम होता है और कभी-कभी अन्य लोगों में जो माता-पिता नहीं होते उनसे भी अधिक मात्रा में मिलता है। यह भी स्वीकार करने की बात है कि बच्चा के पालन-पोषण के लिए प्राकृतिक स्नेह और सहानुभूति ही पर्याप्त मार्ग-दर्शक नहीं कहला सकते। वे लोग जिन्होंने बच्चों और उनकी आवश्यकताओं के बारे में विशेष अध्ययन किया है कई कारणों से उनके साथ व्यवहार करने में अधिक सफल हो सकते हैं। परन्तु यह सन्देहास्पद है कि यह बात जीवन के प्रारम्भिक वर्षों के लिए सामान्यतया लागू हो सकती है। ऐसे प्रश्नों का हल खोजते समय इस बात पर विचार करना ठीक रहेगा कि सामान्य परिस्थितियों में सन्तोषजनक ढंग क्या हो सकता है। असाधारण मामलों पर उनकी स्थिति के अनुसार बाद में विचार होगा। स्पष्टतः जब माता या पिता या दोनों मर जाते हैं अथवा भयंकर रूप से बीमार या असमर्थ होते हैं अथवा उनके लिए घर छोड़ना जरूरी होता है अथवा बच्चा अपने माता-पिता से स्वभाव में एकदम भिन्न प्रकृति का होता है तो ये परिस्थितियाँ असाधारण कहलाती हैं और उनके लिए असाधारण उपचार की आवश्यकता होती है। परन्तु यह कहना सही होगा कि माता-पिता के ध्यान से रहित कोई भी दूसरा प्रबन्ध उत्तम वैकल्पिक प्रबन्ध नहीं कहला सकता। यहाँ तक कि जब बच्चे स्कूल जाते हैं तब भी परिवार शिक्षा के बहुत से महत्त्वपूर्ण पहलुओं के लिए प्राकृतिक केन्द्र के रूप में दिखाई देता है विशेषतः स्वभाव और स्नेह के सम्बन्ध में।

व्यापक अर्थ में परिवार शैक्षणिक प्रभाव का एक प्राकृतिक केन्द्र भी है। इसमें माता पिता और बच्चे एक साथ कई विभिन्न तरीकों से शैक्षणिक लाभ उठाते हैं। हम दूसरों को शिक्षा देकर स्वयं सीखते हैं। अविकसित बच्चों को

विचार देने के प्रयास में प्रायः हमेशा समझाने वाले के विचारों का भी परिमार्जन होता है। इसके अतिरिक्त बच्चों के संसर्ग से एक प्रेरणा भी मिलती है—

एक शिशु अन्य सभी उपहारों से महान्।
जिसे भेंट देती है धरती पतनशील मानव को
लाता है वह अपने साथ आशाएँ और विकासोन्मुख विचार।

यहाँ तक कि जिन्हें ह्रासोन्मुख नहीं कहा जा सकता वे भी शिशु-जीवन के सम्पर्क से अपनी अनुभूति का विस्तार करते हैं। यह उनके लिए जीवनदायिनी चीज होती है यद्यपि नये जीवन की विचारधारा भी कभी-कभी निराशाओं से धूमिल हो जाती है, परन्तु वह उदार-शिक्षा के अंग के रूप में कभी नहीं चूकती।

दूसरा महत्त्वपूर्ण शैक्षणिक प्रभाव अन्तर-लैंगिक है। विभिन्न लिंगों में साधारणतः स्वभाव रुचि और विचार के दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट भेद होते हैं। प्रत्येक सुव्यवस्थित संगठन में इस प्रकार की भिन्नताएँ रहने पर भी लोग आपसी संसर्ग से बहुत कुछ सीखते हैं। और इसके साथ ही वे एक प्राकृतिक स्नेह और निकट साहचर्य में बन्धे रहते हैं। इस में संदेह नहीं कि इसी कारण से कुछ लोगों में मनभाव में एक-दूसरे से एकदम भिन्न होते हुए भी उनमें एकता का बंधन हो जाता है। सामान्य भिन्नता में भी प्रायः यही बात देखी जाती है। हेलन के बारे में टैनिसन कहता है कि वह बहुत धनवान था और मैं बहुत गरीब। परिवार के इस पहलू का महत्त्व एक-पत्नी प्रथा के समर्थन में एक मजबूत तर्क है। बहु-पत्नीत्व में स्त्री की हीन स्थिति हो जाती है और उसमें व्यक्तिगत घनिष्ठता और बराबरी का भाव नहीं मिल सकता जो एक-पत्नीत्व में संभव है। संभावना सदा ही वास्तविकता में परिणत नहीं होती इससे यह तर्क असत्य नहीं हो जाता है। सारांश में संस्थाओं का मूल्यांकन उनके अधिकाधिक लाभ के आधार पर किया जाना चाहिए।

परिवार के ये पहलू पूर्व-वर्णित जीवविज्ञान सम्बन्धी समस्याओं को लेकर प्रस्तुत किये गए हैं। यह स्पष्ट है कि ये सम्बन्ध जिनके विषय में हम विचार कर रहे हैं सरलता से नहीं बनते। स्मिथ का कहना है कि विवाहों का असफल रहना प्रधानतः इस कारण से होता है कि लड़कियों को एक परिधि की अपेक्षा एक ताना-बाना बनाना सिखाया जाता है। यह बताना हमारी सीमा के बाहर है कि इन खतरों से मुक्ति कैसे पाई जाए। परन्तु यह कहा जा सकता है कि अन्तर्लिंगी संसर्ग की समस्याओं का एक न्याय-युक्त समाधान होना चाहिए क्योंकि उनका बच्चों की सामान्य-शिक्षा में एक महत्त्वपूर्ण एवं स्थायी स्थान होता है। इस विषय में आजकल काफी ध्यान दिया गया है।

हमें यहाँ इस सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।[1]

परिवार के जीवन में जैसा हम देख चुके हैं कि आर्थिक पहलू का भी बहुत बड़ा महत्त्व है। जैसे बच्चों का पालन विशेषतः प्रारंभिक स्तरों में माता पर आकर पड़ता है वैसे ही उनका आर्थिक पोषण पिता पर आधारित होता है। यह बात भिन्न वर्ग के प्राणियों के बारे में भी कुछ अंश में सत्य है। जहाँ तक यह मनुष्य-जीवन के लिए आवश्यक है यह विभिन्न काल और विभिन्न प्रदेशों के अनुसार बहुत भिन्नतापूर्ण होती है। यहाँ तक कि एक ही काल में एक ही देश के समाज के अलग-अलग वर्गों में भिन्नता आ जाती है। कुछ परिस्थितियों में विवाहों का आयोजन आर्थिक आधारों पर होता है और यदि ऐसा नहीं भी होता तो भी आर्थिक पहलू का महत्त्व मुश्किल से ही कम हो पाता है। यह भार तभी कम हो सकता है जब राज्य की ओर से माता को लाभभाग प्राप्त हो परन्तु इससे समस्या का पूरा हल नहीं हो पाता।

७ परिवार के आर्थिक-कार्य

परिवार की आर्थिक आवश्यकताएँ कई बार पारिवारिक एकता में बाधक होती हैं और वे शैक्षणिक कार्य में भी बहुत अधिक बाधा उपस्थित करती हैं। जीवन की आदिम परिस्थितियों में परिवार अपने घर में या निकटस्थ पड़ोसी के यहाँ परिश्रम करके काम चला लेता था। परन्तु जीवन की बढ़ती हुई समस्याओं ने आज इसे मुश्किल बना दिया है और यह स्थिति अब इतनी सामान्य नहीं रही है[2]। आज का जटिल समाज इसकी क्षतिपूर्ति बाजारों की सुविधाओं तथा अन्य सुविधाओं द्वारा पूरी करता है। इन परिस्थितियों में भी परिवार आत्मनिर्भर नहीं कहा जा सकता। इसकी पूर्ति के लिए पिता निरन्तर परिवार से दूर रह सकता है परन्तु परिवार के प्रति उसका जो कर्त्तव्य है पारिवारिक जीवन को प्रभावित किये बिना उसमें थोड़ा भी अन्तर नहीं पड़ सकता। माता घर से बाहर काम करने जा सकती है, और साधारणतः यह एक ऐसा दोष है जिसका इलाज होना चाहिए। कई बार आर्थिक ध्येय की पूर्ति के लिए बच्चों को भी काम करना पड़ता है जब कि उनकी शक्तियाँ वृद्धि और शिक्षा के लिए सुरक्षित रहनी चाहिएँ। कुछ भी हो ऐसी परिस्थितियों में परिवार अपने शैक्षणिक कार्य के पहलू से गिर जाता है।

आर्थिक इस की एक और कठिनाई पर भी यहाँ ध्यान दिया जाना

---

१ श्री ए. टन्स एम की पुस्तक 'मैरेज ऐण्ड दि फैमिली' का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है।

२ [illegible]

चाहिए। पहले हम कह चुके हैं कि फिलेसिया का धर्म गृहस्थ से सम्बन्धित गुलाम होता था। यद्यपि उसका अब कुछ भी महत्त्व नहीं रहा है फिर भी इस पुराने वर्ग के कुछ इसके चिह्न आज भी विद्यमान हैं। शील-धर्म यदि उसका सावधानीपूर्वक ध्यान न रखा जाए तो साधारणतः पुरानी भृत्यिक प्रवृत्तियों का द्योतक है। अच्छी परिस्थितियों में अन्य किस्म की सेवाओं की अपेक्षा पारिवारिक सेवा-भाव में ये बातें कम होती हैं परन्तु यह परिस्थितियों और विशेषतः सम्बन्धित व्यक्तियों पर अधिक निर्भर है। इससे सम्बन्धित घनिष्ठ सम्बन्ध कुछ अंशों में दोनों तरफ ही कष्टकर होता है। कुछ लोगों का सुझाव है कि यह दोष साहचर्य में आबद्ध घरों में दूर हो सकता है[1] और यह भी स्पष्ट है कि इस विधि को इस समय अधिक व्यापक पैमाने पर प्रयोग में नहीं लाया जा सकता है। यह हो सकता है कि पहले कुछ लोग और बाद में क्रमशः अन्य लोग भी देखा-देखी इसे अपना लें। कम-से-कम यह स्पष्ट है कि जितना कम हम परिवार से संबंधित पुरानी अवधारणा का प्रयोग करेंगे और जितना अधिक हम परिवार को प्रेम के सिद्धान्त और शिशु के लालन पोषण की विचार-धारा पर आधारित करेंगे उतनी ही उसके वास्तविक ध्येय की पूर्ति होगी।

जो बहुत से विचार प्रस्तुत किए जा चुके हैं उनके द्वारा हम समझ सकते हैं कि परिवार की जड़ें अधिकांश में मानव प्रकृति में स्थिरतर हैं फिर भी कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हैं जो इसे कमजोर बनाती हैं और

■ परिवार की कमजोरियाँ

कभी-कभी प्रभावहीन भी बना देती हैं। इन मुख्य मुख्य कमजोरियों के सम्बन्ध में यह संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। यह कहा जा सकता है कि अनका उनके संघर्षों से सम्बन्ध है जो परिवार और मानव जीवन के अन्य महत्त्वपूर्ण अंगों के मध्य उठ खड़े होते हैं। अन्य प्रधान अंगों में उद्योग वाणिज्य राजनीति धार्मिकता तथा व्यापक रूप में प्रयुक्त होने वाली संस्कृति को लिया जा सकता है। उनमें से प्रत्येक का संक्षेप में वर्णन किया जा सकता है

(क) औद्योगिक पहलू को परिवार की एकता के बाधक के रूप में हम देख चुके हैं। बल्कि यह एक परिवर्तित पहलू है अर्थात् पारिवारिक एकता भी औद्योगिक-विकास में बाधक है जिस पर हम यहाँ प्रकाश डालेंगे। परन्तु ये दोनों प्रभाव एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। यदि औद्योगिक कारणों से पारिवारिक एकता में बाधा पहुँचती है तो यह भी अनिवार्य है कि पारिवारिक एकता औद्योगिक विकास में बाधक होगी। यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्लेटो

१ इस विषय में मिस डी० एच० मोरगन के लेखों का उल्लेख किया जा सकता है।

जो परिवार के सामान्य-विश्लेषण से कठोर है इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई विशेष कठिनाई अनुभव नहीं करता जीवता। वास्तव में इससे उसका मतलब यह नहीं था कि उसके आदर्श-समाज में औद्योगिक-वर्ग के परिवार का जीवन बाधायुक्त होगा। उसने यह माना है कि सामान्यतया बच्चे अपने माता-पिता के काम-धन्धे का अनुकरण करें। यदि बच्चा छोटी अवस्था में भिन्न वर्ग वालों के साथ मिला नहीं दिया जाता तो कम-से-कम वह अपने पैतृक कार्यों से बहुत पृथक न होगा। इस प्रकार वे अपने इन औद्योगिक कार्यों के लिए घर पर तैयार होंगे अथवा शिक्षार्थी के रूप में सीखेंगे। आदिम समुदायों और अल्प विकसित देशों के अपेक्षाकृत अल्प-विकसित औद्योगिक क्षेत्रों में भी यही प्रथा अब भी चालू है परन्तु औद्योगिक जीवन की प्रकृति प्रतिदिन इसकी संभावना को कम करती जा रही है। यह सत्य सिद्ध होता जा रहा है कि कोई भी व्यक्ति किसी विशेष कार्य के साथ सम्बन्धित होकर जन्म नहीं लेता और सभी वृत्तियाँ सभी नागरिकों के लिए खुली हैं। इसे व्यवहार्य बनाने के लिए सामान्य अथवा विशेष प्रकार की उचित शिक्षा उन लोगों को भी दी जानी चाहिए जिनका कार्य औद्योगिक ढंग का है इससे बच्चों के जीवन पर काफी प्रारंभिक अवस्था में घर का प्रभाव छूट जाता है और यदि पारिवारिक जीवन में यह समय न हो तो परिवार को सहायक की अपेक्षा बाधक माना जाएगा। यह कठिनाई आगे आने वाली कठिनाई से घनिष्ठता से सम्बन्धित है और इसे उसके विशेष पहलू के रूप में माना जा सकता है आगे हम उसी पर प्रकाश डालेंगे।

(ख) परिवार और राज्य के बीच संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। पारिवारिक जीवन विषयक प्लेटो की आलोचना का मुख्य आधार यही था। उसने कहा कि जो लोग विशेषतः राज्य की सुरक्षा और सरकार से सम्बन्धित होते हैं उन्हें परिवार के सीमित स्वार्थों से मुक्त कर देना चाहिए। अब और कम से-कम आधुनिक प्रजातन्त्र में यह मान लिया गया है कि राज्य के कल्याण के लिए औद्योगिक कार्य का भी उतना ही महत्त्व है जितना सैन्य-शक्ति का। और प्रत्येक व्यक्ति राज्य के लिए योग्य सरकार चाहता है। अतः विभिन्न वर्गों में बहुत काल तक अधिक भेद नहीं ठहर सकता परन्तु यह सत्य है कि एक व्यक्ति पर परिवार और राज्य के दावों के बारे में संघर्ष हो सकता है। राज्य के इस दावे से कि वह अपने नागरिकों के लिए उचित शिक्षा का प्रबन्ध करे जिससे वे विशाल-सामुदायिक जीवन के अपने दायित्व को पूरा करने के योग्य हो सकें। परिवार के इस दावे से जोरआजमाई होती है कि उसके दृष्टिकोण से उस पर पर्याप्त नियन्त्रण रहना उचित है। इस सम्बन्ध में परिवार के आवश्यक कर्तव्यों को जान लेना महत्त्वपूर्ण होगा। इस कठिनाई का समाधान

तभी हो जाता है जब इस सिद्धान्त को मान्यता दे दी गई कि माता पिता का अधिकार परोपकारी शासक का-सा है अर्थात् बच्चा राज्य की प्रजा (उसमें भी अंततः आंशिक स्वतंत्रता प्राप्त होती है।) सबसे ऊपर परिवार का अधिपति है।

(ख) मैत्री अथवा साथीपने के दावे भी परिवार की एकता के कुछ प्रतिकूल होते हैं। परिवार जिसके द्वारा रक्षित एक उद्यान के समान है और सदा इस बात का भय है कि वह वनस्पतियाँ रखने के शीशे के मकान का रूप बनकर न रह जाए। विशेषतः ऐसा तब होता है जब आवास की कमी होती है और इन अवस्थाओं में आवास समस्याएँ प्रमुखता ग्रहण करती हैं। मानव की एक प्राकृतिक आवश्यकता के रूप में भी मैत्री या साथीपन की इच्छा ही होती है जो उसे परिवार के संकुचित घेरे से निकाल कर क्लब या अन्य सार्वजनिक स्थान तक ले जाती है[1]। पारिवारिक जीवन और मानव के व्यापक भ्रातृत्वपूर्ण जीवन के दावों के मध्य उचित सन्तुलन खोजना मानव जीवन की महान् कठिनाइयों में से नहीं परन्तु वास्तविक कठिनाई तब आती है जब दो विरोधी लिंग वालों में मैत्री होती है। ऐसे मामलों में पारिवारिक सीमाओं पर अनुशासन से दबाव का अधिक भय होता है। इन कठिनाइयों का समाधान मैत्रीपूर्ण समागम के अधिक अवसर प्रस्तुत करना ही है।

(ग) उद्योग राज्य और मैत्रीपूर्ण समागम के दावों के अतिरिक्त धर्म कला विज्ञान और अन्य मानवीय रुचियाँ जिन्हें सांस्कृतिक कहा जाता है भी कुछ अंशों में परिवार के प्रतिकूल जाती हैं। कलाकार तो अपने को समाज के बंधनों से एकदम मुक्त मानता है। वह परिवार के तुच्छ हितों से बद्ध होने के कारण अपने को अशक्त पाता है। प्रायः आर्थिक आवश्यकताएँ कलाकार की स्वतन्त्र रचनात्मक गतिविधियों को रोक देती हैं और उसके कलात्मक साक्षात्कार में बाधक बनती हैं। इसी तरह सन्त लोग तथा अन्यों ने अनुभव किया कि नैतिक और धार्मिक उन्नति के लिए समर्पणात्मक जीवन सीमित पारिवारिक परिधि में असंभव है। परन्तु पारिवारिक जीवन से अलग होना भी मानव-जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है संभवतः अन्त में कलाकार अथवा सन्त लोगों के आदर्शों पर भी परिवार का असर होता है। और यह इस संसार का दुर्भाग्य ही होता है कि श्रेष्ठ व्यक्ति अपने वंशज पैदा नहीं करते। "हम सुन्दरतम प्राणियों की वृद्धि चाहते हैं" गाल्टन अपनी पुस्तक 'हेरीडिटरी जीनियस' पृ० सं० ३४४ ५ में मध्ययुगीन धर्म के कार्यों द्वारा सभ्यता को जो हानि पहुँचाई गई उस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात कहता है "धर्म ने पहले सभी सीधे प्राणियों पर

---

१. इस विषय में चार्ल्स लैम्ब का एक कोमल निबन्ध जो 'घर घर ही है चाहे उसमें घर का सा वातावरण न मिले' नामक कविता पर लिखित है उसका यहाँ उल्लेख किया जा सकता है।

आधिपत्य किया और उन्हें ब्रह्मचर्य व्रत का अभिशाप दिया। दूसरी बार अपने विगत काल में प्रत्येक काल में मगन मछलियों के समान उन लोगों को पकड़ा जो अपने विचारों में निर्भय सत्यवक्ता और बुद्धिमान थे इसीलिए उच्च-समाज में वे एक श्रेष्ठ पिता बनने योग्य थे। चर्च ने उन पर एक रोक लगा दी यदि वह प्रत्यक्ष रोक न लगा सका तो उसने उनकी सन्ततियों के रूप में उन्हें अवरुद्ध कर दिया। फिर उसने भावी सन्ततियों के सुधार के लिए जिन लोगों का चुनाव किया था वे दुष्ट उदासीन और दुर्बल निकले।" यह संभव है कि माननीय महोदय के इस कथन में कुछ अतिरंजन है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति सोच सकता है कि वर्तमान-काल में पादरियों के लड़के-लड़कियों ने कितने महत्वपूर्ण कार्य किये हैं और इसी से समझा जा सकता है कि धर्माचार्यों को जबरदस्ती ब्रह्मचारी रखने से संसार को कितनी हानि उठानी पड़ी। पर यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि उनके इस जीवन से हमें बहुत-कुछ लाभ भी हुआ। उन्होंने मध्ययुग में अपने एकाकी चिन्तन और अपने बलिदान द्वारा हमें बहुत लाभ पहुँचाया है।

इस प्रकार की इन कठिनाइयों पर चिन्तन के कारण ही आधुनिक विचारक और प्लेटो जीवन की स्वतन्त्र-प्रणाली खोजने को विवश हुए। रसेल महोदय इस प्रकार के प्रस्तावों के पहले प्रचारक हैं[1]। परन्तु जाति प्रथा के कारण विभक्त समाज की भिन्नता को देखते हुए ऐसा नहीं हो सकता कि सबके लिए प्रथाएँ और कानून पृथक हों। शायद जीवन-सम्बन्धी उपर्युक्त विभिन्न दशाओं का एक सामान्य सरलीकरण सन्तोषप्रद सुलझाव प्रस्तुत कर सकता है। परन्तु हम इसका अध्ययन नहीं वर्णन करेंगे। कुछ भी हो जैसा श्रीमती बोसांके कहती हैं[2] यदि संसार में परिवार नहीं होता और उसके बिना यह संसार चलता भी रह सकता तो भी यह परिवार से प्राप्त होने वाली विशेष लाभों का अभाव न सह सकता था। जैसा भी यह एक मिश्रित संसार है इसकी कोई भी प्रतिच्छाया या अनुभूति की रेखा जो इसकी गहराई, पृथक्ता और वैभव का निर्माण करती है को इससे पृथक नहीं किया जा सकता। इसी तरह यदि प्रेम और सौन्दर्य और प्रकाश के पुञ्ज परिवार को इसलिए ही अस्वीकार किया जाता है कि वह कभी-कभी अप्रसन्न होता है तो इस तरह से आकाश से सूर्य को समाप्त करना होगा जो कभी-कभी बादलों से ढक जाता है।

---

१. इनकी पुस्तक 'प्रिन्सिपल्स आफ सोशल रिकन्स्ट्रक्शन' का ५ [illegible]।
२. 'फैमिली' पृ० सं० २५९।

द्वितीय अध्याय

शैक्षणिक संस्थाएँ

शिक्षा का अर्थ व्यापक व सीमित रूप से समझा जा सकता है। व्यापक अर्थ में यह एक ऐसी क्रिया है जो जीवन भर चलती रहती है और जीवन के प्रत्येक अनुभव से इसके भण्डार में वृद्धि होती है।

१ शिक्षा का सामान्य महत्त्व

शिक्षा को जीवन का मुख्य साध्य भी कहा जा सकता है[1]। इस तरह शिक्षा का अर्थ एक ऐसी सामान्य प्रक्रिया से लिया जाता है, जिससे व्यक्तित्व का विकास होता है तथा जिसके द्वारा व्यक्ति पारस्परिक और इस विश्व में जहाँ वे रहते हैं सम्बन्धों की जानकारी करते हैं। शिक्षा की इस व्यापक अवधारणा पर प्लेटो के 'रिपब्लिक' में अधिक जोर डाला गया है। प्लेटो के उस विवरण से स्पष्ट है कि जो लोग उसके आदर्श-समुदाय के उच्च-पदों पर आसीन होंगे उनका निर्माण और विकास किया जाए। परन्तु आधुनिक विचारकों की यह मान्यता है कि विशेष प्रकार के व्यक्तियों के लिए भी शिक्षा की कोई विशेष-पद्धति निकाल लेना संभव नहीं और पूरे समाज के लिए तो और भी कम संभव है।

शिक्षा को इन व्यापक अर्थों में समझने के बाद अब हम समझ सकते हैं कि उसका अधिकतर भाग अथवा कभी-कभी महत्त्वपूर्ण अंश भी—हमें अनजान में ही प्राप्त हो जाता है। शिक्षा हमें अपने जीवन की समस्याओं के समाधान प्रकृति के प्रभाव और अनुभवों दूसरे साथियों के साथ व्यवहार तथा प्रायः अपनी असफलता और कष्टों द्वारा प्राप्त होती है।

सीमित अर्थ में शिक्षा का अर्थ हमारी शक्तियों के विकास और सुधार के लिए चेतनापूर्वक किये गए प्रयासों से लिया जाता है। उदाहरणस्वरूप मर्द अपना प्रधान उद्देश्य अपनी पूर्ण-शक्तियों के पूरी तरह से अनावरण अर्थात् उन्हें प्रकट करना ही समझते थे। सम्भवतः उनका यह प्रधान उद्देश्य

---

१ शिक्षा के इस पहलू पर इसी पुस्तक में आगे आने वाले अध्याय १ व ३ में प्रकाश डाला गया है।

जीवन-भर चलता रहा। शेक्सपीयर भी वास्तव में अधिक विकास और पूर्णत्व को प्राप्त कर सकता था पर ऐसा दीखता है कि उसका यह विकास स्वतः अचेतनतापूर्वक ही संभव था। गेटे ने शिक्षा के लिए 'साभिप्राय' शब्द का प्रयोग किया है। इससे वह अचेतनतापूर्वक तथा एक विशेष निश्चित उद्देश्य से प्राप्त की गई शिक्षा में अन्तर उपस्थित करता है। परन्तु चेतनापूर्वक किए गए आत्म-सुधारों का जैसा कि गेटे महोदय ने किया था आम तौर से शिक्षा के रूप में वर्णन नहीं किया जाता। 'शिक्षा' शब्द सामान्यतः एक ऐसी प्रक्रिया के लिए प्रयुक्त होता है जिसे राज्य या परिवार अथवा अन्य किसी शक्ति के द्वारा अपने बच्चों के विकास के लिए एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य को लेकर चेतनापूर्वक आयोजित किया जाता है। उनका यह उद्देश्य बच्चों के व्यक्तित्व का सुधार कर सकता है अथवा नहीं भी कर सकता। यहाँ शिक्षा को उसके सीमित अर्थ में प्रयोग करना ही उचित होगा जिसमें निश्चित सामाजिक संस्थाओं का प्रादुर्भाव होता है। इसके व्यापक अर्थों पर अन्यत्र विचार करेंगे।

जब हम शिक्षा को इस सीमित अर्थ में लेते हैं तो इसका सामाजिक-महत्त्व इसे परिवार से राज्य को देने अथवा उस विशाल जन-समुदाय के हाथ में सौंप देने में समझा जाता है जिस समुदाय का बच्चे को सदस्य बनना होता है। साधारणतः प्रारम्भिक शिक्षा परिवार में ही दी जाती है और अधिक ज्ञानार्जन के लिए बच्चे को शाला और उसके बाद विद्यालय को सौंप दिया जाता है। शिक्षा यदि व्यक्तिगत रूप से दी जाती है तो भी बहुत कुछ अंशों में उसके लक्ष्य और विधियाँ स्कूल और कालिजों की तरह ही होते हैं। जैसे हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि परिवार में बच्चा एक अधिपति के समान होता है परन्तु विशाल जन-समुदाय उसे एक सेवक बनाने का प्रयास करता है यद्यपि आगे चलकर वह अकस्मात् उनका एक स्वामी अथवा मार्ग-दर्शक बन सकता है।

शिक्षा के लक्ष्य और उसकी प्रणालियों के बारे में विस्तृत विवेचन उन लोगों के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए जिन्होंने इस विषय का विशेष अध्ययन किया है। *संगठित समुदाय में शिक्षा कार्यों के सामान्य सर्वेक्षण को हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।*

२ शाला के कार्य

शाला का मुख्य कार्य बच्चे को एक बड़े समुदाय में प्रवेश के लिए प्रारंभिक तैयारियाँ करवाना है। बच्चों की प्रवृत्तियाँ भी वयस्कों की तरह आपस में बहुत अधिक भिन्न होती हैं। इस बारे में एक सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किया जा सकता है जो विचित्र भी हो सकता है और कुछ लोग जिसे अस्वीकृत भी कर सकते हैं। प्रोफेसर ड्यूई तथा कुछ अन्य विद्वानों ने इस बात का उचित ही विरोध किया है कि एक बच्चा प्रकृति से अहंवादी होता है। दूसरी तरफ

बच्चों की बड़ाई भी अतिरंजित रूप से की गई है। यह सिद्धान्त कि शैशव में बच्चे के आस-पास स्वर्ग होता है वास्तव में प्लेटो की उस अवधारणा का बिगड़ा हुआ रूप है जिसमें शिशु का इस विश्व में अपरिमित शक्तियों को लेकर आने का वर्णन किया गया है। बच्चे में एक मोहक भोलापन होता है और आस-पास की प्रत्येक वस्तु को सराहने की तत्परता होती है परन्तु यह कहना कठिन है कि उसमें सर्वहित की सुनिश्चित अवधारणा उपस्थित होती है। ऐसा प्रतीत होता है और सामान्यतया यह सोचना सत्य है कि बच्चे में कम या अधिक कुछ न कुछ निरंकुश वृत्तियाँ होती हैं। उसे एक संवैधानिक सम्राट् के योग्य बनना होता है साथ ही क्रमशः दूसरों के साथ बराबर का नागरिक भी बनना सीखना पड़ता है। दुर्भाग्य से उसे यह बात प्रायः बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था में और बहुत जल्दी सिखा दी जाती है। कभी-कभी तो उसे दास बनना भी सिखा दिया जाता है और उसकी जन्मजात अपरिमित शक्तियों को दबा दिया जाता है। यह एक प्रकार से राज-द्रोह जैसा अपराध है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि बच्चे को केवल अकेला ही छोड़ देना चाहिए और उसे स्वतः एक पुष्प की तरह अपना विकास करने दिया जाए। परन्तु उसे साथ में मिलने वाला ज्ञान दिया जाना चाहिए जिससे वह साधारण जीवन में क्रमशः हिस्सा बँटा सके। इस बात के लिए उसे अपने लोगों की भाषा को सीखना पड़ता है जिसमें उनका ज्ञान उनकी सूझ उनके छद्म और उनके आदर्श और दुर्भाग्य से उस समुदाय के अविचार और सीमाएँ भी झलकती हैं। यह स्पष्ट है कि यह काम धीरे-धीरे ही अर्जित किया जाता है। बच्चों को ज्ञान मानव-मस्तिष्क के क्रमिक विकास के परिमार्जित अध्ययन द्वारा ही दिया जाना चाहिए। इसके साथ ही उनकी वैयक्तिक विशेष आवश्यकताओं के प्रति सहानुभूतियुक्त सूझ का प्रयोग किया जाना चाहिए। निस्सन्देह यह सर्वत्र मान लिया गया है कि इससे कुछ अंशों में वर्गों के आकार सीमित होंगे। यह भी पर्याप्त रूप से स्पष्ट है कि बच्चों को उनके प्रारम्भिक जीवन में उनके सम्प्रदाय की सरलतम और श्रेष्ठतम परम्पराओं का ज्ञान भी करवा दिया जाना चाहिए। सब से पहले उनके सामने सुन्दर और मधुरतम बातें रखी जानी चाहिएँ। प्लेटो ने इसके लिए प्रारम्भिक शिक्षा में संगीत और काव्य के प्रयोग पर बल दिया है। यद्यपि उसका सुझाव होमर की अतिशयोक्तिपूर्ण कविताओं की ओर था (जो संभवतः अति गम्भीर भी नहीं मानी जातीं तथा जो अब असामयिक हो चुकी हैं)। अब तो उनके लिए कुछ अंशों में इस प्रकार की सरल कविता प्रस्तुत की जानी चाहिए जिस तरह की कविता वर्ड्सवर्थ तथा ब्लेक ने की है। बच्चों के लिए कुछ परियों की कहानियाँ भी प्रस्तुत की जानी चाहिएँ जो आधुनिक-साहित्य में प्रचुर मात्रा में बिखरी पड़ी हैं। एक पुरानी कहावत मुझे अपने लोगों के लिए

एक गीत बनाये हों जो उनके द्वारा एक नियम का रूप धारण करेगा इसमें काफी गहरा अर्थ छिपा है । यदि किसी सुन्दर विचार अथवा गहरी अनुभूति को सुन्दर कहानी अथवा अमर कहावतों का रूप दिया हो वे सीधी हृदय में पैठ जाती हैं, घर कर लेती हैं स्मृति में घूमती रहती हैं और शाश्वत आनन्द का प्रदान करती और सम्पूर्ण जीवन के लिए एक प्रेरणा बन जाती हैं । दूसरी तरफ नियमों, जो लोगों की श्रेष्ठ परम्पराओं को स्थिरता और निश्चयात्मकता प्रदान करते हैं का भी अत्यधिक महत्त्व है । उन नियमों को भी बच्चे के 'सरल हृदय पर पुस्तक हाथ में लेने के समर्थ होने के पहले ही अंकित कर दिया जाए ।

धीरे-धीरे बच्चे को अपने आस-पास के वातावरण के साथ अपने सम्बन्धों की जानकारी अच्छी तरह करवा देनी चाहिए । इसके उपरान्त उसे प्रकृति के महत्त्वपूर्ण अध्ययन की ओर प्रवृत्त करना चाहिए । निश्चय ही उसके मस्तिष्क के विकास के लिए यह अत्यधिक आकर्षक प्रणाली होगी । प्रारम्भ का निरीक्षण शीघ्र ही चिन्तन का रूप धारण कर लेता है और फिर बच्चे को मानव प्रकृति के अध्ययन की ओर प्रवृत्त करता है । इससे उन पर शीघ्र ही नागरिक प्रश्नों और नैतिक दायित्व स्पष्ट हो जाते हैं और धीरे धीरे मानव-इतिहास की विशेषताओं की जानकारी बढ़ने लगती है । इतिहास में रुचि से बच्चे उन लोगों की गाथा की जानकारी के लिए प्रयत्नशील होते हैं—जिन्होंने ऐतिहासिक विकास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है ।

इन बातों के साथ यह भी महत्त्वपूर्ण है कि बच्चा जिन बातों का अध्ययन करता है उनका प्रयोग करना भी सीखे उन्हें अपने काम में भी लाए उन्हें जाने तथा उनका मूल्यांकन करे । इसके बाद वह प्राकृतिक पदार्थों को चित्रित करना सीख सकता है । वह स्वयं कुछ सरल कहानियों की रचना करना भी सीख सकता है । वह वर्णनात्मक-लेख लिख सकता है समस्याओं पर चिन्तन कर सकता है और वह कुछ ऐसी वस्तुओं का निर्माण कर सकता है जो सुन्दर भी हों और उपयोगी भी । बच्चे को आवश्यक शारीरिक व्यायाम और मनो-रंजन के कुछ साधन भी प्रदान करना भूलना न चाहिए । उनसे वह सहयोग का महत्त्वपूर्ण पाठ भी सीखेगा ।

वह जैसे-जैसे विश्लेषणात्मक चिन्तन के अधिक योग्य होगा वैसे-वैसे वह स्वयं उन विषयों को समझने लगेगा जो मानव-जीवन और उसके चारों ओर के संसार व गुत्थियों को सुलझाते जाएंगे । वे विषय हैं—व्याकरण, अंकगणित रेखागणित और इसके उपरान्त कुछ प्रारम्भिक तर्क-शास्त्र सरल-नैतिक अवधारणाएँ अर्थशास्त्र व राजनीति-शास्त्र तथा धार्मिक विचारों की वह भूख—जिसके द्वारा कुछ महापुरुषों ने इस विश्व का जिसमें हम रहते हैं

व्याख्या की है ताकि विषयों में धीरे धीरे बच्चा स्वयं ही रुचि लेने लगेगा । मेरा विचार है जब तक उसमें विभिन्न पक्षों पर तर्क करके मूल्यांकन की शक्ति परिपक्व नहीं हो जाएगी तब तक वह किसी धार्मिक मत अथवा राजनीति के सामान्य मत को स्वीकार नहीं करेगा परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि परिपक्व हुए बिना भी वे उनके विषय में अपनी राय कायम करते जाएँगे और इस तरह कुछ भी हानि न होगी ।

फिर यह बात बड़े महत्त्व की है कि जैसे-जैसे लड़के और लड़कियाँ किशोरावस्था में आएँ उन्हें विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित कठिनाइयों और पारिवारिक जीवन की सामान्य समस्याओं की कुछ जानकारी देनी चाहिए । प्रकृति और मानव-इतिहास के अध्ययन और अपने चारों तरफ के जीवन का निरीक्षण इसके लिए अच्छी तैयारी सिद्ध होंगे ।

इस प्रकार की शिक्षा से यह आशा की जा सकती है कि कम-से-कम जिनका जन्म ठीक तरह हुआ है उनका पोषण भी ठीक ढंग का होगा परन्तु जो जन्म के सम्बन्ध में कम भाग्यशाली हैं ज्ञान और बुद्धिमत्ता के प्रति प्रेम और सौन्दर्य का मूल्यांकन तथा सामान्य हित के प्रति समर्पण की कुछ भावनाएँ अर्जित कर सकते हैं । मेरा विचार है कि सभ्य-समुदाय का नागरिक बनने वाले को इतना तो जानना ही चाहिए और उसे यह सब कुछ सरलता से प्राप्त होना चाहिए । परन्तु इस विषय से सम्बन्धित विभिन्न तत्त्वों पर किस क्रम और किन प्रणालियों से विवेचन किया जाए, यह हमारे विषय की सीमा के बाहर की बात है ।

यह माना जा सकता है कि पूर्व-वर्णित संक्षिप्त शिक्षण के सहारे बच्चा अपने एक विशेष समुदाय में एक अच्छे नागरिक के रूप में अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करना सीख लेगा । परन्तु अच्छा नागरिक साधारण ढंग से ही अच्छा नहीं होना चाहिए उसे कुछ विशेष ढंग से भी अच्छा होना चाहिए । इसलिए उसकी सामान्य-शिक्षा के साथ विशेष तकनीकी शिक्षण भी होना चाहिए, जिससे वह उस विशेष कार्य के लिए तैयार हो सके जो उसकी प्राकृतिक योग्यता और परिस्थितियों के अनुसार ठीक बैठता है । अनेक मामलों में यह खोज निकालना सरल नहीं होता और स्पष्टतः नितान्त बाल्यावस्था में उसको खोजने का प्रयास भी नहीं करना चाहिए । यह आवश्यक है कि सभी को पर्याप्त काल तक शिक्षा मिले । जो उससे लाभ न उठा सकें उनकी दूसरी बात है । तकनीकी शिक्षा के लिए आवश्यक तैयारी शिक्षा के किसी-न-किसी रूप में कराई जानी चाहिए । लड़कियों की यह तैयारी घर पर ही हो । यदि आवश्यकता हो तो विशेष हस्त-कौशल

१ तकनीकी शिक्षा

सम्बन्धी आवश्यक जानकारी भी बचपन में ही प्राप्त कर लेनी चाहिए।[1] जो
ात्मक संगीत में विशेष रुचि रखते हैं वे तो इस का परिचय बहुत छोटी आयु
ें ही देने लगते हैं। इस प्रकार से अभिरुचि खोज कर शिक्षा की सामान्य-
द्धति में सुधार किया जा सकता है। प्रत्येक अच्छी पद्धति में एक लचीलापन
ोना चाहिए जो कि उसके लिए आवश्यक तत्व है।

अब तक जिस शिक्षा की रूप रेखा दी गई है वह किसी-न किसी रूप में
भी नागरिकों के लिए आवश्यक है। व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार उसके
प्रकार भिन्न भिन्न हो सकते हैं। बालक जिन कार्यों

४ उच्च शिक्षा

में अपने-आपको ठीक बैठा पाते हैं वे कार्य भी भिन्न
भिन्न प्रकार के होते हैं भिन्न-भिन्न स्तरों पर लगने
ाला समय भी कम या अधिक हो सकता है। सम्भवतः यह मान लेना चाहिए
क अब तक जिस प्रकार शिक्षा के विषय में विचार किया गया है वह सोलह
र्ष की अवस्था से पूर्व समाप्त नहीं होनी चाहिए और साधारणतः बीस वर्ष की
ायु से अधिक ऊपर नहीं जाना चाहिए। और जो ऐसे कार्यों के जैसे ज्ञान
ा प्रसार, कलात्मक कृतियों अधिक जटिल विज्ञानों का तकनीकी समस्याओं
ें प्रयोग, जिनमें विधि और चिकित्सा भी सम्मिलित है विभिन्न पहलुओं से
ध्यापन कार्य अथवा प्रशासकीय आदि कार्यों के लिए अधिक तैयारी करना चाहते
ैं उन्हें विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा दी जानी चाहिए। इस प्रकार
ी शिक्षा और पूर्व-वर्णित शिक्षा के प्रारम्भिक वर्षों को ध्यान में रखना
हत्त्वपूर्ण है।

दुर्भाग्य से स्कूल तकनीकी संस्थाओं विद्यालयों और विश्वविद्यालयों
ें स्पष्टतः भेद प्रस्तुत नहीं किया गया है। जर्मनी की शिक्षा-पद्धति को अधिक
रलता से ग्रहण किया जा सकता है और सम्भवतः जापान की नव शिक्षा
ोजना अब तक की सभी योजनाओं में पूर्ण है।[2] हम यहाँ विभिन्न देशों और
िसी एक देश के *विभिन्न भागों की विभिन्न पद्धतियों पर विचार नहीं कर*

आधुनिक अनुभव इस विश्वास की ओर संकेत करता दिखाई पड़ता है कि जिनकी
सामान्य-बुद्धि अच्छी तरह से विकसित होती है वे लोग दूसरे साधारण लोगों
की अपेक्षा अपने आप को विभिन्न कार्यों में अच्छी तरह समायोजित कर लेते हैं।
विशेष तौर पर कलात्मक कार्यों के उच्चतर रूपों में और गणित सम्बन्धी व्यवसाय
वर आधारित उद्योगों में विशेष प्रकार की विशाल तैयारियों की आवश्यकता पड़ती
है। सामान्यतः एक समालोचनात्मक-बुद्धि को उत्पन्न करना बहुत महत्त्व का
कार्य है।

ओ जार सी० बोरर की पुस्तक जापान रि-यू-वर्ड पावर अ ६ देखिए। श्री
हैरल्ड कोकुची की पुस्तक जैपनीज एजूकेशन भी देखें।

सकते। परन्तु इन पद्धतियों में से सब से अधिक महत्त्वपूर्ण पद्धति की ओर संकेत करने का प्रयास किया जाएगा।

कालेज कुछ धंधों में या पूर्णतः तकनीकी शिक्षण देने की संस्थाएँ होती हैं और जिन्हें विश्वविद्यालय सम्बन्धित कालेज कहा जाता है वे भी इसी तरह के शिक्षण अपने कार्य में सम्मिलित करते हैं। हम इस तरह के शिक्षण-कार्य को उससे सम्बन्धित बता सकते हैं जिसका पहले वर्णन कर चुके हैं और विश्वविद्यालय कालेजों को मूलतः और तत्त्वतः इससे नितान्त भिन्न समझना ठीक रहेगा। विश्वविद्यालय को परीक्षा लेने वाली संस्था से कुछ ही अधिक समझा जाता है। जर्मनी में इसका भिन्न अर्थ लिया जाता है वहाँ विश्वविद्यालय एक ऐसी संस्था है जो विशेष प्रकार की शिक्षा भी देता है यहाँ तक कि वहाँ की शिक्षा आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों से भी बहुत अर्थों में भिन्न होती है।

मेरा विचार है कि विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कालेजों का प्रमुख कार्य एक ऐसी उदार-शिक्षा देना है जो स्कूलों से उच्चतर होती है। ऐसी शिक्षण संस्थाओं में छात्रों की साधारण आयु अट्ठारह और इक्कीस वर्ष के बीच होनी चाहिए। यहाँ का अध्ययन स्कूलों की अपेक्षा विशिष्ट होता है परन्तु उसका लक्ष्य विशिष्ट ज्ञान की अपेक्षा सामान्य ज्ञानार्जन ही अधिक होता है। सारांश में उनका निर्माण उन छात्रों के लिए किया जाता है जिन्हें अपने सामुदायिक जीवन में किसी प्रकार का नेतृत्व करना है। इसके लिए यह आवश्यक है कि यहाँ स्कूलों की अपेक्षा मानव-जीवन की सामान्य समस्याओं का पूर्ण अध्ययन किया जाए और समझा जाए। दर्शन और सामाजिक-विज्ञान की प्रमुख समस्याओं का सामान्य अध्ययन इस प्रकार की शिक्षा का प्राकृतिक रूप से आवश्यक भाग है। जापान फ्रांस और कुछ अन्य देशों में इसकी आवश्यकता को समझा गया है। इंग्लैंड में इसकी अवहेलना की प्रवृत्ति दिखाई देती है। ऐतिहासिक-विकास की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन भी इतना महत्त्वपूर्ण है कि उन्हें भी छोड़ना उचित नहीं। और किन विषयों का विशिष्ट अध्ययन किया जाए यह व्यक्तिगत रुचि पर छोड़ दिया जाए और इस अध्ययन में भावी जीवन में अपनाये जाने वाले विशिष्ट कार्य का ध्यान रखा जाए।[1]

---

१ यह दृष्टान्त मैंने ... लैक्सी महोदय ने प्रो० ... वर्नें की पुस्तक 'हॉयर एजुकेशन एंड वार' के देखने से पूर्व ही लिख लिया था। वर्नें महोदय का सुझाव उनकी इस पुस्तक में (विशेषतः पृ० सं० १६७ में) है कि कालेज और विश्वविद्यालय में भेद करना आवश्यक है और अच्छा भी है जैसा कि साधारणतः अमेरिका में किया जाता है। कालेज का काम सामान्य-संस्कृति की शिक्षा देना है और विश्ववि

सही अर्थों में विश्वविद्यालय विशिष्ट अध्ययन के लिए है और इक्कीस से पच्चीस वर्ष की आयु के छात्रों को किसी विशेष-काम में योग्य बनाना है। इस ओर हम पहले ही संकेत कर चुके हैं। विश्वविद्यालय का कालेज के साथ सम्बन्ध उच्चस्तर पर ठीक उसी प्रकार का होता है जैसा तकनीकी शिक्षण संस्थाओं का स्कूल के साथ। विश्वविद्यालय का कार्य विद्यार्थी को केवल सभी प्रकार का ज्ञान तथा नैपुण्य प्रदान करना है जो उसके विशेष विभागों में प्राप्य है तथा भावी की प्रगति के लिए तैयार करना होता है। यह मानना पड़ेगा कि हमारे देश में ऐसी संस्थाएँ नहीं जो निश्चित और विशद रूप से इन उन लक्ष्यों की पूर्ति करें जिन्हें हम विश्वविद्यालय कहते हैं। वहाँ अनेक ऐसे कार्य जिनमें जो अन्य विश्वविद्यालयों कालेजों तकनीकी संस्थाओं और यहाँ तक कि स्कूलों में होते हैं और वे भी योग्यतापूर्वक सम्पन्न नहीं हो पाते। परन्तु अब सुधार के कुछ चिह्न दिखाई देते हैं। और मैं उस व्यवस्था की ओर संकेत कर रहा हूँ जो हमारा लक्ष्य होना चाहिए[1]। यह ध्यान में रखना उपयुक्त होगा कि यदि शिक्षा का अर्थ सामान्य-विकास और व्यक्ति की मनःशक्ति का प्रादुर्भाव करना है तो इससे स्कूल और कालेज ही विशेषतः सम्बन्धित हैं। तकनीकी संस्थाओं और विश्वविद्यालयों व कालेज में शिक्षा के विशेष प्रकारों और प्रशिक्षण तथा शिक्षा के विशेष विभागों में अनुसन्धान को प्रोत्साहन देना है। ये दोनों उद्देश्य स्पष्टतः पृथक-पृथक होते हैं और आपस में सम्बद्ध करने से संभ्रान्ति हो सकती है।

२. पूरक शिक्षा

हम देख चुके हैं कि विभिन्न संस्थाओं द्वारा दी जाने वाली शिक्षा जीवन की अनुभूति से उत्पन्न होने वाले शैक्षणिक प्रभावों का केवल एक भाग मात्र होती है। परन्तु यदि शिक्षा को इसके विशाल अर्थ में न लेकर यह प्रस्तुत किया जा सकता है कि शिक्षा का एक विशाल रूप संभवतः प्रमुख रूप ही—जिसे शैक्षणिक संस्थाएँ प्रदान करती हैं किसी विशेष-अध्ययन में प्राप्त ज्ञान मात्र

का काम विशिष्ट ज्ञान और प्रशिक्षण देना। उन्होंने कालेज को विश्वविद्यालय और स्कूल से अलग करने के लिए जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे बहुत ही तर्कपूर्ण और समुचित हैं। कुछ अमेरिकन लोग आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज को भी विश्वविद्यालय की अपेक्षा कालेज कहना ठीक समझते हैं क्योंकि वह केवल स्नातकोत्तर अध्ययन की सुविधा ही प्रदान करते हैं। परन्तु फ्लेक्सनेर के अनुसार यह विचार अनिश्चित है।

१. जो बातें की पुस्तक [illegible] अभी कह चुके हैं मैं [illegible] कालेज के महत्त्व पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है। परन्तु मेरा विचार है कि यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि हमारे यहाँ वास्तविक विश्वविद्यालय भी हों जिनमें अनुसंधान के कार्य बहुत अच्छी तरह से चलते हों।

उनके सुझाव व मार्ग-दर्शन में है। जब वे ऐसा करने में असफल रहती हैं तो लाभप्रद होने की बजाय अधिक हानिप्रद होती हैं। स्कूल में बाइरन द्वारा होरेस पढ़ने का परिणाम यह निकला कि उसने फिर कभी होरेस को पढ़ना ही नहीं चाहा। यह भी संभव है कि इस तरह के और अनुभव भी देखने में आए हों। दूसरी तरफ अच्छी शिक्षा निरन्तर अध्ययन जारी रखने की इच्छा जागृत करती है। जिनके पास पर्याप्त अवकाश और साधन हैं वे यह काम बिना किसी कठिनाई के कर सकते हैं परन्तु जिनके पास अवकाश और साधनों की कमी है उन्हें आयोजित शिक्षा के समाप्त हो जाने पर एक निश्चित-काल तक अध्ययन व मार्ग-दर्शन की आवश्यकता रहती है। इसकी विशेष आवश्यकता तब पड़ती है जब उन्हें अपनी शिक्षा को समय से पूर्व ही बीच में छोड़ना पड़ता है अथवा वह दोष पूर्ण होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति विशिष्ट अवधि के स्कूलों विश्वविद्यालय-विस्तार भाषणों कर्मचारियों के शैक्षणिक संघों अध्ययन मण्डलों तथा होम यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी जैसे पुस्तकालयों से प्राप्त होने वाली सरल पुस्तकों आदि अन्य अभिकरणों से की जानी चाहिए।

शिक्षा के बारे में एक अन्य महत्त्वपूर्ण विचार भी ध्यान में रखना चाहिए। हम शिक्षा को एक अच्छे नागरिक के विकास समाज में अपने उपयुक्त स्थान को ग्रहण करने और अपने कर्तव्यों की पूर्ति का उपकरण मानते हैं। इस तरह की तैयारियों के महत्त्व को अतिरंजित किया जा सकता है। शायद अत्याधुनिक पाठक अवश्य ही यह सोचेंगे कि प्लेटो के 'रिपब्लिक' में इसका अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन हुआ है। मुकरात को नाटकीय प्रदर्शन के विरुद्ध कहा जाता है। उनका कहना है कि इस तरह के प्रदर्शन व्यक्ति को विभिन्न पात्रों के रूप में काम करने की आदत डालते हैं जबकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने एक विशेष कार्य को पूरा करना है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि कभी-कभी हमें इस बात पर डट रहना पड़ता है। गटे ने कहा है जो मनुष्य अपने-आपको किसी काम में निपुण बनाना चाहता है उसे अपने आपको सीमित बनाना सीखना चाहिए। संभवतः यह बात वीर एथेन्स वासियों के लिए चेतावनी के रूप में कही गई हो और शायद यही स्वभावतः प्लेटो और गेटे जैसे बहुमुखी प्रतिभाशाली व्यक्तियों के मन में उदित हुई हो। परन्तु बहुत-से लोग विस्तार की अपेक्षा आकुंचन के समय भूल कर सकते हैं। आराम करने की आवश्यकता [illegible] व्यक्ति को अधिक संयमित होने से रोकती है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि नागरिक एक-दूसरे को समझें वे एक-दूसरे के कार्य की सराहना करें और एक-दूसरे की कठिनाइयों के समय सहानुभूति प्रदर्शित करें। अतः सामाजिक समागम के अनेक रूपों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता इनमें से नाटकीय प्रदर्शन का भी एक उचित स्थान है। इनमें सबसे अधिक

७ राज्य और शिक्षा

अपने विभिन्न पहलुओं में सामुदायिक जीवन में श्रेष्ठ नागरिकता की अभिवृद्धि इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसे पूर्णतः व्यक्तिगत प्रयास पर नहीं छोड़ा जा सकता। इसके लिए एक सुव्यवस्थित संगठन की आवश्यकता होती है और राज्य का कर्तव्य है वह इस का प्रबन्ध करे। दूसरी ओर इसका प्रबन्ध विशेष क्षेत्रों की आवश्यकता और विशेष व्यक्तियों के रुझान के अनुसार होना चाहिए। परन्तु यह अभीष्ट नहीं कि यह पूरी तरह किसी केन्द्रीय नियन्त्रण में हो। मुख्य रूप से राज्य के यही कर्तव्य है कि वह शिक्षा के पूर्ण उपभोग के सुअवसर प्रदान करे। इसके लिए उपयुक्त शिक्षकों को नियुक्त करना निस्सन्देह महत्त्व का कार्य है। और जब उपयुक्त व्यक्ति मिल जाएँ तो यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि उन्हें अपने कार्य के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाए। एक व्यक्ति एक अच्छे चित्रकार और एक कवि की तरह प्रशिक्षित शिक्षा-शास्त्री भी बन सकता है। चित्रकार अथवा कलाकार की तरह वह कभी-कभी आलोचना का कार्य भी कर सकता है और इसके लिए राज्य द्वारा पूर्ण सुविधा दी जानी चाहिए। परन्तु इन सबका विवरण हम राज्य की प्रकृति और उसके कार्य-व्यापार का वर्णन करने के उपरान्त करें तो और भी अच्छा रहेगा।

तृतीय अध्याय

औद्योगिक संस्थान

कार्य और श्रम शब्दों की परिभाषा में कभी-कभी भ्रम हो जाता है। श्रमकर्ताओं अथवा श्रमिकों को समाज के अन्य वर्गों से पृथक करके देखने की एक परम्परा सी पड़ गई है। स्मरण रहे कि
१ श्रम का महत्त्व यह भी प्रदर्शन प्लेटो के आदर्श समुदाय के वर्ग भेद
के अनुरूप नहीं होता। प्लेटो के अनुसार औद्योगिक-वर्ग समुदाय के लिए दैनिक-वस्तुओं राजनीतिक व सैद्धान्तिक संगठन के कार्यों को छोड़कर अन्य सभी उपयोगी काम करता है। कार्य के सम्बन्ध में जो आधुनिक वर्गीकरण है वह प्रधानतः शारीरिक-श्रम तथा अन्य प्रकार की सेवाओं के रूप में किया जाता है। परिणामस्वरूप उस वर्गीकरण में गरीब और धनवान् की भावना की प्रवृत्ति आ जाती है, परन्तु इसके विपरीत प्लेटो की पद्धति में सभी धनवान् और इसी तरह गरीब भी औद्योगिक-वर्ग में आ जाते हैं।[1] दूसरे वर्ग में न कोई धनवान् होता है और न कोई गरीब परन्तु एक सुसंस्कृत जीवन के लिए जितना आवश्यक होता है उतना ही धन उनके पास होता है। आधुनिक व्यवहार के अनुसार कलाकार अध्यापक और यहाँ तक कि कानून तथा भवन-निर्माण आदि कार्यों में लगे लोग श्रमिक नहीं समझे जाते। इस प्रकार के अन्तर उपस्थित करने के पीछे कुछ आधार अवश्य है, और सम्भवतः सामान्य अर्थों में उन्हें हम ठीक वर्गीकरण से बहुत भिन्न नहीं समझ सकते। शुद्ध शारीरिक-श्रम कई रूपों में बौद्धिक-श्रम अथवा कलात्मक-कौशल से भिन्न होता है और यह मानव-जीवन के दृष्टिकोण में एक अन्तर उपस्थित करता है। परन्तु यह अन्तर बहुत स्पष्ट रूप से स्थापित नहीं किया जा सकता। अतः सबसे अच्छा यह होगा। कि सभी प्रकार के प्रयासपूर्ण कार्य अथवा श्रम विश्लेषण को प्रारम्भ किया जाए, क्योंकि इसीसे हम एक निश्चित सामाजिक लक्ष्य की ओर प्रेरित होते हैं। सामान्यतया अथवा मुख्यतया व्यक्तिगत

---

१ आन्तरिक निर्देश अधिक स्वभावतः ही एक झुकाव होता होगा यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से प्लेटो ने ऐसा कहीं भी नहीं कहा है।

मनोरंजन का साधन खेल-कूद ही समझे जाते हैं यद्यपि वे कभी-कभी इतने कठिन और असाध्य होते हैं जितने कोई भी अन्य असाध्य कार्य। वे कई बार उच्च वर्ग वालों के लिए अप्रत्यक्ष रूप में उच्च सामाजिक स्थिति के द्योतक भी हो सकते हैं। श्रम को इस व्यापक अर्थ में लेकर हम उसके कई भेदों के बारे में विचार करेंगे जो हमारे लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

(१) कुछ श्रम हमारी पूर्ववर्णित वर्गी अथवा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और कुछ अन्य प्रकार के श्रम हमारी पाशविक प्रकृति अथवा शुद्ध मानव जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। परन्तु स्पष्टतः हम इस भेद को बहुत अधिक सूक्ष्म रूप में नहीं रख सकते। लकड़ी के काम में लगा हुआ श्रमिक हमारी शुद्ध आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है जबकि वह हमारे निवास के लिए एक झोंपड़ी के निर्माण में सहायता देता है। परन्तु वही श्रमिक जब एक कलाकार के अथवा युद्ध व खेलों के काम में आने वाले उपकरण बनाता है अथवा किसी उपन्यास लिखने वाले या दर्शन-सम्बन्धी काम करने वाले लेखक के लिए मेज बनाता है तो वह हमारी उन आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता। फिर भी इस वर्गीकरण का अपना एक महत्व हो सकता है। सामान्यतः आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले कुछ कार्यों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे प्रधानतः उनसे ही सम्बन्धित हैं अथवा प्रधान रूप से भिन्न प्रकार के होते हैं।

(२) कुछ कार्य श्रम करने वाले लोगों की इच्छा पर आधारित होते हैं। अन्य प्रकार के कार्य दबाव (जैसे दासता में) अथवा आर्थिक आवश्यकताओं के दबाव अथवा सामाजिक आवश्यकताओं या परम्पराओं के कारण किए जाते हैं। यहाँ पर यह भेद बहुत स्पष्ट नहीं है। जब एक कलाकार सर्जन की भावना से अथवा आत्माभिव्यक्ति या सौन्दर्य के आदर्श को साकाररूप देने के लिए अथवा किसी नैतिक या धार्मिक विचार की अभिव्यक्ति के लिए एक चित्र का निर्माण करता है तो उसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपने कार्य के प्रकार को चुनता है। दूसरी ओर जब वही कलाकार अपनी आजीविका के निमित्त कोई काम करता है अथवा अभिभावक के विशेष आदेश पर कार्य करता है तो वह अपने काम की कई बातों के सम्बन्ध में कुछ स्वतन्त्र होता है परन्तु उसे दूसरों की आर्थिक अथवा पारम्परिक आवश्यकताओं को ध्यान में रख निश्चय करना होता है। अन्य कई कार्यों में भी इस प्रकार के भेद किये जा सकते हैं। ऐसे बहुत कम कार्य होते हैं जिन्हें नितान्त स्वतन्त्र चुनावों पर आधारित बताया जा सकता है। यहाँ तक कि जब वे साधारणतः स्वतन्त्र कहे जाते हैं परन्तु उनमें भी कुछ प्रतिरोधी तत्त्व विद्यमान रहते हैं।

(३) कुछ श्रम अवांछनीय और थका देने वाले होते हैं। इसके विपरीत कुछ कार्य आनन्दप्रद और स्वास्थ्यवर्द्धक होते हैं। इस प्रकार उन्हें हम कुछ अस्ति और कुछ नास्ति मूल्यों वाले कार्य के रूप में भी अभिव्यक्त कर सकते हैं। यह अन्तर केवल कार्य की प्रकृति में आधारित नहीं होता परन्तु कार्य कर्ता की भावना पर आधारित होता है। सामान्यतः स्वतन्त्रतापूर्वक किया जाने वाला श्रम आनन्ददायक होता है चाहे वह कठिन ही क्यों न हो और जो दबाव के अन्तर्गत किया जाता है वह अवांछनीय होता है चाहे वह सरल ही क्यों न हो। कुछ काम कोई व्यक्ति खेल-खेल में प्रसन्नता से कर सकता है परन्तु यदि उसी कार्य को दबाव द्वारा करवाया जाए तो वही अति कष्टकर प्रतीत होगा। अधिकतर सभी कार्य व्यक्तिगत भावना, कार्य के समय स्वास्थ्य की स्थिति अन्य आकर्षणों और विभिन्न परिस्थितियों पर आधारित होते हैं। इस पर भी यह कहा जा सकता है कि कुछ कार्य सामान्यतः कष्टकर होते हैं और वे किसी लक्ष्य के साधन के रूप में होते हैं जब कि अन्य कार्य बहुत कुछ अंशों में स्वयं ही लक्ष्य होते हैं।

(४) कुछ काम पूर्णतया शारीरिक-श्रम से सम्बन्धित होते हैं और कुछ में चिन्तन अथवा कला-चातुर्य की अपेक्षा होती है।

(५) कुछ श्रम यद्यपि सामाजिक दृष्टिकोण से उपयोगी होते हैं, फिर भी उनको मूलतः इस निमित्त नहीं किया जाता कि उनके पीछे कोई व्यक्तिगत प्रसन्नता अथवा कोई व्यक्तिगत तुष्टि निहित है। कुछ श्रम कर्तव्य की भावना अथवा समाज-सेवा के रूप में किये जाते हैं। यहाँ फिर, स्पष्ट भेद करना बड़ा कठिन है। कभी-कभी एक विशेष प्रकार का कार्य समाज-सेवा के अन्तर्गत किया जाता है परन्तु इसका विशेषरूप व्यक्तिगत-लाभ अथवा पुरस्कार की आशा पर आधारित होता है जिस पर उसका स्थूल भेद भी किया जा सकता है जिसका कुछ मूल्य भी हो सकता है।

इस तरह यद्यपि ये भेद अति स्पष्ट नहीं हैं फिर भी ये कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर उपस्थित करने का काम करते हैं। यह कहा जा सकता है कि सीमित अर्थों में 'श्रम' सामान्यतः मानव के उन प्रयासों के लिए प्रयुक्त होता है जो मुख्य अथवा प्राथमिक रूप से (१) आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये जाते हैं (२) कुछ किसी सीमा तक विवशता या दबावों के अन्तर्गत किये जाते हैं (३) कुछ अवांछनीय या थका देने वाले होते हैं ( ) कुछ लगभग शुद्ध शारीरिक-श्रम-सम्बन्धी होते हैं जिनमें चिन्तन या किसी विशेष प्रकार के बुद्धि-कौशल की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ जो पाँचवाँ भेद दिखलाया गया है वह प्रयास के उन रूपों के लिए कठिनाई से ही प्रयुक्त हो सकता है, जिन्हें सीमित अर्थों में 'श्रम' कहा जाता है।

यहाँ हमारे लिए इस सीमित अर्थ का अधिक महत्त्व नहीं। यहाँ विशेषतः हम उन प्रयासों से सम्बन्धित हैं जो प्रमुख रूप से आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं चाहे वे स्वतन्त्र अथवा दबाव पूर्ण हों शारीरिक अथवा बौद्धिक हों वांछनीय अथवा थका देने वाले हों अथवा किसी अन्य प्रकार के हों। यद्यपि 'उद्योग' शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत इस प्रकार के कार्य नहीं आते फिर भी उसके विकास और विशेष कार्यों का निर्माण इस प्रकार के प्रयासों से ही होता है। अतः यहाँ इसी अर्थ में उनका विश्लेषण करना हमारे लिए सुविधाजनक होगा।

हम चाहे श्रम को सीमित अथवा व्यापक अर्थ में लें यह एक सामान्य सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को कोई-न-कोई विशेष कार्य करना ही पड़ता है। जैसे-जैसे समाज अपने आकार और जटिलता में बढ़ता

२ श्रम विभाजन

जाता है वैसे-वैसे उपर्युक्त बात अधिक सत्य होती जाती है। कभी-कभी एक विशेष व्यक्ति अनेकों विभिन्न कार्यों को एक साथ करता है। एक कलाकार अनेक पात्रों के रूप में काम कर सकता है यद्यपि वह उन सभी पात्रों के कार्य का निर्वाह कठिनाई से ही सन्तोषजनक रूप से कर पाता है। एक लेखक एक साथ अनेक विषयों पर लिख सकता है। ऐसे की श्रेणी के कुछ भाग स्वयं में विश्वकोष हो सकते हैं परन्तु ऐसे लेखकों से हम यह आशा नहीं कर सकते कि वे प्रत्येक विषय को विस्तृत रूप से लिख सकेंगे। इसलिए विशेष रूप से आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कार्यों का विभाजन अत्यधिक महत्त्व का है। कुछ लोग लगभग समस्त वस्तुओं के वितरक हो सकते हैं परन्तु समस्त वस्तुओं के निर्माता नहीं हो सकते। आर्थिक आवश्यकताएँ सर्वव्यापी तथा सबसे अधिक उत्तेजक होती हैं और उनकी पूर्ति में अन्य कार्यों की अपेक्षा मानव-प्रयासों का ही व्यापक स्थान है। अतः उनकी तुष्टि अथवा पूर्ति के लिए ही आवश्यक उत्पादन और वितरण-संगठनों की स्थापना की आवश्यकता पड़ती है। मूलतः इन आवश्यकताओं के कारण ही प्लेटो ने श्रम विभाजन की महत्ता पर विशेष जोर दिया है। एडमस्मिथ तथा अर्थशास्त्र के मार्शल आदि कुछ अन्य लेखकों ने भी न्याय की चालू अवस्थाओं के विशेष प्रसंग के साथ इस पर जोर दिया है। लगभग सभी प्रकार के कार्यों को संतोषजनक ढंग से पूरा करने के लिए विशेष प्रकार के चातुर्य की आवश्यकता पड़ती है यद्यपि यह चातुर्य शारीरिक श्रम द्वारा प्रतिपादित कौशल में भी रहता है। कभी कभी एक काम को छोड़कर दूसरा काम करने से उसके लिए आवश्यक चातुर्य समाप्त हो जाता है अथवा उसको ठीक तरह से और लगातार करने में बाधा पड़ती है। कुछ भी हो एक कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य में लगने से समय का नाश तो अवश्य ही होता है यद्यपि

कार्य की नवीनता से नया उत्साह और ताजगी आती है और उसकी कार्यरुचि बढ़ जाती है। यह आवश्यक है कि जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के समय जब किसी वस्तु की बहुत आवश्यक जरूरत होती है तो उसके संभरण के लिए कोई व्यक्ति मिलना ही चाहिए। यह बात चिकित्सा-परिचर्या आदि पर सबसे अधिक लागू होती है परन्तु भोजन और पानी कुछ कम मात्रा में कपड़े गरमी और विश्राम के लिए भी लागू हो सकती है। जो वस्तुएँ नितान्त आवश्यक नहीं उनके वितरक भी आसानी से खोजे जा सकते हैं। अतः संक्षेप में यह माना जा सकता है कि कम-से-कम औद्योगिक संसार में सामान्यतः यह अनावश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार का ही कार्य करे।[२] यद्यपि औद्योगिक कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता फिर भी यह स्पष्ट है कि यदि कोई व्यक्ति विभिन्न कार्यों के आकर्षण में न पड़कर एकाग्रता पूर्वक एक ही कार्य करता है तो वह उसे बहुत अच्छे ढंग से करेगा। संभवतः एकाग्रता के अभाव में ही पेटे के साहित्यिक कार्य में बहुत बाधा पहुँची।

१ सहकारिता

यह निर्विवाद है कि कार्य के विविध प्रकार एक दूसरे से भिन्न होते हैं। कुछ अंशों में तो यह बात काम के सभी प्रकारों के विषय में सत्य है। विशेष तौर पर आर्थिक-क्षेत्र में तो यह नियम आवश्यकताओं की व्यापकता और अनिवार्यता के कारण लागू होता है। ये आवश्यकताएँ मनुष्य की शारीरिक-प्रकृति सम्बन्धी होती हैं अतः पर्याप्त रूप से उनकी पूर्ति आवश्यक ही है। प्रत्येक आदमी को अपना एक उचित काम मिल जाना ही आवश्यक नहीं अपितु उन सब कार्यों का पर्याप्त ठीक ढंग से किया जाना भी अत्यावश्यक है। और इसके साथ-साथ ये सभी कार्य ऐसे सहयोग के साथ चलें जिससे जीवन और स्वास्थ्य की रक्षा हो सके। इसके लिए संगठन-चातुर्य और कौशल की आवश्यकता होती है। यद्यपि इन आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयासों को साधारण-श्रम के रूप में वर्णन नहीं किया जा सकता फिर भी अन्य कार्यों की तरह ये अत्यावश्यक होते हैं। इस सम्बन्ध में तथा माँग और संभरण की कठिन समस्याओं के बारे में विचार करना अर्थशास्त्रियों का काम है। इस विषय में श्रम-विभाजन के महत्व को देखते हुए हम संक्षेप में इतना ही कह सकते हैं।

आर्थिक ढंग का श्रम सृजनात्मक नहीं होता। वस्तुतः इसमें भी सन्देह है कि

---

२ इस विषय के सामान्य पहलू पर इससे अधिक व्याख्या मॅकेंजी की इकनॉमिक स्कीम में मिलेगी।

क्या हम मानव के श्रम के किसी रूप को उचित रूप में ऐसा कह भी सकते हैं ? कवि और कलाकारों को कभी-कभी सृजनात्मक कहा जाता है। यह निस्सन्देह सत्य है कि वे अपनी इन गतिविधियों द्वारा जो योगदान करते हैं वह उन भौतिक सामग्रियों से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है

४ श्रम से सम्बन्धित भूमि और पूँजी

जिनसे वे काम लेते हैं। फिर यह भी सत्य है कि उन्हें कुछ भौतिक सामग्रियों की सहायता लेनी पड़ती है जो कुछ अंशों में उनके प्रयासों में सहायता देती है और कुछ अंशों में बाधा भी पहुँचाती है। यद्यपि यह कहना अतिशयोक्ति होगी जैसा कई बार हुआ भी है कि एक प्रतिमा एक संगमरमर के टुकड़े में तैयार करने से पूर्व ही विद्यमान रहती है और फिर संगमरमर के उस टुकड़े को एक विशेष रूप दे दिया जाता है। परन्तु इस तरह के उदाहरणों का यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ औद्योगिक-श्रम में काम करने वाला जिस सामग्री से काम करता है उसे स्पष्टतः कलात्मक कार्यों की अपेक्षा कम विकसित करना पड़ता है। प्रायः श्रम उस सामग्री को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है जैसे किसी जलाशय से नगर तक पानी पहुँचाना। एक किसान बीज बोता है परन्तु वह अपने प्रयास से उसमें कल नहीं लगा सकता पर उसके प्रयास के बिना वह बीज नष्ट हो जाएगा और मनुष्य के उपयोग का भी नहीं रहेगा। और श्रम बिना किसी की सहायता के भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सभी औद्योगिक-कार्यों में औजार अथवा मशीनें या घोड़े अथवा अन्य पशु काम में लाए जाते हैं।

इस प्रकार आर्थिक वस्तुओं के उत्पादन में श्रम के अतिरिक्त दो अन्य कारक और होते हैं। उन्हें भूमि और पूँजी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। पूँजी के लिए प्रयुक्त 'कैपिटल' शब्द की उत्पत्ति 'कैपिटा' से हुई है जिसका अर्थ घोड़ों आदि की संख्या से है जो प्राचीन काल में फार्म में रखे जाते थे। इस तरह भूमि और पूँजी दोनों ही शब्द मूलतः खेती-सम्बन्धी श्रम से सम्बन्धित हैं। और जहाँ तक आधुनिक उद्योग से इसका सम्बन्ध है इनका अर्थ बड़ा भ्रामक है। यह भी सत्य है कि हम कच्ची सामग्री (यद्यपि वह मुश्किल से ही कभी कच्ची होती है) और उन उपकरणों का अन्तर समझ सकते हैं जिनसे वह प्रयोग में आती है। ये उपकरण भी पहले किये गए श्रम के परिणाम होते हैं जिसे विशेष सामग्री में लगाया गया था। यों तो घोड़े पकड़े जाते हैं वन में से लिए जाते हैं, उनसे नयी नस्ल पैदा की जाती है उन्हें पाला जाता है अथवा सिखाया जाता है और प्रशिक्षण होता है इस प्रकार से इस तरह के काम के लिए भी मनुष्य का बहुत-सा श्रम लगता है। यह भी स्पष्ट है कि उपकरणों तथा मशीनों के उत्पादन में भी धरती से पदार्थों को निकालने के रूप में भी बहुत मेहनत करनी

पड़ती है। अतः सामान्यतः यह कहा जाता है कि आर्थिक माल कच्ची सामग्री में लगाये गए श्रम से उत्पन्न होते हैं, और एक समय में लगाया गया श्रम एक दूसरे बड़े श्रम पर आधारित होता है जिसे कभी भूतकाल में किया गया था। यह स्पष्ट है कि यहाँ श्रम को व्यापक अर्थों में समझा जाना चाहिए। उसमें वे सभी बातें आ जानी चाहिएँ जो किसी आवश्यक वस्तु को प्रस्तुत करने से पूर्व उसके आवश्यकता विषयक विचार से लेकर उसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक उपकरणों के आविष्कार और निर्माण में उसकी उत्पादन की विधियों के संगठन उनके प्रयोग के प्रबन्ध और उत्पादन को आवश्यक स्थान पर पहुँचाने में प्रयुक्त किए जाते हैं।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह भेद कलात्मक कार्यों पर भी लागू होता है। उदाहरणस्वरूप कवि अपने चारों तरफ के संसार में सुनी और देखी हुई कच्ची-सामग्री को काम में लाता है। वह अपने पूर्व-कवियों के श्रम और किसी विषय के वर्णन करने के ढंग का भी ऋणी होता है। यह विशेषतः वृहत् कलात्मक कृतियों के लिए और भी अधिक आवश्यक है। उदाहरण के लिए ग्रीक नाट्यकारों ने बहुत ही कम नवीन चीजें खोजीं। उन्होंने उसी सामग्री का प्रयोग किया जो पुरानी प्रथाओं द्वारा एक विशेष रूप से चुकी थी और वह प्रयोग भी एक ढंग से हुआ है। फिर भी उनकी रचनाओं में यह विशेषता है कि उन्होंने उनको अपने एक विशेष-ढंग से प्रस्तुत किया। इसी तरह यह एक साधारण सत्य है कि शेक्सपीयर ने जिस सामग्री और शैली का प्रयोग किया वास्तव में वह स्वयं उसके द्वारा आविष्कृत नहीं थी। इसी तरह यह भी सत्य है कि वर्जिल और मिल्टन जैसे लेखकों के कार्य भी पग-पग पर अपने पूर्व लेखकों के कार्यों पर आधारित हैं। उनकी पृष्ठभूमि कुछ अर्थों में विरासत में मिली प्रथाओं द्वारा निर्मित है और उनकी पूँजी दूसरों द्वारा प्रयुक्त वर्णन करने की विधियाँ हैं। इस प्रकार से कल्पित ये तीनों कारक जैसे भूमि, पूँजी और श्रम उत्पादन के सभी रूपों में प्राप्त किये जा सकते हैं। परन्तु सबसे अधिक सरल और स्पष्ट रूप में तो मूलतः आर्थिक और औद्योगिक रूपों में ही प्राप्त किये जाते हैं।

५. सम्पत्ति

यदि उत्पादन के विभिन्न कारकों को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग में लाना है तो यह स्पष्ट है कि कुछ अर्थों में उसका नियन्त्रण प्रयोग करने वाले के हाथ में होना चाहिए। इस नियन्त्रण की व्यवस्था विभिन्न मामलों में स्वभावतः पृथक्-पृथक् होगी। कच्ची सामग्री साधारणतः काम करने वाले व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के हाथ में होनी चाहिए। एक वास्तु-शिल्पी के पास संगमरमर का एक टुकड़ा और एक चित्रकार के चित्रपट अवश्य ही उसके अपने नियन्त्रण में होने चाहिएँ।

यहाँ तक कि एक कवि के पास कागज़ अथवा इसी तरह की अन्य सामग्रियाँ होनी चाहिए यद्यपि प्रकृति के दृश्य और व्यक्तियों आदि सामग्री उसके लिए स्वतः सुलभ होती है। इसी तरह किसान का भी अपनी भूमि पर अधिकार होना चाहिए। लकड़ी या धातु का काम करने वाले भी अपने पदार्थों के प्रयोग में स्वतन्त्र होने चाहिए। इसी तरह अन्य कामगर भी अपने अपने क्षेत्र में स्वाधीन होने चाहिए। परन्तु उनका स्वामित्व किस हद तक हो यह एक कठिन प्रश्न है। और फिर पूंजी के नियन्त्रण का प्रश्न सामान्यतः बहुत अधिक जटिल है जैसे पूँजी को काम में लाने का यह अर्थ नहीं कि उसे समाप्त कर दिया जाए अपितु उसे एक जगह स्थापित लेकर रखने की भी आवश्यकता नहीं घोड़े आदि पशुओं का सरलता से हस्तान्तरण किया जा सकता है। यह स्पष्टतः सुविधाजनक है कि काम में लाए जाने वाले छोटे-छोटे उपकरण उनसे काम करने वाले व्यक्ति के अधिकार में हों। दूसरी तरफ बड़ी-बड़ी मशीनें कुछ तुलनात्मक रूप में स्थायी अधिकारियों के नियन्त्रण में रखी जाएँ ताकि उन मशीनों को सुरक्षित रखा जा सके। फिर, एक कलाकार की प्रधान पूँजी उसकी स्मृति और उसके सम्मान होते हैं, जिन्हें सरलता से पृथक् न दूसरों को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता। अन्ततः श्रम का नियन्त्रण उद्यम करने वाले लोगों के हाथ में होना चाहिए अथवा अन्य लोगों के हाथ में जबकि इसमें पूर्ण दासता से लेकर अनेक दर्जे हो सकते हैं जैसे पूर्ण दास-वृत्ति और बेगार-श्रम से लेकर बाजार की माँग के अनुसार नियमित काम करने और कार्यकर्ता द्वारा अपने काम को अपनी इच्छा से चुनकर करने तक की विभिन्न स्थितियाँ। प्रथम और दूसरे प्रकार के काम सभ्य-संसार से व्यावहारिक रूप से समाप्त हो गए हैं और अन्तिम प्रकार के काम अपने पूर्ण अर्थों में विरल हैं। अधिकतर कार्य या तो वेतन के रूप में अथवा उत्पादन के विक्रय के रूप में किए जाते हैं। यहाँ तक कि यश अथवा सम्मान के लिए किये गए कार्य भी अधिक रूप से दूसरों के चयन द्वारा निर्धारित होते हैं।

सामान्यतः यह माना जा सकता है कि किसी वस्तु पर पूर्ण स्वामित्व अपवाद स्वरूप ही होता है चाहे वह कच्ची सामग्री पूँजी अथवा श्रम हो। राज्य अपने नागरिकों की सम्पत्ति पर नियन्त्रण का अधिकार रखता है यद्यपि वह अपनी सीमाओं के अन्तर्गत अपने देश का स्वामी होने का दावा करता है फिर भी वह देश के किसी विशेष भाग और उसके कुछ विशेष पदार्थों पर व्यक्तिगत नियन्त्रण को स्वीकार करता है। इससे सम्बन्धित अन्य प्रश्नों पर बाद में विचार करेंगे।[1]

---

१ विशेषतः इसी ग्रन्थ का दसवाँ अध्याय देखिए।

व्यक्ति अथवा राष्ट्र जिन अर्थों में मूल्यवान् पदार्थों को अपने नियन्त्रण में रखते हैं उन्हीं अर्थों में उनकी सम्पत्ति अथवा निर्धनता का निर्माण होता है।

६ धन और निर्धनता

धन को ऐसे नियन्त्रण के प्रतीक के रूप में और कुछ निश्चित शर्तों के अधीन व्यवहार के लिए स्वीकृत सिक्के के रूप में मूल्यांकित किया जाता है। इस तरह के नियन्त्रण को व्यवहार में लाने की शक्ति एक ऐसी प्रमुख परिस्थिति होती है जो शरीर और दिमाग की प्राकृतिक शक्तियों से पृथक होती है। और जो किसी मनुष्य को अन्य लोगों पर श्रेष्ठता प्रदान करती है और वह समाज के सदस्यों के हित को पूर्ण अर्थों में एक सामान्य हित बनने से रोकती है। इस प्रकार का नियन्त्रण किस सीमा तक व्यक्तियों को सौंपा जाए यही सामाजिक-दर्शन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है। प्लेटो ने इस पर बल दिया है कि किसी सुसंगठित समाज के शासक का यह कर्तव्य है कि उसके राज्य में किसी के पास अत्यधिक धन न हो और कोई अत्यधिक निर्धन भी न हो। परन्तु यह निश्चय करना सरल नहीं कि कितने धन को अधिक कहा जाएगा अथवा उसे वहाँ से कैसे हटाया जाएगा। अब तक इस पर हमने जितना प्रकाश डाला है उसे आगे के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए था और इस विषय की कुछ दूसरी बातों के बारे में यहाँ जानकारी करनी चाहिए।

आर्थिक द्रव्य कई बार एक ही समय में एक ही व्यक्ति के स्वामित्व में होते हैं और जब ऐसे द्रव्य का संभरण सीमित होता है तो एक का अधिकार अन्यों के अभाव का द्योतक होता है।

७ प्रतियोगिता

यह बात कुछ हद तक ऐसे द्रव्यों के बारे में भी सही है जो वास्तव में आर्थिक नहीं होते। पुस्तकालयों में रखी दुर्लभ पुस्तकें सभी लोगों की पहुँच में नहीं होतीं। सुन्दर दृश्यों का आनन्द एक समय में कुछ सीमित लोग ही उठा सकते हैं और कुछ लोग तो वहाँ तक कठिनाई से ही पहुँच पाते हैं। फिर दूसरी कठिनाई प्रायः आर्थिक आवश्यकताओं के दबाव की पड़ती है। यह सत्य है कि सुख-भावनीय वस्तुएँ शीघ्र ही सुलभ बनाई जा सकती हैं परन्तु कुछ आर्थिक वस्तुओं से विशेषतः जब वे जीवन के लिए आवश्यक होती हैं और लोगों द्वारा जब उनकी माँग अधिक होती है तो कुछ लोग उनसे दूसरों को नुकसान पहुँचा सकते हैं। फिर ऐसे पदार्थ व्यवहार में एक स्थायी संघर्ष का कारण भी बन जाते हैं। कुछ पदार्थों के लिए प्रतियोगिता होने लगती है। परन्तु इस सम्बन्ध में गम्भीर संघर्ष तब उठता है जब स्वामित्व की कठिनाइयों के बजाय उनके मूल्यांकन के सम्बन्ध में मतभेद पैदा होता है। उदाहरणस्वरूप जब लोग धर्म के सम्बन्ध में संघर्ष करते हैं तो वह इसलिए कि दूसरों के धर्म का औचित्य मानने की अपेक्षा अपना धर्म दूसरों पर थोपना

चाहते हैं। यही बात व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के लिए भी लागू होती है। राष्ट्रों और व्यक्तियों के बीच में स्वामित्व के लिए संघर्ष होता है यह हमेशा मूलत आर्थिक द्रव्यों को लेकर होता है। ऐसा संघर्ष वास्तविक युद्ध या प्रतियोगिता का रूप धारण कर लेता है तथा नियंत्रित अथवा अनियंत्रित रूप से चल सकता है और वह सामान्य हित में गम्भीर बाधक बनता है। मूलत वह अस्तित्व के लिए संघर्ष होता है परन्तु उससे मानव-जीवन के पशुओं के स्तर तक गिर जाने का भय रहता है। पर इस समस्या का समाधान यहाँ सन्तोषजनक रूप से नहीं किया जा सकता।

औद्योगिक जीवन की प्रतियोगिता सम्बन्धी कठिनाइयों से प्रधानत ऐसे विचारों का प्रादुर्भाव होता है जो व्यष्टिवाद और समाजवाद जैसे शब्दों से सम्बन्धित होते हैं। एक ओर आर्थिक जीवन के लिए प्रतियोगिता आवश्यक है यह व्यक्तिगत माँग और संभरण की पारस्परिक क्रियाओं से उत्पन्न होती है इसका मतलब यह होता है कि आर्थिक मूल्य ठीक तरह से आँके जाएँ और आर्थिक द्रव्यों का ठीक तरह से वितरण हो। दूसरी तरफ, वह यह प्रदर्शित करती है कि यह तरीका खर्चीला बड़ा और नाशक है। इससे गंभीर अन्याय उत्पन्न होता है। अत यह वांछनीय हो जाता है कि प्रतियोगिता के तरीकों के लिए केन्द्रीय नियन्त्रण का कोई एक रूप स्थापित किया जाए। इस तरह से उत्पन्न समस्याएँ व्यापक और कठिन होती हैं। उनमें से कुछ के बारे में बाद में विचार करेंगे। इसी बीच कुछ सामान्य विचार प्रस्तुत कर देना उचित होगा।

८ व्यष्टिवाद और समाजवाद

(१) यह आवश्यक है कि विशुद्ध औद्योगिक समस्याओं को सामान्य समस्याओं से पृथक रखकर देखा जाए। व्यष्टिवाद और समाजवाद शब्द सामान्यत औद्योगिक-संगठन की विधियों के प्रसंग में प्रयुक्त किये जाते हैं परन्तु कभी-कभी ये समाज के सामान्य सिद्धान्तों के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं।[1] इस व्यापक अर्थ में व्यष्टिवाद का अर्थ उस विचारधारा से लिया जाता है जिसके अनुसार समाज व्यक्तियों के एक समूह से बना है जब कि समाजवाद का अर्थ एक आन्तरिक-बन्धन (एक संघीय-एकता या एक सामान्य-इच्छा अथवा एक सामान्य-हित) से लिया जाता है जिससे व्यक्तियों द्वारा समाज का निर्माण होता है। इस सम्बन्ध में हम पहले कह चुके हैं कि संघीय अथवा साम्यवादी अवधारणा का प्रयोग अधिक उचित है। परन्तु हम यह भी ध्यान में रखना चाहिए जिससे समझने में किसी प्रकार की गड़बड़ न हो सम्प्र

१ बोसांके लिबिनिटेशन एंड डिलिनीएशन च १।

सम्भवाद शब्द की ओर भी ध्यान देना चाहिए, जिसका आर्थिक सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः सामाजिक-संगठन विषयक इस अवधारणा को हमें औद्योगिक-संगठन में प्रयुक्त की जाने वाली अनेक अवधारणाओं से सम्बन्धित समाजवाद शब्द से अलग करके देखना चाहिए। जब 'समाजवाद' का प्रयोग राज्य के संगठन के सम्बन्ध में होता है तो उसका विरोधी शब्द 'व्यष्टिवाद' की अपेक्षा अराजकतावाद (केन्द्रीय नियन्त्रण का अभाव) है। अराजकतावादी लोग सामान्यतः सम्प्रदायवादी होते हैं। वे समाज के आवश्यक संगठन को मान्यता देते हैं और सोचते हैं कि वह स्वभावतः प्राकृतिक है और उसके लिए किसी बाह्य शक्ति (राज्य) की आवश्यकता नहीं। वास्तव में जो लोग अपने-आपको समाजवाद का पोषक बतलाते हैं वे अराजकतावाद का अपना अन्तिम आदर्श स्वीकार करते हैं परन्तु वे उद्योगों के लिए समाजवादी संगठन को उसके प्रारम्भिक-स्तर के रूप में आवश्यक समझते हैं।

(२) यह फिर आवश्यक हो जाता है कि हम विशुद्ध उद्योग से सम्बन्धित समाजवादी संगठन के प्रकार और मानव-जीवन के संगठन-सम्बन्धी सामान्य प्रश्न में अन्तर करके देखें। जीवन के औद्योगिक पहलू के अतिरिक्त मनुष्य के ऐसे बहुत कार्य होते हैं जिनके लिए एक केन्द्रीय संगठन की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणस्वरूप एक राज-पथ, राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति, राष्ट्रीय-मंच या पुस्तकालय अथवा राष्ट्रीय रंग-मंच आदि को समाजवादी स्वरूप के रूप में वर्णित किया जा सकता है परन्तु इन संस्थाओं का पृथक-अन्य आर्थिक नहीं होता। और उनका शुद्ध औद्योगिक समस्याओं से भी कुछ सम्बन्ध नहीं होता। ये चीजें स्वभावतः सार्वजनिक वस्तुओं से सम्बन्धित होती हैं और उन्हें सामान्यतः प्रयोग के द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता। यही बातें यद्यपि अधिक स्पष्ट रूप में तो नहीं फिर भी सार्वजनिक अस्पतालों, निःशुल्क औषध-वितरण, यहाँ तक कि निःशुल्क कानूनी परामर्श, वृद्धावस्था में पेंशन और विश्वविद्यालयों के सहयोग के अनेक रूपों में भी देखी जा सकती हैं। इनको भी कभी-कभी समाजवादी कहा जाता है। परन्तु ये निजी सम्पत्ति के वर्तमान चालू ढंग और औद्योगिक प्रतियोगी प्रकारों के समान ही होती हैं। इनमें से कुछ में यदि यह व्यय न हो तो ये बेकार ही होंगी। प्रतियोगिता का अस्तित्व मानववाद के लिए असंगत नहीं है। जीवन-रक्षक नावें दे देने का मतलब यह नहीं होता है कि समुद्र में हमारा अनिष्ट हो ही नहीं सकता है। परन्तु यह मानकर चलना पड़ता है कि हमें उसका सामना करना है।

(३) यह ध्यान देने योग्य है कि जब समाजवाद शब्द का प्रयोग केवल मात्र शुद्ध औद्योगिक-संगठन के लिए किया जाता है तो भी वह कुछ अस्पष्ट रह जाता है। उससे 'साम्यवाद' से सम्बन्धित अर्थ भी लिया जा सकता है

अथवा कुछ समष्टिवाद का अर्थ भी निकाला जा सकता है। साम्यवाद की अवधारणा के अनुसार सारी सम्पत्ति का सामान्यीकरण होना चाहिए, अथवा वास्तव में सामान्यीकरण नहीं तो समान रूप से उसका वितरण होना चाहिए अथवा आवश्यकताओं के अनुसार या योग्यतानुसार वितरण होना चाहिए। समष्टिवाद में अनिवार्यतः यह नहीं आता परन्तु यह उद्योग पर एक केन्द्रीय नियंत्रण चाहता है जिसका अर्थ प्रमुख रूप से पूँजी के निजी स्वामित्व के उन्मूलन से है। इस प्रकार के नियंत्रण एक राज्य अथवा एक नगरपालिका के रूप में हो सकते हैं अथवा वे अधिकार श्रमिक-संघ के सदस्यों की इच्छानुसार आर्थिक कार्यों से सम्बन्धित किसी भी संस्था में नियोजित किये जा सकते हैं। श्रमिक संघवाद को हम उत्पादक-सहकारिता अथवा व्यापार-संघ के एक वृहद् रूप में समझ सकते हैं। समाजवाद के बारे में विचार करते समय यह जान लेना अत्यावश्यक होगा कि संगठन के इन रूपों में किसके बारे में संकेत किया जा रहा है[1]।

(४) ऐसे संगठनों की विधियों की व्यावहारिकता और वांछनीयता विषयक प्रश्न इतने व्यापक और जटिल हैं कि उनके विषय में यहाँ विचार करना उचित नहीं है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि औद्योगिक कार्यों के कुछ प्रकार अन्य कार्यों की अपेक्षा केन्द्रीय नियंत्रण को बहुत जल्दी स्वीकार करते हैं परन्तु इसमें सन्देह है कि सभी रूपों का संयोजन एक ही ढंग से वांछनीय हो सकता है। सड़कों, पुलों और रेलगाड़ियों का निर्माण व प्रयोग, पानी, गैस और बिजली का वितरण, गाँव और शहरों की योजना, डाक और तार का संवहन, सम्भवतः भूमि का बँटवारा भी। सब-के-सब व्यापक स्तर के कार्य हैं, वे सम्पूर्ण जिले अथवा सारे देश और कभी-कभी अखिल विश्व पर भी प्रभाव डालते हैं। इनकी व्यापकता से स्पष्ट है कि केन्द्रीय नियंत्रण विशेषतः इसी प्रकार के कार्यों के लिए उपयुक्त होता है। परन्तु थोड़ी मात्रा में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न लोगों की आवश्यकताओं और काम में आने वाली वस्तुओं पर यह नियन्त्रण लागू हो सकता है या नहीं यह सन्देहास्पद है। यहाँ तक कि भूमि के प्रयोग के विषय में भी बलपूर्वक यह कहा जा सकता है कि उस पर व्यक्तिगत स्वामित्व लाभदायक सिद्ध हुआ है यद्यपि दूसरे पक्ष के सम्बन्ध में भी कुछ दृढ़ तर्क पेश किये जा सकते हैं। सामान्यतः जब किसी काम-विशेष में कुछ लोगों की रुचि और स्वार्थ सम्बद्ध होते हैं या किसी आविष्कार के लिए चातुर्य विशेष का महत्त्व होता है तो उसका नियंत्रण सम्बद्ध लोगों के हाथ में ही छोड़ दिया जाता है।

यहाँ हम उचित रूप में यही कह सकते हैं। न्याय, समानता, योग्यता, उपहार

---

१. श्री जी० डी० कोल की पुस्तक 'द वर्ल्ड ऑफ लेबर' अध्याय ६।

दूसरी समस्याओं के बारे में आगे विचार करेंगे ।

१ काम और अवकाश

प्रत्येक आदमी का एक विशेष स्थान और काम होता है जैसा कि हम पूर्व-अध्याय में बता चुके हैं। उस विधि से चलने से जीवन-सम्बन्धी जरूरतों में शिथिलता नहीं आती। यदि कोई एक अच्छा नागरिक बनना चाहता है तो उसे अपने व्यक्तित्व के विकास और नागरिकता के सामान्य नियमों के पालन के लिए कुछ अवकाश अवश्य चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रम में लगाए जाने वाले समय की एक सीमा निर्धारित कर दी जानी चाहिए और यह कार्य उन कार्यों में से एक है जिन्हें केन्द्रीय नियन्त्रण से प्राप्त किया जा सकता है। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते जाएँगे वैसे-वैसे यह विषय और अधिक स्पष्ट होता जाएगा।

चतुर्थ अध्याय

राज्य

राज्य का उचित अर्थ क्या है, यह निश्चित करना कोई सरल बात नहीं है। इस शब्द के साथ कभी-कभी राष्ट्र या सरकार, जनता या देश और कभी-कभी कुछ अन्य शब्द भी मिला दिये जाते हैं। अतः यह अच्छा होगा कि प्रारम्भ में इस तरह के सम्बन्धित शब्दों की परिभाषा दे दी जाए। इस प्रकार के शब्द समाज, समुदाय, जनता, देश, जाति, राष्ट्रीयता, राष्ट्र, सरकार, राज्य और सप्रभु राज्य आदि हैं। यहाँ हम इन पर क्रमशः विचार करेंगे।

१ राज्य क्या है ?

(१) समाज—समाज का अर्थ व्यक्तियों के उस समूह से है, जो किसी विशेष उद्देश्य को लेकर एकत्रित हुआ है (इसमें घनिष्ठ व्यक्तिगत-सम्पर्क की आवश्यकता नहीं है)। वाद-विवाद प्रतियोगिता-समाज, सहकारी-समाज, वैज्ञानिक-समाज आदि अनेकों समाज होते हैं, पर एक राष्ट्र अथवा एक राज्य को भी समाज की श्रेणी में रखा जा सकता है। समाज एक सामान्य शब्द है, जिसे व्यक्तियों में उपस्थित संगठन की अनेकों विभिन्न प्रणालियों के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

(२) समुदाय—समुदाय एक ऐसा समाज होता है, जिसमें लोग एक प्रकार के घनिष्ठ सम्पर्क में रहते हैं, जैसे, एक समाजवादी-समुदाय, मोरेवियन लोगों का समुदाय आदि। प्राचीन पैथागोरियन लोग कुछ वर्षों से एक समुदाय बनाकर रहते थे और कुछ अन्य दार्शनिक-समूह, जैसे एपिक्यूरियन लोग भी एक समुदाय का निर्माण करते हैं। एक समुदाय में घनिष्ठता का रूप भिन्न भिन्न होता है। कोई भी समाज एक समुदाय कहला सकता है जबकि वह कुछ आध्यात्मिक सूत्र अथवा सामान्य-हित के लक्ष्य के द्वारा एक आन्तरिक-बन्धन में बँधा होता है। सम्पूर्ण मानव-जाति यदि तात्त्विक रूप से एक भ्रातृत्व का रूप धारण करके एक *सामान्य-हित का लक्ष्य लेकर आगे बढ़ती है तो उसे हम एक समुदाय के रूप में* वर्णित कर सकते हैं।

(३) जनता—जनता ऐसे व्यक्तियों का एक समूह है जो आवश्यक रूप से

एक साथ न रहते हुए भी परम्परा अथवा स्थायी एकता को बनाए रखते हैं। यहूदी लोग एक साथ नहीं रहते रहे लेकिन वे कुछ दृढ़ परम्पराओं भाषा धार्मिक भावना अनेकों ऐतिहासिक घटनाओं व स्मृतियों तथा धर्मों के द्वारा पूर्णत: सम्बद्ध रहे हैं। स्विस लोगों में विभिन्न जातियाँ हैं उनकी भाषा व धर्म में भेद है लेकिन फिर भी वे एक सामान्य भाव में बँधे हुए हैं। एक राष्ट्र सदा जनता का निर्माण नहीं करता। जब टेनिसन यह कहता है कि—

'हम एक जनता हैं फिर भी
भूल गए हैं सभी लोग अपने अन्य सुन्दर सपने'[1]

तो वह इससे प्रकट करता है कि कुछ राष्ट्र जनता नहीं हैं।[2] जर्मनी में सम्भवत: संगठन का एक तत्त्व ही ऐसा रहा है जिसके कारण राजनीति धर्म और जाति में भिन्नता होने पर भी एक पितृभूमि का स्थायीभाव असाधारण रूप से दृढ़ रहा है। कार्लाइल ने एक सच्ची मित्रता के लिए आवश्यक शर्त के रूप में यह कहा है[3] कि विचारों में भिन्नता व अतिरिक्त मतभेद नहीं होना चाहिए। यह बात जनता की एकता के लिए भी प्रयुक्त की जा सकती है। कभी-कभी कम संगठित जनता में भी कुछ ऐसे समूह होते हैं जो बहुत घनिष्ठता से आपस में संगठित होते हैं। प्राचीन ग्रीसवासी कुछ ऐसे ही लोग थे जिनकी एक सामान्यभाषा साहित्य धर्म तथा ऐतिहासिक-संगठन था फिर भी एथेन्सवासी स्पार्टा-निवासियों से भिन्न थे। समान होते हुए भी बहुत थोड़ा अन्तर इंगलैण्ड और स्काटलैण्ड के लोगों में मिलता है और इसी प्रकार का अन्तर संभवत: उत्तरी और पश्चिमी जर्मनी में भी है। फिर, ईसाई धर्म को मानने वाले सभी लोगों का एक स्थायी भाव के कारण एक समाज बना हुआ है यद्यपि उन लोगों में बड़ी भिन्नताएँ हैं। इस मुहावरे में बहुत कुछ सत्य छिपा हुआ है कि पूर्व पूर्व ही है और पश्चिम पश्चिम। इसका अर्थ यह है कि पूर्व में एक विचार के लोग रहते हैं और इसी तरह पश्चिम में और उनके विचारों की भिन्नता ही पूर्व और पश्चिम के बीच का अन्तर है। परन्तु सम्भवत: यह प्रमुख रूप से भारत और इंगलैण्ड के अन्तर को दिखाने के लिए कहा गया है।[4]

---

१ We are a people yet,
Though all men else their nobler dreams forget,

२ टेनिसन का यह दावा कहाँ तक सही है कि हम लोग विशेष प्रभावात्मक ढंग में एक जनता हैं पर यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता। हम लोग स्पष्टत: एक ही जाति के लोग नहीं हैं परन्तु यह सत्य है कि हम लोगों ने दूसरे लोगों की अपेक्षा महत्वपूर्ण प्रश्न के समय छोटे-छोटे भेदों को भुला देना सीखा है।

३ 'लाइफ आफ स्टर्लिंग' भाग २, अध्याय १।

४ किपलिंग : 'बैरक रूम बैलड्स' पृष्ठ ७८–९।

(४) देश—कोई देश प्राथमिक रूप से एक भौगोलिक एकता को व्यक्त करता है परन्तु सभी देशों की सीमाएँ उनकी भौगोलिक विशेषताओं के अनुसार कठिनाई से ही निर्धारित की जाती हैं। ग्रेट ब्रिटेन को स्पष्टतः एक देश कहा जाता है परन्तु इंग्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड अलग-अलग देश माने जाते हैं क्योंकि लम्बी अवधि से ये दो पृथक् राष्ट्र रहे हैं। साराश में एक देश को किसी एक राष्ट्र या जाति द्वारा घिरा हुआ स्थान कहा जा सकता है परन्तु प्राचीन यूनान भी सामान्यतः एक देश के रूप में समझा जाता था यद्यपि उसमें बहुत-से राज्य थे। दूसरी तरफ आयरलैण्ड की ब्रिटेन से घनिष्ठ एकता थी फिर भी उन्हें एक देश के रूप में नहीं समझा जा सकता। परन्तु हम जापान के द्वीपों को प्रायः एक देश के रूप में गिनते हैं। इन उदाहरणों से यह प्रकट होता है कि यह शब्द कुछ अंश में भौगोलिकता तथा कुछ अर्थों में राजनीति को लेकर प्रयुक्त हुआ है। परिणामस्वरूप यह कुछ अस्पष्ट भी है। यह प्रायः राष्ट्र[1] का समानार्थक भी समझा जाता है। देश भक्ति की भावना में देश की भौगोलिक विशेषताएँ सम्मिलित रहती हैं और वे बड़े सूक्ष्म रूप से उसमें सम्बद्ध रहती हैं। इसमें लोगों के चरित्र उनका इतिहास उनकी प्रथाएँ, परम्पराएँ तथा उनकी संस्थाएँ आदि भी सम्मिलित रहती हैं[2]।

(५) जाति—एक मनुष्य दूसरे मनुष्यों से अपने शारीरिक-गठन स्वभाव विचार अनुभूति और क्रियाओं की भिन्नता के कारण पृथक दिखाई देता है। एक नीग्रो और एक ट्यूटन में स्पष्ट भिन्नताएँ होती हैं अतः उन्हें पृथक्-पृथक रूप में साफ पहचाना जा सकता है। यह कहना अति कठिन है कि इस तरह की स्पष्ट भिन्नताओं वाले लोग भी एक ही तरह की जनता का निर्माण करने के लिए विचारों में पर्याप्त समानता ला सकें[3]। परन्तु यह भी कहना कठिन है कि

---

१ पितृ के प्रति एक सम्बोधन के रूप में "मेरा देश! मैं अपने देश को कैसे छोड़ सकता हूँ!" इसी तरह "भूमि" को भी प्रयुक्त किया गया है। डेविडसन ने ... में लिखा है।

२ इस सम्बन्ध में शेक्सपीयर के प्रसिद्ध वाक्य उद्धृत किए जा सकते हैं—

This happy breed of men, this little world,
This precious stone set in the silver sea,
This blessed plot, this earth, this realm, this England
This land of such dear souls this dear dear land
Dear for her reputation through the world.

इसी तरह स्कॉट तथा वाल्ट ह्विटमैन के अमेरिका के प्रति मनोरम विचारों के साथ तुलना कीजिए।

३. विलियम आर्चर : अ ... एंग्लो-अमेरिका और ब्राउन की "अमेरिकन ऑफिस-वैल्यू" देखिए।

ऐसी भिन्नताएँ बिलकुल रुकावट ही रहती। उदाहरणस्वरूप यहूदी लोग जिन देशों में रहते हैं उन देशों के लोगों से अपनी भिन्न जाति के कारण ही नहीं परन्तु दृढ़ राष्ट्रीय परम्पराओं के कारण भी पृथक दिखलाई देते हैं फिर भी वे लोग जिन लोगों में रहते हैं उनके साथ अपनी अनुकूल परिस्थिति में घुल मिल जाते हैं। जर्मनी में रहने वाले यहूदियों के विषय में कहा जाता है कि वे जर्मनी के लोगों की अपेक्षा अधिक जर्मनीवासी हैं' और इसी तरह के और बहुत-से उदाहरण दिए जा सकते हैं।

(६) राष्ट्रीयता—राष्ट्रीयता उन लोगों का एक समूह है जिनका केवल एक ही देश में रहना अथवा सामान्य स्थायी भाव के कारण आपस में सम्बद्ध होना आवश्यक नहीं परन्तु उनका एक-दूसरे के साथ जाति भाषा अथवा किसी पूर्व साहचर्य द्वारा सम्बद्ध होना आवश्यक है। संयुक्त राष्ट्र-संघ अमरिका में आयर्लैण्ड जर्मनी चीन तथा अन्य दूसरे राष्ट्रों के लोग रहते हैं। चेम्बरलेन को अपनी पितृ भूमि जर्मनी के प्रति सहानुभूति रही है तथापि वहाँ एक लम्बे निवास के बावजूद भी उन्हें एक ब्रिटिश राष्ट्रीयता वाले के रूप में गिना जाता है।

(७) राष्ट्र—राष्ट्र लोगों का एक समूह है जिसमें लोग आवश्यक रूप से नहीं फिर भी एक देश के रूप में निवास करते हैं और साधारण कानून तथा परम्पराओं के द्वारा एक-दूसरे से बँधे रहते हैं। जर्मनी और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के लोग दो भिन्न-भिन्न देशों के सदस्य हैं। जर्मन लोग उन भिन्न देशों में रहते हैं, जहाँ के लोगों ने उनके देश पर कब्जा किया हुआ है। इस प्रकार दोनों समूहों में अनेक विभिन्न राज्यों के लोग रहते हैं। यद्यपि स्कॉटलैण्ड मात्र एक राज्य नहीं रहा है किन्तु मेरे विचारसे वह एक राष्ट्र अब भी है। यदि मान द्वीप को देश समझा जा सकता, है तो मैं सोचता हूँ कि वह एक पृथक् राष्ट्र भी होगा परन्तु उसके अनुरूप और ब्रिटेन के साथ निकट सम्बन्ध के कारण ऐसा नहीं माना जाता। 'राष्ट्र' शब्द 'राज्य' के समानार्थक ही समझा जाता है परन्तु सामान्यतः एक व्यापक अर्थ में लिया जाता है।

वेल्स स्वयं प्रभुत्व सम्पन्न नहीं है और न उसकी अपनी राजधानी है परन्तु उस का भी एक राष्ट्रीय-पुस्तकालय एक राष्ट्रीय अजायबघर और एक विश्वविद्यालय है।

(८) सरकार—कानून द्वारा नियमित जहाँ कहीं भी कोई व्यवस्थित जीवन प्रणाली वाला समूह होता है वहाँ कानून बनाने देखने और उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने वाली कोई स्वीकृत शक्ति होनी आवश्यक है इसी शक्ति को सरकार कहा जाता है। वह किसी एक व्यक्ति या एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा निर्मित हो सकती है। यह शक्ति निरपेक्ष होती है और उस पर कुछ बन्धन भी हो सकते हैं। उसकी प्रभुत्व-शक्ति पूरे राष्ट्र पर अथवा उस राष्ट्र के कुछ

पर अथवा अनेक राष्ट्रों तक व्यापक हो सकती है। जब हम स्थानीय-सरकार शब्द का प्रयोग करते हैं तो वह कम या अधिक केन्द्रीय-सरकार के नियन्त्रण में होती है। यहाँ तक कि होम रूल की पद्धति के अन्तर्गत न केवल एक राष्ट्रीय सरकार बल्कि कई बातों में साम्राज्य-सरकार भी संवैधानिक नियमों के अधीन होती है। कभी-कभी 'राज्य' का प्रयोग 'केन्द्रीय-सरकार' के अर्थ के रूप में भी किया जाता है। लुई चौदहवें ने इस शब्द का अपने लिए इसी अर्थ में प्रयोग किया है परन्तु राज्य को सरकार के स्वरूप में लेने से बड़ी गड़बड़ पड़ जाती है।

(१) राज्य—राज्य की उचित परिभाषा हम इस तरह से दे सकते हैं कि वह लोगों का एक ऐसा समूह होता है जो वहाँ की सरकार के अतिरिक्त प्रत्यक्ष रूप से किसी भी दूसरी शक्ति द्वारा नियन्त्रित नहीं होता। इसमें हम स्थानीय सरकार द्वारा शासित किसी एक जिले को भी ले सकते हैं वह भी केन्द्रीय सरकार की शक्ति का विषय होता है। परन्तु एक राष्ट्र जो कुछ अंशों में स्वयं संचालित है परन्तु कुछ अंशों में नहीं उसे राज्य न कह ऐसी बात नहीं है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के संवैधानिक सदस्य राज्य अथवा जर्मन साम्राज्य के स्थित पृथक-पृथक राज्यों को उसी रूप में राज्य कहा जा सकता है यदि उनका आन्तरिक मामला उनके अपने अधिकार में हो। परन्तु होमरूल प्राप्त अथवा औपनिवेशिक स्वशासन प्राप्त राज्यों को जो किसी राष्ट्र का ही एक भाग होते हैं पृथक राज्य के रूप में मानना कठिन है। एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में उन का अन्तर यही है कि केन्द्रीय सरकार अधीनस्थ सहकारी के रूप में उनके निर्णय को बदल सकती है और नियन्त्रित कर सकती है। यह कार्य कभी-कभी बड़ा सन्देहपूर्ण होता है अथवा किसी राज्य का किसी सीमा तक अपना नियन्त्रण अपने हाथ में होता है और उसका बाह्य-नियन्त्रण किसी दूसरे राज्य के हाथ में अथवा उसके कार्य एक सन्धि द्वारा सम्बद्ध होते हैं। बेलजियम एक ऐसा ही उदाहरण है। ऐसे राज्य पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं होते।

(१) सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य—सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य पूर्णतः स्वतन्त्र होता है। परन्तु इसका अर्थ अनिवार्यतः यह नहीं कि वहाँ की सरकार अपनी इच्छानुसार कार्य करने में पूर्ण समर्थ है। सम्प्रभुता का जिस अर्थ में यहाँ प्रयोग किया गया है वह सरकार में रह भी सकती है और नहीं भी रह सकती। लुई चौदहवें ने जो यह दावा किया था कि प्रभुत्व-शक्ति का निवास उसी में है और वैसे शुद्ध राजतन्त्र में ऐसा होने में सन्देह नहीं होना चाहिए। पर भले ही ऐसी सरकार का शक्ति के भय द्वारा हिलाया जा सकता है परन्तु संवैधानिक सरकार पर सुनिश्चित बन्धन होते हैं। वहाँ अमेरिका की तरह एक लिखित संविधान हो सकता है जो सरकार की शक्ति की सीमा को निर्धारित करता है अथवा उसकी शक्ति परस्पर एक-दूसरे पर प्रतिबन्ध लगाने वाले पृथक-

पृथक् अंगों के द्वारा सीमित की जा सकती है। ऐसी अवस्था में सरकार के एक या अधिक अंगों का आमतौर पर कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर लोक-समुदाय के वोटों के द्वारा चुनाव होता है। ऐसी पद्धति जितनी अधिक सुविकसित होती है उतनी ही अधिक वह इस सत्य के निकट होती है कि अन्तिम सम्प्रभुता वहाँ की जनता म निवास करती है और सरकार जनता की प्रतिनिधि के रूप में कार्य करती है। प्राय यह मान लेना एक गलत धारणा होगी कि ऐसी पद्धति में जनता शासन करती है। सदैव इस बात की सम्भावना है कि निर्वाचित सरकार जनता की इच्छानुसार कार्य न करे और वास्तव मे बहुत-से लोग यही चाहते है कि निर्वाचित सदस्य-गण अपने विवेक के अनुसार कार्य करें। अत यह वाञ्छनीय है कि राज्य म अन्तिम प्रभुसत्ता और शासन-सत्ता म भेद किया जाए जैसे एक परिवार के उदाहरण में हमने यह प्रस्तुत किया था कि एक बच्चा सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न होता है यद्यपि शासन माता-पिता करते है। यह स्मरण रहे कि एक प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य भी दूसरे राज्यों के साथ सन्धि द्वारा अपने कार्यों को नियन्त्रित कर सकता है। प्रभुसत्ता के लिए आवश्यक यह है कि जिन बन्धनों से वह सीमित होती है वे ऐच्छिक होने चाहिए। निस्सन्देह व्यवहार मे कभी कभी यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि वास्तव मे ऐसी बात है या नही।

यह भी कहा जा सकता है कि जिन शब्दों या परिभाषाओं का यहाँ प्रयोग किया है उनका भिन्न अर्थ भी हो सके। मैंने उनकी परिभाषा इस तरह से देने की कोशिश की है कि वे अपने प्रचलित प्रयोग से बहुत दूर न हो जाएँ और इसके साथ ही वे अपने महत्वपूर्ण अन्तर को प्रदर्शित करने मे भी समर्थ रह पाएँ। इस विषय मे अधिक विचार हमें अपनी सीमा से अधिक दूर ले जाएगा। साधारण भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्द कुछ अस्पष्टता भी पैदा कर सकते हैं। यह आवश्यक नही है कि हमेशा उनका एक ही अर्थ मे प्रयोग हो परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि हम यह जान सकें कि एक विशेष समय मे उनका प्रयोग किस अर्थ में किया जा रहा है। राज्य की सामान्य विचारधारा से सम्बन्धित समस्याओं का उचित विश्लेषण राजनीति-शास्त्र को लक्ष्य बनाकर लिखी गई पुस्तकों मे ही ठीक मिलेगा।

प्रधानत राज्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया गया है कि उसकी सामाजिक सगठन की मूल आधारभूत-प्रणालियाँ प्राकृतिक हैं अथवा कृत्रिम। परिवार एक प्राकृतिक संस्था है इसमें सन्देह नही किया जा सकता।

१ राज्य का प्राकृतिक आधार

यह स्पष्ट है कि शिक्षा की जरूरतें और औद्योगिक-संस्थाओं के द्वारा पूर्ति की जाने वाली विविध आवश्यकताएँ हमें स्वाभाविक रूप से किन्हीं संगठन की प्रणालियों की ओर ले जाती हैं। अब ऐसे संगठन सरकार के नियन्त्रण में या

जाते हैं तो उनमें स्वैच्छिक तत्त्व प्रविष्ट होते हुए दिखाई पड़ते हैं और सामान्यत सरकार के रूप स्वेच्छाचारी होते हैं। वे मानव की मूल प्रकृति से स्वत उद्भूत होते हुए दिखाई नहीं देते परन्तु बाह्य दबाव द्वारा आते हुए प्रतीत होते हैं। यह भी स्वीकार करने योग्य है कि वे कभी-कभी अत्यधिक स्पष्ट रूप में जबरदस्ती थोप भी दिये जाते हैं। जब एक राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र को जीत लेता है और उस पर अपने थोड़े अथवा सभी कानूनों का प्रयोग करता है तो स्पष्ट है कि यह कार्य पराजित राष्ट्र की प्रकृति के अनुसार नहीं होता वह उसकी प्रकृति से एकदम विपरीत भी हो सकता है। अग्नि के जलने को भी प्राकृतिक अथवा कृत्रिम कहा जा सकता है। कुछ पदार्थों के लिए किसी विशेष ताप पर जलना प्राकृतिक होता है परन्तु जिन परिस्थितियों के द्वारा वह ताप उत्पन्न किया जाता है वे कृत्रिम अथवा स्वेच्छाचारी हो सकती हैं। इसीलिए मनुष्यों के लिए कपड़ा पहनना स्वाभाविक है यद्यपि जिस विशेष ढंग से वे पहने गये हैं वे परम्परागत हो सकते हैं। कार्लाइल की सरटार रिसारटस (Sartor Resartus) में सभी मानवीय परम्पराओं की तुलना कपड़ों के साथ की गई है। परन्तु कुछ कपड़े पहनना उतना ही स्वाभाविक है जितना खाना और पीना। जब रूसो ने यह कहा कि मानव स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ है परन्तु प्रत्येक जगह बन्धनों में बँधा हुआ है उससे उसका मतलब सामाजिक नियन्त्रणों की प्राकृतिकता से इन्कार करना नहीं था परन्तु कृत्रिमता से प्राकृतिकता का अन्तर प्रदर्शित करना ही था।[1] कोई बात प्राकृतिक है इस बात का पता तो इससे भी लग जाता है कि कुछ हद तक उसका अस्तित्व प्राणियों में भी पाया जाता है। पशुओं के बहुत से झुण्डों में नेता होते हैं और कभी-कभी वे केवल नेतृत्व ही नहीं करते परन्तु दबाव भी डालते हैं। नियन्त्रण की प्राकृतिकता पर बल देने वाले अन्य तरीके निस्सन्देह कम विश्वासोत्पादक हैं। शेक्सपीयर ने यूलिसस[2] के मुँह से तर्क

---

१ जिन विविध तरीकों से समाज अपने सदस्यों पर नियन्त्रण का प्रयोग करता है उन पर प्रो० ई० ए० रोस महोदय ने अपनी पुस्तक 'सोशल कन्ट्रोल' में प्रकाश डाला है। नियन्त्रण करने वाली संस्थाओं में से राज्य भी एक है पर शायद प्रो० रोस ने उसके कार्य का कम मूल्यांकन किया है। मैकाइवर की 'कम्युनिटी' पृ० १२१–८ को भी देखिए।

२ The heavens themselves the planets and this centre
Observe degree priority and place
Insisture course proportion, season, form,
Office and custom, in all line of order
And therefore in the glorious planet Sol
In noble eminence enthroned and sphered

के जिस ढंग का प्रयोग करवाया है वह बहुत लोगों के लिए अब विश्वसनीय नहीं रहा है—

दिव्य-लोक स्वयं यह ग्रह-नक्षत्र व केन्द्र
ध्यान रखते हैं क्रम प्राथमिकता व स्थान का
नियम मार्ग अनुपात, ऋतु, निर्धारित
कानून व परम्पराएँ, सबके सब एक व्यवस्था का
और इसीलिए तो है यह उत्तम ग्रह-मण्डल
अति उत्कृष्टता से प्रतिष्ठित, एक गोलक में संचित
अन्यों के मध्य में जिसकी सर्वोपचारी आँखें
सुधार देती हैं वहीं के दुष्ट से अशुभ ग्रहों को
शुभ या अशुभ के प्रति बिना किसी अवरोध के।

प्रकृति के नियमों को अब इस अर्थ में नियमों के रूप में नहीं माना जाता और लोगों की प्रकृति में इस परिवर्तन के कारण सामाजिक नियमों में विश्वास भी कम हो गया है। विशेषतः बल प्रयोग का तत्त्व जो विकट दशाओं में अब भी आवश्यक समझा जाता है सामान्यतः दुर्भाग्यपूर्ण आवश्यकता माना जाता है। यदि बल प्रयोग को भी नितान्त अनावश्यक समझ लिया जाए तो भी केन्द्रीय-संगठन और मार्ग-दर्शन की विधि का कम महत्त्व अथवा उसकी कम प्राकृतिकता नहीं रह जाती। किसी भी सरकार की प्रणाली किस हद तक प्राकृतिक है यह इस बात पर बहुत अधिक निर्भर है कि वह किस हद तक लोगों के मार्ग-दर्शन की आवश्यकता की पूर्ति करती है। अतः यह जानना अच्छा रहेगा कि राज्य की प्रकृति के लिए बल प्रयोग की विचारधारा कहाँ तक आवश्यक है।

राज्य की विशेषता यह है कि वह समाज पर नियन्त्रण करने की शक्ति रखता है। एक ऐसी शक्ति रखता है जो अपने आपमें पूर्ण तथा जिस पर कोई रोक नहीं की जा सकती। अतः एच० वॉन ट्रेट्स्की[2]
२ बल के रूप में राज्य (Treitschke) महोदय ने विशेषरूप से यह प्रकट किया कि राज्य की अनिवार्य विशेषता उसकी शक्ति है।

Amidst the other whose medicinable eye
Corrects the ill aspects of planets evil,
And posts like the commandment of a king
Sans check to good or bad.

—Troilus and Cressida.

२. इनकी पुस्तक 'पालिटिक्स' अब अंग्रेजी में प्राप्य है। इसका परिचय श्री बालफोर महोदय द्वारा दिया गया है। इसमें इनके वक्तव्य और अतिरंजन के अतिरिक्त भी मनन करने योग्य सामग्री प्रचुर मात्रा में है।

यह विचार जर्मनी में बहुत व्यापक था जहाँ अनेकों कारणों से राज्य पर बल बहुत मजबूती के साथ दिया गया। यह सत्य है कि राज्य एक समायोजित समुदाय है जिसके निश्चित कानून और लक्ष्य होते हैं और यदि आवश्यकता अनुभव करे तो उन्हें लागू करने के लिए वह उनका प्रयोग कर सकता है। उसकी शक्ति का प्रयोग दो ढंग से होता है एक अपने आन्तरिक-नियन्त्रण के लिए और दूसरा अपने बाह्य-संरक्षण के लिए। प्लेटो ने राज्य-शासकों की तुलना पहरे देनेवाले कुत्तों से की है जो अपने घर वालों के मित्र होते हैं और बाहर वालों के लिए आक्रमक। परन्तु यह बहुत अच्छी तुलना नहीं है। एक बुद्धिमान् शासक बाहर और अन्दर दोनों पक्षों से मित्रता स्थापित करता है। पर जब वह ऐसे सम्बन्धों को स्थापित करने में असफल होता है, तभी उसे शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। अतः यह कहना मुश्किल से ही सत्य हो सकता है कि बल ही राज्य का अत्यावश्यक तत्त्व है। जहाँ कहीं सरकार होती है वहाँ विरोध की सम्भावना होती है और उस विरोध को शक्ति के द्वारा ही जीता जा सकता है। माता-पिता अध्यापक और उद्योगों के संयोजक दबाव के किसी-न-किसी रूप को अपनाते हैं। परन्तु यह कोई नहीं कह सकता है कि ऐसे सम्बन्धों के लिये शक्ति एक अत्यावश्यक पहलू है। इस सम्बन्ध में संभवतः राज्य की समानता में निकटतम संस्था औद्योगिक संगठन है। औद्योगिक संगठन को भी अपने भीतर संतोषजनक स्थिति पैदा करनी पड़ती है और बाहर से आने वाली कठिनाइयों और खतरों की जाँच-पड़ताल करनी पड़ती है। इन दोनों बातों में कुछ औद्योगिक ढंग का संघर्ष उद्योगशाला के संगठन अथवा वहाँ के वातावरण की सामाजिक स्थिति में कोई दोष आ जाने के कारण पैदा हो सकता है। राज्य के बारे में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। यदि कानून अच्छे बनाये गए हैं तो विद्रोह अपवादस्वरूप ही उठता है और यदि कोई राज्य अपने पड़ोसी राज्यों के साथ मैत्री से रहता है तो यह आशा की जा सकती है कि पड़ोसी भी उसके साथ मैत्री से ही रहेंगे।

शक्ति पर बल देने का सिद्धान्त कुछ अंशों में अस्तित्व के लिए संघर्ष नामक जैव सिद्धान्त से सम्बन्धित है। परन्तु प्राणी-जीवन के लिए इस सिद्धान्त का प्रयोग संभवतः कुछ गलत रूप से किया गया है और उससे भी ज्यादा गलत प्रयोग मानव के जीवन के सम्बन्ध किया गया है। वास्तव में बात यह है कि जीवन का विकास अपनी परिस्थितियों से सबसे अधिक समायोजन करने वाले प्राणियों के अस्तित्व तथा अपने आपको समायोजित न करने वाले प्राणियों के नाश पर आधारित है। परन्तु प्राणी-जीवन में भी आक्रामक-क्रियाओं द्वारा इस प्रकार के परिणाम निकलना आवश्यक नहीं है और प्राकृतिक रूप से सर्वोच्च विकसित प्राणियों में भी ऐसे परिणामों का

उत्पन्न होना तो आवश्यक हो ही नहीं सकता। मानव-जीवन में सर्वोत्तम रूपों के चुनाव के लिए समर्थ नहीं होता वरन् उस सर्वोत्तम रूप को चेतना युक्त प्रयासों से तो प्रोत्साहन मिलता है। सामान्यतः युद्ध तो सर्वोत्तम वस्तुओं का नाश सर्वप्रथम करता है। रोग तथा दोष तो निम्न श्रेणियों के प्राणियों का नाश करने में अधिक समर्थ होते हैं। थ्रेसीमेकस का विश्लेषण करते समय इस बारे में हम पहले कुछ कह भी चुके हैं तथा युद्ध-विषयक विशेष समस्या पर हम आगे प्रकाश डालेंगे। इसी बीच यह कहना पर्याप्त होगा कि राज्य का सार केन्द्रीय नियन्त्रण में है शक्ति में नहीं। शक्ति तो केन्द्रीय नियन्त्रण के लिए एक साधन मात्र है।

४ कानूननिर्माता के रूप में राज्य

इस तरह यह प्रतीत होता है कि राज्य का मूल कार्य अपने अन्दर किसी संगठन को बनाये रखना है और उसका दूसरा कार्य उस संगठन की रक्षा करना अथवा जैसे जर्मन लोग इसे कल्टर (Kultur) के रूप में पुकारते थे। इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति सरकार अपने दो प्रधान अंगों विधान निर्मातृ सभा और व्यवस्थापिका-सभा के द्वारा करती है। केन्द्रीय नियंत्रण निश्चित निर्णयों और अवबद्ध-क्रियाओं के द्वारा व्यक्त होता है। इसकी सामान्य प्रकृति के बारे में हम पहले ही कह चुके हैं[1]। राज्य का जीवन बहुत लम्बा होता है और अधिकतर उसके कार्य नियमन प्रणालियों में निहित अथवा संयुक्त होते हैं जो बहुत वर्षों तक चलते रहते हैं। राज्य कानून और संस्थाओं में साकार रूप धारण करता है जिसमें किसी विशेष समय किये गए निर्णयों को कार्य रूप में परिणत किया जाता है। किसी राज्य का जितना अधिक पूर्ण संगठन होता है उतनी ही अधिक उसके संविधान द्वारा निर्धारित कार्यों और लागू किये गए नियमों की पूर्ति होती है इसके विपरीत विशेष व्यक्तियों और अफसरों के निर्णय क्षणिक होते हैं[2]। सब जगह कानून एक समान हों यह आवश्यक नहीं है। बहुत-सी बातें स्थानीय सरकार पर छोड़ी जा सकती हैं। यदि विभिन्न राष्ट्र एक राज्य में संयुक्त होते हैं तो प्रत्येक के कानून भिन्न-भिन्न हो सकते हैं परन्तु उनकी शक्ति और अनुशासन केन्द्रीय सरकार से ही प्राप्त होते हैं। सामान्यतः एक सुव्यवस्थित राज्य को अपने कानून सीधे लागू करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। बार्ल्ड क्रिट मैन ने अपनी 'प्रेट-सिटी' में यह प्रतिपादित किया है कि लोग कानूनों को कानून के

---

१ अध्याय ३ विभाग २।

२. इसके बारे में एक विशेष रोचक विश्लेषण प्लेटो के 'स्टेट्समैन' पृ. सं. २९४ ई २ में तथा अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' खण्ड ३ अध्याय १५ में देखें।

रूप में बहुत कम सोचता है क्योंकि उन्हें वे केवल अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति के रूप में अनुभव करते हैं। यदि आवश्यकता पड़ने पर कानूनों को लागू नहीं किया जा सकता तो उन्हें हम किसी राज्य के कानून नहीं कह सकते हैं उन्हें हम प्रथाएँ नियम अथवा नैतिक शिष्टाचार कह सकते हैं परन्तु राज्य के कानून नहीं। अतः यह सत्य है कि राज्य की गतिविधि के पीछे सदैव शक्ति सुरक्षित रहती है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि किस अर्थ में यह सत्य है कि बल राज्य के जीवन म एक अनिवार्य तत्त्व है। प्रत्येक वास्तविक निर्णय को चाहे वह किसी व्यक्ति का हो या समाज का प्रभावपूर्ण बनाने के लिए साधनों की आवश्यकता होती है। किसी व्यक्ति द्वारा कोई ऐसा निर्णय करना जिसे प्रयोग म न लाया जा सके पागलपन ही कहा जाएगा और यही बात प्रत्येक व्यवस्थित समाज अथवा निगम के बारे म भी सत्य है। किसी राष्ट्र मे उसके काम को लागू करने के साधन राज्य द्वारा दी गई शक्ति पर निर्भर होते हैं। जब एक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का प्रयोग करने का निर्णय करता है तो उस निर्णय को कार्य रूप मे परिणत करने का उसका विश्वास इस बात पर आधारित होता है कि उसे अपने देश के कानून का समर्थन प्राप्त है तथा आवश्यकता पड़ने पर आरक्षी विभाग भी उसका समर्थन करेगा। और अंततः इस प्रकार के नियंत्रण प्रकारों की सफलता थल और स्थल सेना पर आश्रित है।

अतः राज्य के निर्माण म आवश्यक तत्त्व के रूप में शक्ति के विचार का खण्डन उसके महत्त्व को कम नहीं करता। शक्ति पर अधिवक्ता लोगों का ही एकाधिकार नहीं है। कार्लाइल जो शक्ति को राज्य के सार के रूप में नहीं समझता कम-से-कम सिद्धान्तरूप में उसके प्रयोग के लिए उतना ही दृढ़ दिखाई देता है जितना कोई भी अधिवक्ता हो सकता है। माधुर्य और प्रकाश' का पोषक भी अपने पिता के कथन से सहमति प्रकट करता है[1] कि उपद्रव के बारे मे रोमन लोगों का उसके साथ व्यवहार करने का ढंग सही था कि हर एक सिपाही ने कोड़े लगाये और उसके सरदार को तारपीयन की चट्टान से फेंक दो। इसमे मालूम नहीं है। उपद्रव हमेशा प्रायः कुछ वास्तविक कठिनाइयों व दुःखों के कारण होते हैं और उसे हटाने के लिए प्रथम ही कोई अन्य उपाय अपनाना चाहिए। यह सत्य है कि अन्त मे सैन्य-शक्ति का सामना सैन्य शक्ति से ही होता है[2]। अतः यह राज्य का कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों की रक्षा करे और कानून लागू करे। यह प्रसन्नता की बात है कि जब पर्याप्त सैन्य-शक्ति होती है तो उसके प्रयोग की आवश्यकता शायद ही कभी होती है।

१ [illegible] अध्याय ।
२ डी० पी० [illegible] हाब्सन : [illegible] पृ० [illegible] ।

२. राज्य और परिवार

हम पहले ही देख चुके हैं कि संगठन के सबसे अधिक निश्चित दो रूप— परिवार और राज्य हैं। ये दोनों मनुष्य के जीवन में व्यापक रूप से उपस्थित हैं और उसके सभी प्रमुख पहलुओं से सम्बन्धित होते हैं। परिवार निस्सन्देह राज्य के अधीन होता है। राज्य उसके निर्माण और उसकी रक्षा के लिए और यदि आवश्यकता पड़े तो उसकी समाप्ति के लिए भी शर्तें निर्धारित करता है। कानून बनाते समय राज्य चालू प्रथाओं और धार्मिक परम्पराओं का प्रयोग कर सकता है। सामान्यतः राज्य परिवार की स्वतन्त्रता का ध्यान रखता है वह माता पिता को उसके हितों के संरक्षक के रूप में समझता है और अत्यधिक अन्याय के समय अथवा जब कोई विशेष प्रार्थना की जाए तभी उसमें हस्तक्षेप करता है। सारांश में परिवार साम्राज्य के अन्तर्गत एक ऐसा साम्राज्य है जिसके विशेष कार्य और अपने हित होते हैं।

तथापि सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित संगठन की ये प्रणालियाँ आपस में कुछ विरोधी रूप भी धारण कर सकती हैं। इस पर प्लेटो ने बहुत बल दिया है। उसने संरक्षक के रूप में पारिवारिक जीवन के विचार को ठीक नहीं समझा और स्त्री तथा पुरुष के कार्य को अलग अलग समझाने की चेष्टा की है। यदि यह हम स्वीकार कर लेते हैं कि परिवार का प्रमुख कार्य बचपन के प्रारम्भिक वर्षों में देखभाल करना है तो यह एक ऐसा कार्य है जो राज्य के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है। इस कार्य को स्वभावतः ही माता और पिता दोनों को या विशेष तौर पर माता को सौंप दिया जाता है। शैशव के प्रारम्भिक-काल के व्यतीत हो जाने पर माता-पिता के हाथ से बच्चे की शिक्षा का इन्तजाम अधिक-से-अधिक रूप में राज्य अपने हाथ में ले लेता है। शैशव काल में भी यह देखा जा सकता है कि राज्य बच्चे के प्रति व्यवहार के सम्बन्ध में माता-पिता के प्रति कुछ नियन्त्रण लगाता है और वह उनके आपसी-व्यवहार तथा सम्पत्ति सम्बन्धी बातों पर नियन्त्रण लगाता है। उचित प्रकार से निर्मित परिवार और राज्य परस्पर विरोधी प्रतीत नहीं होते[1] वरन् परिवार विशाल नागरिक जीवन के लिए शिक्षण का एक सर्वश्रेष्ठ आधार है—उस नागरिक जीवन के लिए जो राज्य के संगठन के रूप में विशाल रूप से संगठित है।

विशेषरूप से राज्य का कार्य संगठन का है अतः उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह शिक्षा के सार और उसके विभिन्न रूपों के साथ सन्तोषपूर्वक

---

१ श्रीमती बोसांके दि फैमिली।

सरकार के अनेकों विभिन्न रूपों का वर्णन किया गया है। प्लेटो ने पाँच, अरस्तु ने छः और आधुनिक कई विद्वानों ने और भी अधिक सूक्ष्म भेद किए हैं। यदि हम सभी सम्भव भेदों पर विचार करें तो संख्या बहुत लम्बी हो जाएगी परन्तु यह सन्देहास्पद है कि इसकी दो आधारभूत अल्पजनतन्त्र तथा लोकतन्त्र की पद्धतियों के अतिरिक्त अन्य भेद भी प्रदर्शित करने चाहिए या नहीं? यद्यपि कुछ सरकारों को राजतन्त्रिक कहा जाता है और उन्हें निरंकुश शासन से भिन्न प्रदर्शित किया जाता है फिर भी व्यवहार में शासकों की प्रभुसत्ता उनके सलाहकारों के परामर्श से ही चलती है। कम-से कम जहाँ ऐसा नहीं होता है और जहाँ शासक यह कह सकता है चाहे वह दिखावट की ही बातें हों कि मैं ही राज्य हूँ वहाँ समाज राज्य का निर्माण करने वाला नहीं समझा जा सकेगा। ऐसी अवस्था में वास्तव में उसे किसी बाह्य शक्ति द्वारा ही नियन्त्रित समझा जाएगा। फिर जैसे प्लेटो ने कहा है कि लोकतन्त्र को भी एक अराजकता माना जा सकता है जिसमें सरकार का कोई रूप नहीं होता। सामान्य में यह कहना सत्य है कि एक वास्तविक सरकार के साथ चाहे एक वास्तविक राज्य हो, हर सरकार या तो कुछ थोड़े स्वतन्त्र लोगों के हाथ में होगी अथवा वह पूरे समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले लोगों के हाथ में होगी। अल्पजनतन्त्र और लोकतन्त्र की भी पद्धतियाँ विभिन्न हैं। एक अल्पजनतन्त्र मूल रूप में एक अभिजाततन्त्र हो सकता है जिन्हें विशेषज्ञ या बुद्धिमान् कहा जा सकता है, वह एक आनुवंशिक सैन्य-वर्ग या सम्पत्ति स्वामी लोगों की सरकार भी हो सकती है। एक वास्तविक अभिजाततन्त्र सब लोगों का प्रतिनिधि भी हो सकता है इसलिए वह लोकतन्त्र के कुछ समरूप हो सकता है। अन्य पद्धतियाँ तो लगभग निरंकुश-शासन के समान होती हैं अर्थात् वह एक ऐसी सरकार होती है जो वस्तुतः उनके लिए बाहर की होती है। फिर लोकतन्त्र का अर्थ भी बहुमत वाले लोगों का शासन अथवा बहुमत का प्रतिनिधित्व करने वाले कुछ थोड़े से निर्वाचित व्यक्तियों का शासन अथवा थोड़ा कम स्वेच्छाचारी तरीके का शासन होता है। यह स्पष्ट है कि एक विशाल समाज में कुछ अर्थों में एक सरकार अवश्य ही प्रतिनिधि के रूप में होनी चाहिए। अतः इसका मतलब फिर यह हो जाता है कि वह सरकार अधिकारियों अथवा विशेषज्ञों या नेताओं की होती है। इस प्रकार सरकार की विभिन्न पद्धतियों का सूक्ष्म भेद नहीं किया जा सकता। एक सुव्यवस्थित सरकार जनता के हृदय में अवश्य ही स्थान बना लेती है और कुछ अर्थों में शासन भी अच्छा होता है। प्रधान प्रश्न केवल सरकार के रूप उसमें इन तत्त्वों का आपसी [illegible]

५. सरकार के प्रकार

और उसके उत्साह से काम करने के बारे में रहता है। एक आधुनिक विद्वान् ने यह कहा है कि 'इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण सबक यह है कि सरकार की पद्धति का मूल्य केवल उसके प्रकार पर आधारित नहीं है परन्तु प्रधान रूप से उसकी भावना पर आधारित है। परन्तु उसकी भावना उसके ढाँचे द्वारा अवश्य प्रभावित होती है। पोप की ये पंक्तियाँ—

सरकार के ढाँचे के बारे में मूर्खों को लड़ने दो
जो सर्वोत्तम रूप से शासित है वही सर्वोत्तम शासन है।[2]

तभी सही मानी जा सकती हैं जब सरकार के प्रकार को औपचारिक रूप में समझा जाए। परीक्षण का प्रश्न मुख्यतः सुशासित सरकार पर आता है। परन्तु यह किसी सामान्य प्रकार पर उतना आधारित नहीं होता जितना किसी लक्षण पर आधारित होता है। उदाहरण के लिए किसी राज्य के प्रधान व्यवस्थापक को सम्राट्, राजा अथवा राष्ट्रपति कहने में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता जबतक कि वह जो कुछ करता है वह अपनी प्रजा के सुविज्ञ नागरिकों के विचारों के साथ अपने विचारों का सामञ्जस्य स्थापित नहीं करता। सरकार के सभी साधनों का यदि कुछ भी महत्त्व है तो वे केवल इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। यह एक ऐसा लक्ष्य है जिसे कोई भी सरकार आसानी से प्राप्त नहीं कर सकती चाहे वह अधिक-से-अधिक लोकतन्त्रीय ही क्यों न हो।

राष्ट्रपति लिंकन की उक्ति 'जनता द्वारा जनता के लिए जनता की सरकार' को लोकतन्त्र की परिभाषा के रूप में स्वीकार किया जाता है। यदि इसका विस्तृत विश्लेषण किया जाए तो हम किसी भी अच्छी सरकार की विशेषता कह सकते हैं। दूसरी तरफ यदि सीमित अर्थ में लिया जाए तो इसे किसी भी प्रकार की सरकार के लिए प्रयुक्त करना कठिन है। सरकार का वास्तविक कार्य लोगों के एक छोटे से हिस्से द्वारा कभी भी नहीं चल सकता। कभी-कभी इसके विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि सरकार का कार्य किन्हीं विशिष्ट वर्गों में ही होता है जब कि लोगों का जीवन कई पीढ़ियों तक बिखरा पड़ा रहता है। परन्तु सब से अधिक महत्त्वपूर्ण तो यह है कि सरकार की व्यवस्था करने वाला जनता का भाग सम्पूर्ण जनता में से सब से अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण और सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधित्व करने वाला होना चाहिए।

---

१ मिल 'दि गौरमेंट मैनेजमेंट' की भूमिका से पृ० ७।

2 For forms of government let fools contest
whatever is best administered is best—

—Pope

किसी आधुनिक विशाल राज्य के कार्यों का नियन्त्रण व्यावहारिक रूप से पूर्णत किसी एक केन्द्रीय अधिकारी में निहित नहीं किया जा सकता। जैसे

६ स्थानीय सरकार

हम पहले कह चुके हैं कि चाहे तो राज्यों के अन्तर्गत राज्य हों अथवा कुछ अंशों में स्वतन्त्र राष्ट्र हों, कुछ भी हो नगरपालिका और जिले अपने स्थानीय कार्यों में कुछ अंशों में स्वतन्त्र होंगे और परिवार, धार्मिक-स्थान, उद्योगशाला, वाणिज्य-संस्थान तथा सामाजिक संगठन आदि भी अपने एक सीमित क्षेत्र में स्वाधीन होंगे। आमतौर पर सरकार के ये कुछ एक प्रकार हैं जिनमें राज्य की विशाल सरकार की सामान्य भावना का पता चलता है। एक पैतृक पद्धति की सरकार के अन्तर्गत सामान्यतः एक परिवार का पिता किसी लोक-प्रिय सरकार के व्यक्ति की अपेक्षा अपनी छोटी-सी परिधि में अधिक बड़े अधिकारी का रूप धारण कर लेगा, परन्तु ऐसी भिन्नताएँ यहाँ प्रदर्शित करना आवश्यक नहीं।

राज्य की सामान्य प्रवृत्ति फैलाव की है और फैलाव का अर्थ उसमें कुछ परिवर्तन आना होता है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण

१ राज्य का क्रम विकास

परिवर्तन निम्न प्रकार के होते हैं—(१) नागरिकों और राज्यों का सम्बन्ध संविदा पर से कुछ अधिक होता है[1]। सामान्यतः यह माना जाता है कि किसी राज्य के प्रारम्भिक दिनों में इस प्रकार की किसी संविदा की आशा करना भूल ही होती है। परन्तु ज्यों-ज्यों वह बढ़ता है अधिक से अधिक संविदाएँ स्थापित होती हैं, उनमें से कुछ को निस्सन्देह प्रारम्भ में ही स्थापित समझना चाहिए। परन्तु उनका प्रारम्भ सामान्यतः प्रथा अथवा शक्ति पर आधारित वर्ग भेद की स्वीकृति पर ही होता है और उनका अन्त कानून पर आधारित संविदा के रूप में।

(२) प्रारम्भिक-काल के राज्य यूनान के नगर राज्यों की तरह अथवा कम से कम छोटे समुदायों के रूप में थे। वे अपनी पर्याप्त सुरक्षा की शक्ति और आन्तरिक विभिन्नता के अभाव में असफल रहे। अतः राज्यों को संयुक्त करने के प्रति लोगों की रुचि हुई। प्रारम्भ में कुछ शिथिल रूप से संगठित राज्य थे और बाद में अधिकाधिक संगठित होते गए। वे विस्तृत साम्राज्यों के रूप तक पहुँचे, उनमें उपनिवेश और आश्रित राज्य मिलाये गए। फिर यह प्रगति थोड़ी या अधिक विघटनकारी आन्दोलनों द्वारा स्थानीय स्वयं-शासन की

---

१. श्री मर्के द्वारा रचित 'एन्शेंट ला' के पृ ... में यह प्रवृत्ति अनिर्देशित रूप से प्रकट हुई है। डा० एच० पोलक के संस्करण के नोट को भी देखिए।

की दिशा की ओर प्रवृत्त हुई। साम्राज्य राष्ट्रमण्डल के रूप में परिवर्तित हुए और शायद इसके तुरन्त बाद पृथक् २ राज्यों के रूप में फले। ऐसे पृथक् पृथक् राज्य परस्पर एक-दूसरे के साथ कुछ सामान्य सम्बन्ध रखते हैं और किसी विशेष उद्देश्य के लिए तुरन्त संगठित हो जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, एक मनुष्य के लिए एक अच्छा यूरोपियन' बनाना सम्भव है क्योंकि सारे यूरोप में एक समता है जो उसे रोमन-साम्राज्य द्वारा मिली[1]। इस प्रकार की समानता से फिर हम एक व्यापक दल के संगठन की ओर बढ़ते हैं जिसमें अनेकों दूसरे राष्ट्र भी भाग लेते हैं और सम्भवतः यह संगठन शीघ्र ही विश्व-संगठन का रूप धारण कर सकता है। परन्तु यह व्यापक तथा विचारणीय विषय है जिस पर हम आगे के अध्यायों में प्रकाश डालेंगे। राज्यों के इन सम्बन्धों और उनके इन ढाँचों में वास्तविक प्रगति तभी संभव हो सकती है जब वे सामान्य इच्छा अथवा सामान्य उद्देश्य को अधिकाधिक रूप में साकार बना सकें और मानवता के सामान्य हित की ओर बढ़ सकें किसी दूसरे अर्थ में हमारी प्रगति अवनति ही होगी।

राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों पर टिप्पणी

राज्य के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पूर्ण विचार करना तो राजनीति-शास्त्र का विषय है। यहाँ समाज-दर्शन की सामान्य रूपरेखा जैसी रचना में उसकी बाह्य रूपरेखा ही प्रस्तुत की जा सकती है। परन्तु राज्य सम्बन्धी विचारों का एक विशेष महत्त्व होने के कारण यहाँ उनके बारे में एक संक्षिप्त टिप्पणी जोड़ देना अधिक उपयुक्त होगा। इन महत्त्वपूर्ण विचारों को हम निम्नलिखित भेदों के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं —

(१) राज्य एक व्यक्तित्व के रूप में (२) राज्य एक अति-वैयक्तिक इकाई के रूप में (३) राज्य एक परम व्यक्तित्व अथवा अलौकिक शक्ति के रूप में (४) राज्य एक यन्त्र के रूप में जिसके अनुसार वह उन व्यक्तियों का भार वहन करता है जो उसका निर्माण करते हैं तथा (५) राज्य एक प्राकृतिक साहचर्य पद्धति के रूप में जिसका अपना एक विशेष मूल्य और विशेष कार्य होता है। इनमें से प्रत्येक पर कुछ संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

इस विचार के लिए अनुयायी की परिभाषा एक विशेष अभिव्यक्ति के रूप

---

१. यूरोप में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की उत्पत्ति का कारण उस समय की परिस्थितियाँ थीं। इसरव की मान्यता रोमन-धर्म द्वारा ही संभव हो सकी। बाद में वे शक्तियाँ केन्द्रीय रूप धारण करती गयीं जिससे वे संकुचित होती गईं।

में प्रयुक्त हो सकती है। उसका कहना है[1] 'राज्य लोगों का एक संगठन अथवा एक साहचर्य है जो एक निश्चित प्रदेश शासक और शासित और परस्पर सम्बद्ध पुंल्लिंग व्यक्तित्व के रूप में संगठित है। अन्तिम विशेषण ब्लुटस्ली ने विचित्र मान्यता के कारण रखा है। उसका कहना है कि राज्य

१ राज्य एक व्यक्ति के रूप में

पुंल्लिंग है और चर्च स्त्रीलिंग है। ऐसा लगता है कि उसकी मान्यता के पीछे इसके सिवाय कुछ भी आधार नहीं है कि जर्मनी में लोग राज्य और चर्च को इन्हीं लिंगों में प्रयुक्त करते रहे हैं। यह सत्य है कि शब्दों के लिंग को निर्धारित करना एकदम अपनी इच्छा का विषय नहीं है। मेरा विचार है कि यह स्वीकार किया जा सकता है कि राज्य के कुछ भागों का काम स्त्रियों की अपेक्षा स्वभावतः पुरुषों से अधिक सम्बन्धित है और स्त्रियाँ अधिकतर परिवार तथा चर्च के काममें लगी रहती हैं। परन्तु ब्लुटस्ली ने तो इस पर अतिरंजित ढंग से बल दिया है।[2]

राज्य के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि शाब्दिक रूप से हम इसे नहीं रख सकते[3] और ऐसे विषय में रूपक आदि बाँधना भी खतरे से खाली नहीं है। फिर यह भी सत्य है कि राज्य कुछ ऐसी विशेषताओं से युक्त होता है जो पुरुष से सम्बन्धित होती हैं। विशेषतः राज्य निर्णय करता है उन्हें कार्य-रूप में परिणत करता है और उनके लिए उत्तरदायी होता है। पर ऐसा तो एक बैंक अथवा फुटबाल क्लब के सम्बन्ध में भी होता है, परन्तु मेरा विचार है कि उन्हें कोई भी एक व्यक्ति के रूप में नहीं मानेगा। किसी राज्य के बारे में प्रायः यह कहना कठिन है कि निर्णयों के लिए उत्तरदायित्व कहाँ है। एकतन्त्रीय शासन में राजा प्राकृतिक रूप से ही उत्तरदायी होता है यद्यपि वह अपने परामर्शदाताओं के दबाव पर भी बहुत अधिक आश्रित होता है। ब्रिटेन में यह कहा जाता है कि राजा कोई अशुभ नहीं कर सकता है और सामान्यतया प्रशासन कार्यों का उत्तरदायित्व प्रधान मन्त्री पर होता है। परन्तु कई महत्त्व के मामलों में निर्णय का उत्तरदायित्व विशेष अधिकारियों अथवा किसी सरकारी संस्था पर आधारित होता है। कुछ भी हो यह उत्तरदायित्व कुछ लोगों अथवा कुछ लोगों के एक मण्डल पर ही रखा जाता है।[4] यह सत्य है कि लोकतन्त्रीय देशों पर बाहर के

१ थ्योरी आफ स्टेट भाग १ अध्याय १।

२ कुछ आलोचनाओं के लिए श्रीमती बोसांके की पुस्तक 'दि फैमिली' में पृ. सं. २८६ देखिए।

३ यह एक प्रश्न ही उपस्थित कर चुके हैं देखिए (खण्ड १ अ. १, ६६) कि इसे वह नैतिक विधि द्वारा प्रतिपादित किया जा सकता है।

४ ध्यान देने की बात है कि डा. बोसांके पहले इससे इन्कार करते थे परन्तु अब कुछ अंशों में अपने विचारों का खण्डन किया है। उनकी पु. २८ नागरिक एंड नेशनल आर्ट देख पृ. ४१ देखिए।

लोगों के विचारों का प्रभाव विशेषतः पड़ता है परन्तु यही बात व्यक्ति-विशेष अथवा व्यक्तियों पर भी लागू होती है।

२ राज्य का अपौरुषेय रूप

राज्य के सम्बन्ध में अपौरुषेय अवधारणा फिक्टे और हेगेल से सम्बन्धित है। मेरे विचार में इस समय ब्रिटेन में डा० बोसांके इसके सर्वोत्तम प्रतिनिधि के रूप में हो सकते हैं। हेगेल ने राज्य को ईश्वर तक कहा है और इस अवधारणा के सभी समर्थकों ने राज्य को कुछ सदस्यों के सर्वोत्तम आदर्शों का साकार रूप बतलाया है। पर इस विचार के समर्थक मैथ्यू आर्नल्ड ने राज्य को 'हमारा सर्वोत्तम एकत्रित स्व' व राष्ट्रीय सत्य के चिन्तन का उत्तम स्वरूप बताया है। डा० बोसांके के अनुसार यह राष्ट्र की 'यथार्थ-इच्छा' की अभिव्यक्ति है जिसमें विशेष व्यक्ति केवल आंशिक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐसी विचारधाराओं को पूर्णतः आदर्श राज्य के बारे में ही प्रयुक्त किया जा सकता है। परन्तु जिन विद्वानों का यहाँ उल्लेख किया गया है वे सामान्यतः इस बात के लिए तुले हुए हैं कि यदि आदर्श को व्यावहारिक रूप में परिणत नहीं किया जाता तो उसका कोई मूल्य नहीं है। परन्तु क्या यह अवधारणा राज्य पर भी लागू होती है? यह स्वीकार कर लिया गया दीखता है कि विज्ञान कला और धर्म के विकास में उच्चतर मानवीय क्रियाएँ राज्य के वैधानिक क्षेत्र से हमें बहुत कुछ दूर ले जाती हैं, यद्यपि इस प्रकार के प्रोत्साहन और क्रियाओं की रक्षा करना राज्य के कार्यों का ही निश्चित भाग है। सभी प्रकार के रचनात्मक कार्य जैसे आविष्कार अनुसंधान और वैज्ञानिक-प्रयोगों आदि के सम्बन्ध में भी ऐसा ही दीखता है। पर ये सब केवल वैयक्तिक आदर्शों पर आधारित होते हैं और आदर्श राज्य भी उन्हें वैसे ही लोगों पर छोड़ देते हैं। एक राज्य कवियों सन्तों या विचारकों का निर्माण नहीं कर सकता। अतः यही ठीक होगा कि वह न तो उन्हें कुचल व दबाये और न उन्हें अन्यों के द्वारा कुचला जाने दे। यह और भी अच्छा होगा कि वह उन्हें कुछ ठोस प्रोत्साहन दे। परन्तु वे लोग तो भूतकाल की तरह अपनी भविष्य में प्राप्त होने वाली प्रेरणाओं को राज्य से सम्बन्धित लोगों की अपेक्षा अन्य स्थानों से प्राप्त करेंगे। राज्य तो अपनी परिभाषा के अनुसार प्रमुख रूप से कानूनों के निर्माण और उन्हें कार्यों के रूप में परिणत करने सामूहिक व्यवस्थाओं के आयोजन आन्तरिक शान्ति के स्थापन निर्धनता के अवरोध सामाजिक मूल्यों के सभी कार्यों की रक्षा और उनके प्रोत्साहन से सम्बद्ध होता है। प्रत्येक राज्य के लिए यह पर्याप्त है चाहे वह कैसा भी आदर्श राज्य ही क्यों न हो? किसी चीज की रचना करना व्यक्तियों तथा वैयक्तिक मेधा का काम है।

परन्तु उनकी रक्षा करना, उन्हें प्रोत्साहित करना तथा संगठित करना राज्य का काम है।

बल अथवा शक्ति के रूप में राज्य के सम्बन्ध में हम पहले ही विचार कर चुके हैं। परन्तु यहाँ यह विचार करेंगे कि इसका बल के साथ क्या सम्बन्ध है।

२ राज्य एक बल के रूप में

कभी-कभी कहा जाता है कि ट्रेटस्की का सिद्धान्त फिक्टे और हेगेल से लिया गया है और मुझे विश्वास है कि इसमें कुछ सचाई भी है। ये सभी लोग उस समय के प्रशिया की विशेष परिस्थितियों से बहुत अधिक प्रभावित थे। सामान्यतः सामाजिक और राजनैतिक विद्वानों के विचारों पर स्थान की परिस्थितियों का ध्यान रखे बिना विश्लेषण करना एक बड़ी भूल होगी। यहाँ तक कि महान् दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू तक मानवातीत नहीं कहे जा सकते हैं। वे भी केवल मानव ही थे और इस परिवर्तनशील संसार में रह कर उसे अपनी आँखों से देखते हुए चिन्तन करते थे। हेगेल तो इस बात को अच्छी तरह समझता ही होगा। फिक्टे और हेगेल दोनों ने एक ही समय में जर्मन जनता को उनकी राष्ट्रीय एकता का बोध कराने और उन्हें प्रशिया की सी राजनैतिक-दिशा में प्रेरित करने के लिए लिखा। ट्रेटस्की ने उस समय लिखा जब उसके अपने व्यक्तिक प्रभाव से देश ने यह ध्येय प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार इन सभी ने राज्य की एकता और उसके नियन्त्रण पर विशेष बल दिया। और सम्भवतः यह भी सत्य है कि इन सभी ने अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यक्तियों से काम लिया। ट्रेटस्की ने तो अपने अतिशयोक्तिपूर्ण कथन में फिक्टे और हेगेल को मात ही कर दिया। वह एक दार्शनिक की अपेक्षा वक्ता और इतिहासकार अधिक था इसलिए उसके अतिक्रमण में कुछ कारण भी हो सकता है। यदि फिक्टे और हेगेल की तरह हम भी राज्य को एक महत्त्वपूर्ण और अद्वितीय स्थान दें तो यह स्पष्ट सिद्ध है कि उसका महत्त्व उसके बल पर ही आधारित होगा। सदाचार (अरस्तू के कथन के अनुसार) जिस पर सभी मानवीय उच्च क्रियाएं आधारित होती हैं मुख्यतया राज्य के रूप में ही प्राप्त और रक्षित किया जा सकता है। इस विषय में यह कहना थोड़ी-सी अतिशयोक्ति होगी कि राज्य ही वस्तुतः शक्ति है। यह एक ऐसी अतिशयोक्ति होगी जिसमें स्वभावतः जर्मनी फँस गया और वहाँ यह तत्त्व महत्त्वपूर्ण रूप धारण कर गया। जर्मनी की एकता रक्त और लोहे से प्राप्त की गई थी। इतने पर भी उसे पूर्णतया सफलता नहीं मिली। कुछ अंशों में जर्मनी अब भी एक पूर्ण राज्य आदर्श राज्य नहीं है यह तो बात ही क्या। वरन् बेनार्ड तथा कुछ अन्य विद्वानों ने यह ठीक ही कहा है कि वह निरंकुश शासन के अन्तर्गत व्यक्तियों का एक समूह है अथवा जैसा प्लेटो ने कहा था कि वह विशुद्ध में बल शासन है। ऐसे राज्यों के सम्बन्ध में विशेषतः यह

सत्य है कि उनका सारतत्त्व बल ही होता है। इस प्रकार से ट्रेटस्की ने तो जो देखा वही कुछ कहा परन्तु वह ऐसी परिस्थिति थी कि जिसके जर्मनी अन्य गुणों में श्रेष्ठ होने पर भी विश्व-सभ्यता के लिए भयंकर खतरा बन गया।

हेगेल महोदय ने निश्चय ही यह नहीं कहा कि राज्य एक बल है। डॉ बोसांके ने हाल में ही एक उदाहरण की ओर ध्यान दिलाया है जिसमें उसने बल के दावे का जोरदार शब्दों में खण्डन किया है। यह स्मरण रखने की बात है कि ट्रेटस्की ने किसी प्रकार की शक्ति का समर्थन नहीं किया परन्तु वह तो एक उच्च सभ्यता का समर्थन करने वाले एक सुव्यवस्थित राज्य के बल के समर्थक हैं। यद्यपि उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक राज्य में एक सेना होनी चाहिए परन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि किस प्रकार का बल राज्य का निर्माण करता है। अतः हेगेल ने नेपोलियन की शक्ति की जो भर्त्सना की है उसे उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं होगा। नेपोलियन के बल की अन्तिम असफलता के दृष्टिकोण से ट्रेटस्की इसका खण्डन और भी अच्छी तरह करता। नेपोलियन को राज्य के बल का प्रतिनिधि भी कठिनाई से ही कहा जा सकता है। वह तो राज्यों के लिए आतंक था और उसके प्रशंसक लोग सामान्यतः राष्ट्रीय शासन के शत्रु थे। यह सत्य है कि हेगेल ने बल और राज्य की एकता को उस अर्थ में नहीं लिया जिसमें ट्रेटस्की ने लिया है। वास्तव में ट्रेटस्की ने अपने सिद्धान्त का आधार हीगेलीय राज्य सम्बन्धी अवधारणा के खण्डन पर आधारित की है।[1]

परन्तु हेगेल महोदय ने राज्य के महत्त्व पर इस प्रकार बल दिया है जिससे संगठन का व्यापक प्रयास अनुपयुक्त सिद्ध होता है और अन्ततः युद्ध को एक आवश्यक स्थायी दशा के रूप में प्रस्तुत किया है। डॉ बोसांके ने इस सम्बन्ध में पूरी तरह उसका अनुसरण नहीं किया फिर भी कुछ अंश तक वह भी इसी मत का प्रतीत होता है।

कभी-कभी कार्लाइल को ट्रेटस्की की तुलना में रखा जाता है परन्तु यह तुलना निराधार है। क्योंकि कार्लाइल का विश्वास राज्यों में नहीं था, वरन् वह तो नेता या नायक का बल था जिसकी उसने प्रशंसा की है। नायक स्वयं मनुष्य होते हैं अतः उनमें नैतिक न्याय की भावना होती है। इस सम्बन्ध में वह ट्रेटस्की की अपेक्षा अपने अभिभावक के प्रति भक्ति पूर्ण विचारों के कारण नीत्शे के निकट है। फिर उसने इन दोनों की अपेक्षा अपनी बात बहुत ही बढ़ाकर कही है और इसलिए उसे उनके समकक्ष नहीं रखा जा सकता। वास्तव में नीत्शे और

---

१ पॉलिटिक्स, भाग ९, अध्याय ३।

ट्रट्स्की का भी एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता, यद्यपि उनमें बहुत अधिक समानता है।

हॉब्ह नामक एक और विद्वान ने राज्य के बल पर जोर दिया है। उन्होंने राज्य को नैतिकता के सामान्य नियमों के एक स्रोत के रूप में प्रस्तुत किया है परन्तु उसे विषय नहीं बनाया है। उन्होंने राज्य का व्यक्तियों के पक्ष से संरक्षण के लिए मूल्यांकन किया है। और उनकी प्रवृत्ति अधिनायक लोगों से मेल नहीं खाती परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और उसके परिणामों के सम्बन्ध में उसके विचार ट्रट्स्की के समान ही प्रतीत होते हैं।

यदि हम इस तरह कुछ विशेष दार्शनिकों के सिद्धान्तों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालेंगे तो अपने पथ से बहुत दूर निकल जाएँगे।

राज्य का एक यन्त्र के रूप में

ब्रिटेन में राज्य के सम्बन्ध में कम और लोगों की स्वतन्त्रता को अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति है।[1] राज्य को साधारणतः व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रमुख साधन समझा गया है। इस तरह राज्य को वे एक यान्त्रिक क्रिया से भी छोटा समझते हैं। और वह एक ऐसा यन्त्र है जिसका कार्य बहुत ही कम कर दिया गया है। राज्य के हित अथवा शुभ को भी साहस देने वाले बल को कम कर दिया गया है। और कभी-कभी उसकी अहित प्रतिरोधक-शक्ति का तिरस्कार अथवा भर्त्सना तक की जाती है। यह सम्भवतः अधिक अन्य लोगों की तरह एक बहुत बड़ी भूल है और लगभग खतरनाक पूर्ण है। विशेषतः अहित अथवा अशुभ का प्रतिरोध न करने का चरम सिद्धान्त कठिनाई से पूर्णतः पूर्णरूप से लक्षित किया जा सकता है। अन्य चरम सिद्धान्त की तरह यह परिस्थितियों का ध्यान में रखे बिना धार्मिक-सन्तों के उपदेशों पर आधारित है। उन सन्तों में से एक ने तो यह कह कर सावधान भी कर दिया था कि उसके कथन को अक्षरशः ग्रहण न किया जाए। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि जब किसी अहित या बुराई का प्रतिरोध किया जाए, तो वह इतना प्रभावपूर्ण होना चाहिए कि अहित को समाप्त करके हित वाली बात को विजयी बना सके। परन्तु प्रायः इस तरह का प्रतिरोध बुराई का बाहु पकड़ता और बढ़ावा देता है।

अप्रतिरोधक सिद्धान्त को जब सामाजिक समस्याओं पर लागू किया जाता है तो उसके अनेक रूप हो जाते हैं। बहुत समय तक ब्रिटेन में उसका बहुत स्पष्ट रूप 'अहस्तक्षेप अवधारणा' के रूप में रहा था अब पूरी तरह से परित्यक्त

---

१ राज्य के सम्बन्ध में ब्रिटिश और जर्मन धारणाओं में अन्तर प्रो० [illegible] ने अपनी व्याख्यान माला [illegible] प्रकाशित [illegible] में प्रकट किया है। इस [illegible] के [illegible] को भी देखें।

नीय बन चुका है। उसका परम विरोधी सिद्धान्त राज्य-समाजवाद है। परन्तु कुछ समाजवादी भी अप्रतिरोधक सिद्धान्त का कुछ भिन्न रूप से प्रचार करते हैं। जैसे उनका कहना है कि राष्ट्रीय की जीवन रक्षा और समाज-व्यवस्था के प्रतिपादन के उपकरण के रूप में बल का आश्रय छोड़ देना चाहिए। परन्तु जब बल का एक रूप में परित्याग कर दिया जाता है तो वह दूसरे रूप में स्वयं पैदा हो जाता है। राज्य के बल के विरोध के रूप में अब भी वर्गीय हिंसा के समर्थन की प्रवृत्ति रही है[1]। इसके मूल में एम० बर्गसन के दर्शन को माना गया है परन्तु वह कुछ अर्थों में रस्किन के एक भिन्न प्रकार के दर्शन के साथ भी सम्बन्धित है[2]। मानव-जीवन की एकता के लिए मूल तथ्य के रूप में विवेक पर अविश्वास और विशिष्ट मनोवेगों भावावेगों और रुचियों का आश्रय इन दर्शनों की समानता है।[3]

इन विचारों के विरोध म राज्य की एकता पर बल दिया जा सकता है। सभी लोगों के सहयोग द्वारा ही हम कुछ व्यक्तियों अथवा वर्गीय स्वार्थों को रोकने मे समर्थ हो सकते हैं और सही विवेक की आशा कर सकते हैं। जैसे कि मन्यू मार्नेड ने कहा है कि सुसमायोजित राज्य का अस्तित्व 'जहाँ आवश्यक महान् परिवर्तनों पर आधारित होता है वहाँ स्थायी व्यवस्था पर भी बहुत कुछ आधारित होता है। अतः इस व्येय के लिए भी पर्याप्त बल का विधान होना चाहिए। यहाँ तक कि यदि हम किसी एक प्रकार के विश्व-संघ की स्थापना में भी सफल हो जाएँ तो भी हमें उसकी व्यवस्था के लिए एक दृढ़ आरक्षी-बल की आवश्यकता होगी। इसी तरह वास्तव म जब तक राज्यों में वर्तमान अराजकता की हालत चलती रहेगी तब तक एक दृढ़ प्रतिरक्षात्मक बल के अस्तित्व की आवश्यकता रहेगी। यूरोप के समाजवादी नेताओं ने इसे स्वीकार कर लिया है परन्तु ब्रिटेन में अभी इसे स्वीकार नहीं किया जा रहा है।[4]

राज्य सामाजिक एकता का एक रूप है इस अवधारणा द्वारा हम इस

---

१. सारेल की पुस्तक 'रिफ्लैक्शन्स आन वायलेन्स' देखें।
२. 'प्रिंसिपल्स आफ सोशल रिकन्स्ट्रक्शन' पृ ९०।
३ इस सम्बन्ध में जे मन्यू लर्नर के अरिस्टोटेलियन सोसाइटी में मार्च १९१८ में पढ़े गए एक रोचक-पत्र "रियलिज्म एण्ड पालिटिक्स" को देखें।
४ जिन जैक्स जोरस की पुस्तक L Armie Nouvelle देखे। अंग्रेजी अनुवाद 'डिमाक्रेसी एंड मिलिटरी सर्विस' के नाम से जी० सी० कौल्टन ने किया है। सेनेन का 'मिलिटरीज्म एंड एन्टी मिलिटरीज्म', भाग दो अध्याय १ [illegible]। आवश्यक नहीं कि उनके विचार दूसरों के लिए भी आवश्यक हों।

हानिप्रद चरमसीमाओं से बच सकते हैं और इस तरह सामान्य हित का विचार भी प्रभावपूर्ण हो सकता है। अन्य पद्धतियों की तरह इसकी

५. राज्य : सामाजिक एकता के रूप में

वृद्धि भी प्राकृतिक और अत्यावश्यक है यह केवल एक यान्त्रिक उपकरण नहीं है परन्तु अन्य पद्धतियों की भाँति इसके विशेष कार्य और इसकी विशेष सीमाएँ हैं। मानवीय हित और उसके साधनों की पूर्ति इसके लिए स्वाभाविक है। ग्रीन ने हमें यह विचार दिया है और इसी विचार को मैंने इस पुस्तक में प्रतिपादित करने की चेष्टा की है। डॉ. बोसांके का विचार भी मुझे इससे मेल खाता दीखता है। परन्तु मैं सोचता हूँ कि बोसांके हेगेल के पुराने सिद्धान्त की ओर अधिक प्रवृत्त हुए हैं। ग्रीन ने हीगेल के सिद्धान्त में से सर्वोत्तम सार को ग्रहण किया है।[1] वह हीगेल की तरह एक बड़ा दार्शनिक नहीं था जैसे कि वर्डस्वर्थ गेटे जैसा महान् कवि नहीं था। परन्तु इन दोनों मामलों में सोचते समय हमें अपने दिल में कुछ कारणों से असन्तोष नहीं होता। परन्तु बोसांके के विचारों में उसके और हीगल के विचारों से बहुत अधिक अन्तर है। विशिष्ट अध्यात्मक अवधारणाओं को पूर्णता से ग्रहण करने में उनकी बराबरी नहीं कर सकती। इसी तरह वह ध्येय की स्पष्टता में भी भिन्न है परन्तु वह कभी-कभी इन दोनों से अधिक सन्तुलित उतरती है। यद्यपि इस प्रकार के सन्तुलन में ढुलमुलपन और असंगति होती है फिर भी यह सदा कमजोरी का चिह्न नहीं है। इस ब्रह्माण्ड की तरह मानवसमाज का ढाँचा भी बहुत जटिल है और उसे विभिन्न पक्षों और दृष्टिकोणों से देखा जाना चाहिए। मैं यह सहर्ष स्वीकार करता हूँ कि डॉ. बोसांके ने राज्य सम्बन्धी अवधारणा पर जो विशेष बल दिया है[2] वह उस व्यक्तिवाद के विनाश के लिए अत्यावश्यक था जो आज भी हमारे लिए एक स्थायी पाप बना हुआ है।

---

१. सर हेनरी जोन्स अपनी पुस्तक 'दि वर्किंग फेथ आफ दि सोशल रिफार्मर' पृ. ११९ में कहते हैं कि यह प्लेटो और अरस्तू के मूल विचारों का एक थोड़ा बहुत आधुनिक रूप है।

२. मैकाइवर की पुस्तक 'कम्युनिटी' देखो। हेगेल को उसके अपने देश में ही प्रशियन राज्य का शत्रु कहकर अपमानित किया गया।

पंचम अध्याय

न्याय

जो कुछ पहले कहा जा चुका है उसके आधार पर हमें यह मान लेना चाहिए कि एक सुव्यवस्थित राज्य का मूल उद्देश्य अपनी सीमाओं में न्याय स्थापना और उसकी रक्षा करना होता है। परन्तु

१ न्याय सम्बन्धी सामान्य अवधारणा

न्याय-सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट करना सरल कार्य नहीं। मूलतः इस शब्द का अर्थ किसी शासन-शक्ति द्वारा दिया गया आदेश होता है अतः कुछ लोग प्लेटो के 'रिपब्लिक' में थ्रेसिमेकस (Thrasymachus) की तरह यह प्रतिपादित करते हैं कि न्याय सामान्यतः कुछ शक्तिशाली लोगों की स्वार्थ-सिद्धि के अतिरिक्त कुछ नहीं है। शक्तिशाली लोगों से यहाँ अर्थ उन लोगों से है जिनके हाथ में सत्ता होती है। यह विचार वर्ड्सवर्थ द्वारा रोब रॉय के प्रति कहे गए सामान्य सिद्धांत के साथ ठीक मेल नहीं खाता—

> शुभ पुरातन नियम सरल योजनाएँ
> उनके हाथों में रहें उन्हें जो ही जो हैं शक्तिशाली
> और रक्षा करें उनकी वे ही जो हैं पूर्ण सामर्थ्यवान् [१]

यह इस मान्यता से भिन्न है कि सभी मानव एक समुदाय के सदस्य हैं और वे नियन्त्रण रखने वाली शक्ति के अधीन रहते हैं परन्तु यह उसी शासन-शक्ति के गुणगान को बतलाता है जिसके द्वारा रोब रॉय को निर्दिष्ट किया जाता रहा है। फिर यह मान लेने पर भी कि न्याय शक्तिशाली लोगों की स्वार्थ पूर्ति का साधन होता है प्रश्न उठता है कि शक्तिशाली लोगों का वास्तविक न्याय क्या है ?[१] फिर शक्तिशाली लोग भी तो मानव होते हैं, इससे फिर एक दूसरा महान् प्रश्न उठता है कि मानव का अन्तिम हित क्या है ?[२] फिर यदि हम माने

१. The good old rule the simple plan
That they should take who have the power
And they should keep who can

—Wordsworth

२. यह प्लेटो की रिपब्लिक की प्रथम पुस्तक का प्रमुख विषय है।

यह मानने की चेष्टा करें और हमें अवश्य करनी भी चाहिए कि एक शासन शक्ति का कर्तव्य अपने स्वार्थों की पूर्ति करना नहीं है परन्तु उसका कर्तव्य सब लोगों के हित की पूर्ति करना है। इससे यह और स्पष्ट हो उठता है कि प्रच्छन्न समस्या यह है कि मानव हित का निर्माण कैसे हो। यह एक कठिन समस्या है इसका विश्लेषण करना नीतिशास्त्र का कार्य है।[1] यहाँ केवल इतना ध्यान में रखना ही आवश्यक होगा कि प्रसन्नता अवस्थाएं शुभ आत्म साक्षात्कार जीवन-विकास तथा अन्य ऐसी ही अभिव्यक्तियाँ उस हित का चित्रण करती हैं जो मानव मात्र का लक्ष्य है। यह कहना गलत नहीं होगा कि यह उन क्षमताओं की पूर्ति है जो स्पष्ट रूप से मानवीय हैं। अतः न्याय का अभिप्राय शासन शक्ति की स्वार्थ की पूर्ति के लिए दिये गए आदेश नहीं है अपितु जिन नागरिकों पर वह शासन करती है उनके हित के लिए दिये गए आदेशों से लिया जाना चाहिए। यहाँ थोड़ा-सा परिवर्तन पर्याप्त होगा कि शासन शक्ति स्वतः नागरिकों का हित नहीं कर सकती अधिकांश हित की प्राप्ति व्यक्तियों के अपने प्रयत्नों से होती है। यह भी कहा जा सकता है कि उनके प्रयत्न उनके हित के एक अंश होते हैं। उदाहरणस्वरूप कहा जाता है कि सत्य प्राप्ति की अपेक्षा उसका अनुशीलन ही सर्वोत्तम है। यद्यपि यह संदेहास्पद है फिर भी ऐसा भी लगता है कि जिन वस्तुओं को मनुष्य प्राप्त करना चाहता है उनका महत्त्व उनके गुण दोष विवेचन और चयन पर आधारित होता है। अतः कोई भी बाह्य-शक्ति उसकी पूर्ति करने में समर्थ नहीं हो सकती। इसलिए हमें यहाँ पूछने को यह नहीं रह जाता कि जनता के हित को कैसे प्राप्त किया जाता है? वरन् पूछना यह है कि शासन-शक्ति उस शुभ को प्राप्त करने में कितना प्रभाव डाल सकती है? यह कुछ सीमित सा ही प्रश्न है फिर भी काफी बड़ा और अनुसन्धानात्मक है।

इस प्रश्न का सामान्य उत्तर यही हो सकता है कि राज्य-सत्ता प्रत्यक्ष हित की प्राप्ति में असमर्थ होती है। परन्तु वह नागरिकों के सर्वोत्तम हित के लिए उन्नत सामाजिक व्यवस्था की स्थापना और रक्षा कर सकती है। परन्तु मैं इस समस्या के दो अथवा यह कहना ठीक होगा कि तीन प्रमुख पहलुओं की ओर संकेत किया है[2]। प्रथम प्रश्न यह है कि समाज का सर्वोत्तम प्रबन्ध क्या है जिसे राज्य स्थापित कर सकता है? दूसरा प्रश्न यह है कि परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों में इसकी रक्षा अच्छी प्रकार से कैसे हो सकती है? और तीसरा यह कि जब इसमें बाधा आ पड़ती है तो उसे सबसे अच्छी तरह कैसे

---

१ [illegible] ।

[illegible] २, अध्याय ४ ५ ।

ठीक किया जा सकता है ? अरस्तू के अनुसार प्रथम प्रश्न वितरण-सम्बन्धी न्याय और अन्य दो प्रश्न शोधक न्याय से सम्बन्धित हैं। शोधक न्याय को फिर बदले और प्रतिशोध की विभिन्न विचारधाराओं के रूप में अरस्तू की तरह प्रस्तुत करना वांछनीय प्रतीत होता है। परन्तु यहाँ वितरण-सम्बन्धी न्याय और शोधक न्याय से आरम्भ करना ही उत्तम रहेगा।

यहाँ मूल प्रश्न यह है कि सब लोगों के अधिकाधिक हित की प्राप्ति के लिए समाज का उत्तम प्रबन्ध क्या है ? इसके अनेकों उत्तर हैं परन्तु उन सबकी व्याख्या वर्तमान सीमा के बाहर की बात है। यहाँ यह कहना पर्याप्त होगा कि प्लेटो ने इसका जो उत्तर दिया है वह सबसे अच्छा सामान्य उत्तर प्रतीत होता है। उसके अनुसार समाज का सर्वोत्तम प्रबन्ध वह है

२ वितरण सम्बन्धी न्याय

जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार उस स्थिति में रखा जाता है जिसके लिए वह पूर्णतया योग्य है और उस कार्य की पूर्ति के लिए उसे आवश्यक सामग्री और साधन दिये जाते हैं। इसे हम वितरण-सम्बन्धी न्याय की आधारभूत मत धारणा के रूप में स्वीकार करते हैं फिर भी इसमें कुछ विशेषताओं और योग्यताओं को जोड़ देना अधिक उचित रहेगा।

सबसे पहले यह स्वीकार करने योग्य बात है कि किसी भी आधुनिक विस्तृत राज्य में प्लेटो की मतधारणा में निहित सभी कुछ प्राप्त करना सम्भव नहीं। यह भी सन्देहास्पद है कि क्या यह बात उस छोटे से समुदाय में भी सम्भव है जो प्लेटो के दिमाग में थी। यह सत्य है कि इसे प्राप्त करना प्रत्येक समाज का लक्ष्य होना चाहिए और कोई समाज उसे प्राप्त नहीं कर लेता तो यह उसके प्रति कुछ अंशों में अन्याय ही होता है। फिर यह भी सत्य है कि सभी लक्ष्यों को एक दम से प्राप्त कर लेना असंभव है और कम से कम उसे प्लेटो ने बहुत अच्छी तरह से जान लिया था। उदाहरणस्वरूप औषधकला का यह ध्येय है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ हो पर होता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति निश्चय ही उसमें अपूर्ण होता है। इस तरह न्याय के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। राज्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी योग्यतानुसार उचित स्थान उपलब्ध नहीं कर सकता, परन्तु कुछ अंशों में वह इतना कर सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति की योग्यतानुसार स्थान की खोज और उस पाने में किसी प्रकार की बाधा उसके मार्ग में न आए। शिक्षा द्वारा उसकी प्राप्ति के लिए उसकी शक्तियों के विकास में सहायक हो सकता है। इसी तरह भूमि प्राप्ति के अधिकार श्रम-विनिमय और इसी तरह के अन्य साधनों के विधान में सहायक हो सकता है। परन्तु इन सहायताओं के साथ जॉनसन के कथन, 'निर्धनता के बोझ से उत्थान बहुत धीमा होता है' में स्थायी प्रभाव रहेगा और यह हम आशा करते हैं कि बेटरहम

की भी घटना फिर नहीं होगी। इस तरह राज्य यह आशा नहीं कर सकता कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार स्थान प्राप्त कर भी लेता है तो वह अपने कार्यों को उचित प्रकार से पूर्ण करेगा। परन्तु वह सर्वेक्षण और निरीक्षण की विधियाँ लागू कर सकता है तथा वह उचित शिक्षा लागू कर सकता है जो कि प्राकृतिक शक्तियों का विकास ही नहीं करेगी अपितु उसमें कुछ नागरिक दायित्व की भावना भी भर देगी। निस्सन्देह प्लेटो की योजना का यह आवश्यक भाग था। फिर राज्य यह आश्वासन नहीं दे सकता कि वह प्रत्येक व्यक्ति के कार्य की पूर्ति के लिए आवश्यक सामग्री और साधन जुटा देगा परन्तु वह कम से कम इतना कर सकता है कि चरम निर्धनता को दूर कर दे जो उसकी प्राप्ति में बाधक है और सबके पास इतना धन भी इकट्ठा होने दे जो उन साधनों को व्यर्थ नष्ट करने के प्रलोभन में डाल दे। वह उनके लिए उचित आवास व्यवस्था जल और विद्युत् का उचित सम्भार पुस्तकालय कला-संग्रहालय तथा बाग आदि की सुविधाएँ दे सकता है और उन्हें सभी के लिए प्राप्य भी कर सकता है। प्लेटो भी अपनी योजनाओं की पूर्ति के लिए इस प्रकार की सहायता के महत्त्व से अपरिचित नहीं था।

प्लेटो द्वारा निर्धारित सामान्य सिद्धान्त की दूसरी अर्हता जो राज्य नियमों में निहित है प्रत्येक व्यक्ति पर प्रयुक्त नहीं की जा सकती। राज्य के कानून जैसा कि अरस्तू ने कहा है[1] सामान्यतः वही कुछ प्रदान कर सकते हैं जो लोगों के लिए सर्वोत्तम होता है। यह छोटे ग्रीक समुदाय की अपेक्षा आधुनिक विशाल राज्यों के लिए यह अधिक सही है। उदाहरण के लिए एक राज्य के द्वारा शेक्सपीयर वर्ड्सवर्थ अथवा वाट के योग्य सर्वोत्तम शिक्षा दी जाने की आशा नहीं की जा सकती। इसमें भी सन्देह है कि कोई व्यक्तिगत संस्था ऐसा करने में समर्थ हो सकती हो और इसी तरह कोई राज्य भी किसी ऐसे अपवाद स्वरूप विषय के लिए जो कुछ ही अर्थों में सामान्य से पृथक होता है विशेष प्रबन्ध नहीं कर सकता है जब तक उसे बहुत से लोग न चाहते हों। उदाहरण के लिए हम भूमि की दाय का विषय ले सकते हैं। कभी-कभी विशाल सम्पत्तियाँ सबसे बड़े लड़के को प्राप्त होती हैं। जिस आदमी के हाथ यह सम्पत्ति आती है क्या वह उसका उपयोग जनता के हित में करेगा? अब यह आग्रह आते नहीं हैं कि सदैव ऐसा नहीं होता। परन्तु यह कहा जा सकता है[2] कि किसी अन्य सुनिश्चित प्रबन्ध

1 एथिक्स खण्ड ५ अध्याय १०। प्लेटो ने इस पर पहले स्टेट्समैन पृ० २९४–२९५ में ध्यान दे लिया है।

2 यह केवल एक उदाहरण के रूप में रखा गया है। यह इस विषय का वास्तविक निर्णय नहीं हो सकता है अथवा विस्तृत चर्चित करता है जहाँ नहीं किया जा सकता है। इसका उत्तर व्यापक रूप से बदलती हुई परिस्थितियों पर आधारित है।

द्वारा अधिक अच्छे परिणाम की आशा हो सकती है। यह भी हो सकता है कि बंटवारे से सम्पत्ति के छोटे छोटे टुकड़े ही रह जाएं। बड़े लड़के को सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाने का आधार यह भी हो सकता है कि अन्यों की अपेक्षा वही संतोषप्रद ढंग से इस काम को कर सकेगा। इसी प्रकार का तर्क राजतन्त्र के वंशानुगत होने के सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी दिया जा सकता है। यहां भी यही कहा जा सकता है कि इसमें सामान्यतः सर्वोत्तम परिणामों की आशा नहीं की जा सकती। दूसरी ओर यदि भूमि के मामले में सम्पत्ति के स्वामित्व की पद्धति अथवा शासक के सम्बन्ध में निर्वाचित राष्ट्रपति की पद्धति को अपनाया जाए तो यह भी निश्चित है कि प्रत्येक व्यक्ति के उदाहरण में वे विधियां भी सर्वोत्तम सिद्ध नहीं होंगी। सामान्यतः सब लोगों के लिए जो सामान्य हित की बात है कानून दे सकता है व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान कैसे हो यह एक पृथक प्रश्न है।

एक और दूसरी आपत्ति अपने के सिद्धान्त के सम्बन्ध में उठाई जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि इससे व्यक्तिगत जीवन राज्य के कार्य के लिए अधीनस्थ कर दिया जाता है। एक व्यक्ति का कार्य जिस समाज में वह जीता है उससे सीधा जुड़ा हुआ होना चाहिए और संसार के लिए वह अमूल्य महत्त्व का हो सकता है। स्पिनोज़ा का दर्शन किसी एक देश-विशेष के लिए न होकर सारे विश्व के लिए है। इस समय विश्व में यद्यपि उसका मूल्यांकन करने वाले व्यक्ति बहुत ही कम हैं। इसी प्रकार की बात संभवतः पाणिनि के व्याकरणशास्त्री तथा अनेक महान् पण्डितों कलाकारों तथा अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। और यह भी कहा जा सकता है कि बुद्धिमान राज्य ऐसे कार्यों को प्रोत्साहन दे जो उसकी संस्कृति विकास और उसकी कीर्ति में चार चांद लगाते हैं। प्लेटो इस बात को अस्वीकार करता परन्तु यह कहा जा सकता है कि यदि उसके सिद्धान्त को नियमात्मक रूप दिया जाए तो उसमें यह बात नहीं आएगी। फिर, सेवा के अयोग्य होने की स्थिति में यह कहा जा सकता है कि राज्य द्वारा अपने नागरिकों का ध्यान रखना आवश्यक कर्तव्य है। यहां निश्चित रूप से प्लेटो के विचार भिन्न हैं। वह अवश्य ही यह कहता प्रतीत होता है कि जैसे ही कोई व्यक्ति अपने विशेष कार्य को करने में असमर्थ हो जाता है वैसे ही असमर्थता स्थायी हो उसे अपने भाग्य पर ही छोड़ दिया जाना चाहिए। आजकल बहुत से लोग इस सिद्धान्त को अमानवीय बतलाएंगे। कुछ लोग यह भी कह सकते हैं कि राज्य का यह कर्तव्य नहीं कि वह असहाय लोगों की सेवा करता फिरे अपितु यह कार्य तो व्यक्तिगत अथवा धार्मिक संस्थाओं का है, कि वे ऐसे लोगों का प्रबन्ध ... ऐसा प्रश्न है जिस पर हम बाद में विचार करेंगे।

इन आपत्तियों और कठिनाइयों में कितना भी बल क्यों न हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि प्लेटो का सिद्धान्त हमारे वितरण न्याय के सिद्धान्त का सही आधार प्रस्तुत करता है।

यदि किसी विशेष समुदाय में वितरण न्याय की प्राप्ति हो चुकी है तो उसमें बाधा डालने वाली विविध परिस्थितियाँ पैदा हो जाती हैं। इन्हीं बाधाओं को दूर करने का सही मार्ग ही हम अरस्तू के शोधक न्याय में मिलता है।[1] बाधाएँ अथवा यह किसी आकस्मिक घटना (अर्थात् किन्हीं व्यक्तियों द्वारा नहीं) व्यक्तियों के मध्य किसी समझौता अथवा किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह द्वारा विघ्न डालने पर उपस्थित हो सकती हैं। व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह विभिन्न समुदायों के हो सकते हैं। इस तरह यह अन्तर्राष्ट्रीय बातों से सम्बन्धित प्रश्न है जिस पर विचार इस समय स्थगित कर देना ही उचित है। दुर्घटनाओं की क्षतिपूर्ति कुछ अंश में बीमे द्वारा की जा सकती है और कभी इसका विधान राज्य द्वारा भी किया जाता है। समझौते के बारे में विनिमय सम्बन्धी न्याय के रूप में आगे बहुत अच्छी तरह से प्रकाश डाला गया है। व्यक्तियों द्वारा एक दूसरे को पहुँचाई गई चोट या हानि एक ऐसी अव्यवस्था है जिसका अपराध से गहरा सम्बन्ध होता है। चोरी से अधिकतर अविश्वासमय खून अथवा व्यक्तिगत हिंसा (जो मानसिक अथवा शारीरिक हो सकती है) आदि बातें आती हैं। नैतिक पतन की पूर्ति अथवा समय अवसर की क्षतिपूर्ति करके भी की जा सकती है यदि समय की हानि आर्थिक सिद्ध होती है अथवा मान की प्राप्ति भी नहीं की जा सकती तो यह सब व्यक्तिगत क्षति में आयेगा। खून के सम्बन्ध में भी यही बात है। सामान्यतः व्यक्तिगत हानियों अथवा चोटों की क्षतिपूर्ति नहीं की जा सकती। जीवन की पुनः प्राप्ति नहीं हो सकती और उसके बराबर की कोई चीज दी भी नहीं जा सकती। यह सिद्धान्त कि 'आँख के लिए आँख और दाँत के लिए दाँत' क्षति-पूर्ति करने वाली बात नहीं अपितु एक प्रतिशोध है और दो बुराइयों से एक अच्छाई पैदा नहीं हो सकती। अतः एक राज्य का यही कार्य हो सकता है कि वह इस प्रकार की घटनाएँ सुरक्षा के किन्हीं साधनों (पुलिस) द्वारा विविध दण्ड विधियों द्वारा मादक द्रव्यों अथवा घातक शस्त्रों आदि पर प्रतिबन्ध लगाकर और नैतिक शिक्षा का प्रबन्ध करके रोकने का प्रयत्न करे। इस प्रकार के साधनों पर विचार करना हमारे क्षेत्र के बाहर की बात है। परन्तु विनिमय अथवा बदले में न्याय पुरस्कार अथवा दण्ड के स्थान व सम्बन्ध में कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। परन्तु वा इस

१ शोधक न्याय

[1]निकोमैकियन एथिक्स ५ अ० ४।

विषय में विश्लेषण कई पहलुओं से अपर्याप्त रहा है। उन्होंने व्यक्तिगत हानि और उसके लिए दिये गए दण्ड को विनिमय एवं क्षतिपूर्ति के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

शोधक न्याय के अन्तर्गत विनिमय-सम्बन्धी न्याय को प्रस्तुत करना भ्रामक होगा।[1] इसको इस तरह लिखने का अर्थ यह मानना होगा कि मूलतः वितरित किए जाने वाले पदार्थ पूर्वतः निश्चित होते हैं और यह विनिमय इस निर्णय में एक बाधा ही पहुँचाएगा। वास्तविक रूप में होने वाले अधिकांश विनिमय सेवाओं के विनिमय के रूप में हुआ करते हैं

४ विनिमय-सम्बन्धी न्याय

और वे वितरण के एक आवश्यक भाग हैं। यदि ध्यान से देखा जाए तो लोग अपने औजारों अथवा उत्पादन के साधनों का विनिमय नहीं करते वरन् अपने श्रम द्वारा उत्पादित चीजों का विनिमय करते हैं। इस प्रकार के विनिमय द्वारा ही वे भोजन, वस्त्र तथा जीवन-निर्वाह सम्बन्धी अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करते हैं। इसलिए विनिमय सम्बन्धी समस्या वितरण न्याय से सम्बन्धित समस्याओं का एक भाग है। इस तरह राज्य को वितरण-सम्बन्धी पहलू के लिए उचित रूप से संगठन करना चाहिए ताकि इससे भूमि तथा अन्य स्थायी सम्पत्तियों के वितरण में सुविधा हो। राज्य ऐसे कदम भी उठा सकता है कि नागरिक सभी आवश्यक पदार्थ आवश्यक मात्रा में उत्पन्न करें ताकि प्रत्येक की आवश्यकताओं का संभरण हो सके। कुछ लेखकों ने ऐसे आदर्श समुदाय की रूपरेखा खींचने का प्रयास किया है जिसमें यह सब कुछ हो। परन्तु यह सन्देहास्पद ही है कि कोई जटिलतापूर्ण समाज के लिए ऐसी किसी योजना को बनाएगा जो व्यावहारिक रूप से ठीक बैठ सके। ऐसी योजनाओं को छोड़ कर कुछ लोगों ने अपनी परिस्थिति के अनुसार समायोजन के लिए व्यावहारिक रूप का काम किया है तथा उन्होंने अपनी आवश्यकता के अनुसार अपनी उत्पादित वस्तुओं के विनिमय द्वारा दूसरी वस्तुओं को प्राप्त किया है। इस तरह के विनिमयों में सुविधा पैदा करने के लिए मुद्रा चलाना और विविध प्रकार के ऋण की पद्धतियाँ चलायी गईं और अन्त में एक जटिल बैंक-पद्धति को जन्म दिया गया। इस विस्तृत पद्धति की सहायता से माँग और सम्भरण की समस्याएँ कैसे हल होती हैं इन सबका विश्लेषण अर्थ शास्त्र का विषय है। हमारा इन समस्याओं से यहाँ कुछ भी सम्बन्ध नहीं। यहाँ सम्बन्धित प्रश्न केवल अर्थों में न्याय से है जिसके कारण हमें यह थोड़ा-सा विश्लेषण करना पड़ा। यदि न्याय के सम्बन्ध में हमारी सामान्य अवधारणा सही है तो उचित व्यवस्था का यह अर्थ

---

१ अरस्तू ने इन दोनों का अन्तर स्पष्ट रूप से दिखाया है।

चाहा कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार अच्छी तरह से कार्य करे और अपने कार्य को ठीक ढंग से चालू रखने के लिए अपने जीवन निर्वाह-सम्बन्धी वस्तुओं को बदले में प्राप्त करता रहे। उसकी आवश्यकताओं में हम उसके परिवार की आवश्यकताओं को भी सम्मिलित कर सकते हैं और कम से कम उसके बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा तो अवश्य ही इसमें आनी चाहिए। अब यह स्पष्ट है कि मांग और सम्भरण के कार्य के सम्बन्ध में दृढ़ता के साथ नहीं कहा जा सकता कि वहाँ न्याय का सही अर्थ नहीं होगा। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि इसमें भी कुछ मोटे रूप से ऐसा ही होता है जैसा किसी भी सामान्य तरीके से आशा की जा सकती है। मांग और सम्भरण कार्य को सम्पन्न करने में निम्न प्रमुख दोष होते हैं—

(अ) लोगों को उनकी योग्यता के अनुसार काम नहीं मिलता।

(आ) वे उसमें अपनी पूरी शक्ति नहीं लगाते।

(इ) कभी एक ही काम के लिए अनेकों लोग उपलब्ध होते हैं और अन्य कामों के लिए लोग मिलते ही नहीं।

(ई) लोगों की मांग कभी-कभी उनकी आवश्यकताओं के अनुसार नहीं होती कभी-कभी ऐसी मांग करते हैं जो उनके लिए हानिप्रद होती है।

(उ) कभी-कभी मूल्यवान् वस्तुओं की मांग बहुत कम होती है।

इन दोषों को दूर करने के निम्नलिखित उपाय प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(अ) तकनीकी प्रशिक्षण के लिए अच्छी विधियाँ

(आ) क्षमतापूर्ण श्रमिक प्रबन्ध

(इ) कुछ अनिवार्य आवश्यक वस्तुओं का सम्पूर्ण सरकारी नियन्त्रण

(ई) अथवा हानिप्रद वस्तुओं पर प्रतिबन्ध अथवा टैक्स

(उ) यथार्थ मूल्यों के गुण दोष विवेचन की शिक्षा आदि।

इन सभी के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से लिखना हमारी सीमा से बाहर की बात है परन्तु आगे चलकर कुछ कहा जा सकता है।

पुरस्कार एवं दण्ड का सबसे अच्छा सामाजिक महत्त्व हम इसी में देख सकते हैं कि वे स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के संकेतों के रूप में आन्तरिक और वास्तविक मूल्यों के परिणामों के द्वारा निर्मित होते हैं।

■ पुरस्कार और दण्ड आमतौर पर पुरस्कार से प्रसन्नता होती है और दण्ड थोड़ा कष्टकर होता है परन्तु सर्वदा ऐसा नहीं होता। एक मनुष्य उस समय पुरस्कार लेना लगभग अस्वीकार करेगा जब वह यह सोचेगा कि उसने अपने कर्तव्य-पूर्ति से अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया फिर भी कार्य पूर्ति के प्रमाण रूप में एक चिह्न जैसा सामाजिक महत्त्व रख सकता है। इसी तरह कोई मनुष्य दण्ड मिलने पर प्रसन्न भी हो सकता है यदि वह उसे उचित दण्ड

सकता है। कोई यह भी सोच सकता है कि वह दण्ड पाने का अधिकारी है और किसी बाह्य-शक्ति द्वारा दण्ड न दिए जाने पर वह स्वयं अपने आपको दण्ड दे सकता है और प्रायश्चित्त द्वारा सन्तोष प्राप्त कर सकता है।

जब प्रस्तुत अथवा नाशित मूल्य सामान्यतः क्षतिपूर्ति के रूप में प्रदान किए जाते हैं तो उन्हें पुरस्कार अथवा दण्ड के रूप में वर्णित करना उचित नहीं। का आगमन को दी जाने वाली सम्मान निस्सन्देह अंशतः अनुमोदन का ही रूप था परन्तु अंशतः यह इस बात की स्वीकृति भी है कि उसे उसके कार्य के लिए उचित रूप में अदायगी नहीं की गई। दूसरी ओर जब किसी क्षतिपूर्ति के लिए कहा जाता है तो वह भी कुछ अर्थों में आस्थगित-भुगतान के रूप में होती है, यद्यपि उसका मतलब अननुमोदन भी होता है। अतः वस्तु का पुरस्कार और दण्ड के लिए क्षतिपूर्ति के रूप में किया गया विश्लेषण असन्तोषजनक है और कई बार तो बिल्कुल अनुचित भी प्रतीत होता है।

पशुओं को दिये गए पुरस्कार और दण्ड के प्रति भी यह बात नहीं कह सकते। ये प्रायः पशुओं को कुछ कार्यों के करने और कुछ कार्यों से विमुख होने की शिक्षा के मतलब से दिये जाते हैं। पशुओं के साधारण जीवन में इस उद्देश्य की पूर्ति तो उनकी सफलता तथा असफलता के रूप में हो जाती है जो प्रायः सुख और दुःख के रूप में उन्हें प्राप्त होती है और यह उन्हें कुछ कार्य करने और न करने की शिक्षा भी देती रहती है। पशुओं से तथाकथित पुरस्कारों और दण्डों द्वारा वही परिणाम चाहना एक अप्राकृतिक ढंग है। मुख्यतः बच्चों को दिये जाने वाले पुरस्कार और दण्ड भी इसी तरह के होते हैं। यह उनके कार्यों के अनुमोदन अथवा अननुमोदन की बजाय भावोद्दीपन के लिए होते हैं। उनकी तुलना गधे के सामने गाजर लटकाने अथवा घोड़े को एड़ लगाने से की जा सकती है। इन्हें कठिनाई से ही पुरस्कार अथवा दण्ड कहा जा सकता है यद्यपि उनमें अनुमोदन अथवा अननुमोदन के कुछ तत्त्व होते हैं पर ऐसे मामलों में तो बहुत ही कम। इसके विपरीत जब नेल्सन की प्रस्तर-प्रतिमा स्थापित की जाती है अथवा आलिवर क्रॉमवेल की अस्थियाँ कब्र में से खोदकर फाँसी पर लटका दी जाती हैं तो यह दोनों काम अनुमोदन अथवा अननुमोदन के रूप में किये जाते हैं परन्तु उन्हें दण्ड अथवा पुरस्कार के रूप में भी वर्णित किया जा सकता है, यद्यपि इन दोनों सम्बन्धित व्यक्तियों को इससे न प्रसन्नता हुई और न पीड़ा।

इस प्रकार पुरस्कार और दण्ड विषयक न्याय की जानकारी प्राप्त करते समय पाठक को इन दोनों पक्षों का अन्तर ध्यान में रखना चाहिए। जब हम क्षतिपूर्ति (उदाहरणस्वरूप नागरिक क्षति आदि के रूप में पूर्व वर्णित) की बात कहते हैं तो इससे सामान्य सिद्धान्त काफी स्पष्ट हो जाता है। यह एक

शोधक न्याय का विषय है जैसा कि अरस्तू ने लिखा है। उनका यह प्रयास उस सिद्धान्त के समान ही कहा जा सकता है जिसके अनुसार "जिस व्यक्ति के पास बहुत कम है उसे दिया जाए और जिसके पास बहुत अधिक है उससे ले लिया जाए।" परन्तु इस मामले में सर्वत्र क्षतिपूर्ति की सही मात्रा का अनुमान लगाना सरल काम नहीं विशेषतः कुछ मामलों में ठीक बराबर की क्षतिपूर्ति खोजना असम्भव है। परन्तु मोटे तौर पर इस तरह न्याय करना सामान्यतः स्पष्ट है। इसके विपरीत जब पुरस्कार और दण्ड उद्देश्य के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं तो उनसे तत्वतः एक विशेष उद्देश्य सिद्धि की कामना होती है। यह मान लेने पर कि यह लक्ष्य अपने आप में शुभ है और दिये जाने वाला पुरस्कार अथवा दण्ड उन्नति में सहायक होगा तो उसका औचित्य सिद्ध हो सकता है। यदि पशुओं को किसी चातुर्यपूर्ण कार्य अथवा सेवा के लिए प्रशिक्षण देना हमारे लिए उचित है तो उन्हें उत्साहित करने के लिए दण्डात्मक विधियाँ अपनाना भी अनुचित नहीं बशर्ते कि वे निर्दयतापूर्ण न हों। यदि बच्चों को विशेष प्रकार की शिक्षा और ज्ञान देना उचित है तो उन्हें उत्साहित करने के लिए ऐसी विधियाँ अपनाना भी अनुचित नहीं परन्तु वे भी निर्दयतापूर्ण और अपमानजनक न हों। वयस्कों के सम्बन्ध में ऐसा मार्ग चुनने का औचित्य सन्देहास्पद है जिसे वे स्वयं अपने लिए चयन नहीं करते परन्तु आत्मानुशासन के सम्बन्ध में ऐसी आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। अन्ततः पुरस्कार और दण्ड का सही अर्थ के रूप में क्रमशः अनुमोदन अथवा अननुमोदन के उत्तम तथा आचार को स्पष्ट करता है। पुरस्कार और दण्ड का औचित्य तभी सिद्ध हो सकता है जब वे उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वोत्तम हों और अनुमोदन अथवा अननुमोदन अधिकारी व्यक्ति द्वारा किया जाए।

पुरस्कार की अपेक्षा दण्ड के सम्बन्ध में अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। वयस्कों को सामान्यतः उनके अच्छे कार्यों के लिए पुरस्कार दिया जाता है तो यह अभी आगे बढ़ने और प्रगति के लिए प्रशंसा होती है। उनके कार्यों के लिए ही विशेष व्यवहार की आवश्यकता होती है। दण्ड के विभिन्न सिद्धान्त और उनसे सम्बन्धित कार्य और उद्देश्य तो स्पष्ट ही हैं उन्हें हम पहले ही बता चुके हैं। इन सबके लिए निवारक सिद्धान्त लागू होता है। परन्तु क्षतिपूर्ति वाला सिद्धान्त तो केवल प्रथम बात के लिए ही लागू होता है। जैसा रशडाल का सिद्धान्त आधुनिक परिणामी सिद्धान्त जैसा कि मूर अथवा रोसनर ने प्रतिपादित किया है यह दूसरे प्रकार के सिद्धान्त के रूप में लागू होता है। प्रतिकारी सिद्धान्त अपने गुणात्मक अथवा शैक्षणिक पक्षों में तीसरे प्रकार के लिए लागू होता है। परन्तु इन सिद्धान्तों का विवेचन समाज-दर्शन की अपेक्षा

नीतिशास्त्र विधि-दर्शन और शिक्षा-शास्त्र से सम्बन्धित है। कम-से-कम हमारी इस परिधि से तो यह बाहर की बात है।[1]

पूर्व कथन से यह स्पष्ट है कि जो बात कानूनी रूप से सही है वह व्यक्तिगत रूप से अथवा विशेष मामलों में समाज के लिए सही नहीं हो सकती। कानून की सामान्यता के सिद्धान्त से विशेष परिस्थितियों पर ध्यान नहीं दिया जा सकता। अतः ऐरिस्टाटल ने वैध न्याय अथवा व्यवस्था से साम्य अथवा धारणा को पृथक किया गया।[2]

१ साम्य

इस अर्थ में साम्यिक व्यवस्था जिसमें समस्त परिस्थितियों को ध्यान में रखा जाता है, न्याय नहीं कहला सकती। अतः मन में साम्यिक क्या है यह कानून के लिए जानना असंभव ही नहीं वरन् सही निर्णय तक पहुँचने के लिए विधि निकालना भी कठिन है। निस्सन्देह कभी-कभी वैध निर्णयों में भी विशेष परिस्थितियों का ध्यान रखना सम्भव होता है। एक अपराधी मनुष्य लघुकारक परिस्थितियों के कारण पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से अपने दोष से मुक्त हो सकता है। दूसरी तरफ जानता-बूझता हुआ अयोग्य अथवा नासर नाह व्यक्ति अपने प्राप्त वैध अधिकारों से वंचित किया जा सकता है। परन्तु इन अस्पष्ट विषयों पर वैध रूप से कुछ विचार नहीं किया जा सकता। अतः यह व्यक्तिगत रूप से लोगों अथवा स्वेच्छा से काम करने वाले संघों का कर्तव्य हो जाता है कि वे ऐसी वैध अयोग्यताओं को दूर करने में सहयोग दें। धर्म आदि धार्मिक अथवा उसी तरह की संस्थाएँ अन्य उपकारी व्यक्ति लोगों के उन विशेषाधिकारों की रक्षा कर सकते हैं जिनके लिए उनका वैध दावा नहीं होता। परन्तु ऐसी संस्थाएँ अनेक होती हैं और उनके निर्णयों में साम्य होना कठिन होता है। इस सम्बन्ध में कुछ अधिक विचार बाद में करेंगे।

यह ध्यान रहे कि साम्य (Equity) शब्द का अर्थ कुछ भ्रामक प्रभाव डालने वाला है। यह समता (Equality) अत्यधिक है। निस्सन्देह, कुछ अर्थों में साम्यिक ही नहीं वैध भी साम्य ही होता है। दोनों का संकेत यही है कि एक तरह की बातों में एक ही तरीके से व्यवहार किया जाए। परन्तु जब बातें भिन्न भिन्न होती हैं तो उनमें समता नहीं लाई जा सकती। वास्ट व्हिटमैन का यह कथन अति सुन्दर है[3] कि मैं ऐसी कोई चीज स्वीकार नहीं करूँगा जिसका समान

१ उल्लेखनीय पुस्तकें ग्रीन —प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल आब्लिगेशन, बोसांके फिलासफिकल थ्योरी आफ दि स्टेट, अध्याय ८, ७; मैकन्जी, सर्वे आफ सोशियल फिलासफी, हैराल्ड थ्योरी आफ गुड एण्ड ईविल भा० २, अ० १ भ० ५; सोम्मर : 'ज्यूरिस्प्रुडेन्स' अ० १।
२ अरस्तू अ० १४ दि प्रिंसिपल्स आफ मॉरल्स एण्ड पालिटिक्स अ० २ भी उल्लेखनीय है।
३ सांग ऑफ माईसेल्फ, ४५।

कार्यों में अपना प्रतिरूप नहीं —अकारण स्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्धा व्यक्ति अपनी आँखों के लिए कोई समप्रभावी वस्तु प्राप्त नहीं कर सकता। इसी तरह किसी प्रकार से असमर्थ व्यक्ति कोई समप्रभावी प्राप्त नहीं कर सकता। पूर्वोक्त कथन स्वाधीन अथवा कृत्रिम साधनों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है पर उन प्राकृतिक विभिन्नताओं के लिए नहीं और कभी कभी तो प्रथम के लिए भी ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर समता के सम्बन्ध में हम पूर्णतया अगले अध्याय में विचार करेंगे।

७ प्राकृतिक अधिकार

वैध रूप से लोग राज्य अथवा राज्य से मान्यता प्राप्त अधिकारियों द्वारा प्रदत्त या स्वीकृत अधिकारों के भागी होते हैं। नैतिक रूप में उनके अधिकार पूर्व वर्णित न्याय तथा साम्य जैसे विचारों द्वारा निश्चित होते हैं। यदि वैध तथा नैतिक अधिकार एक दूसरे के अनुरूप नहीं होते तो उनमें सुधार के लिए वैध संवैधानिक साधन अपनाए जा सकते हैं। क्या सरकार के प्रति अवैध प्रतिरोध वैध है या नहीं और यदि है तो किन परिस्थितियों में यह एक कठिन प्रश्न है। इसका सन्तोषजनक विश्लेषण यहाँ नहीं किया जा सकता। यहाँ जो कुछ कहा जा सकता है तो यही कि यह अराजकता की बुराइयों के सन्तुलन पर आधारित है—उस सन्तुलन पर जिसका कोई यथार्थ माप नहीं है परन्तु आनुमानिक अन्दाज लगाया जा सकता है। हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए तो इतना ही मान लेना पर्याप्त होगा कि एक सुव्यवस्थित समुदाय के विधान में वर्णित अधिकारों को ही प्राकृतिक कहा जा सकता है परन्तु प्राकृतिक अधिकारों का भाव भिन्न अर्थ में लिया जाता है। उनका सम्बन्ध किसी आयोजित राज्य के निर्माण से पूर्व वर्तमान 'प्राकृतिक राज्य' की अवधारणा से जोड़ा जाता है। उदाहरणस्वरूप हॉब्स का इस विषय पर सबसे अधिक निश्चित व अतिरंजित कथन है कि "प्राकृतिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति को सब चीजें प्राप्त करने का अधिकार है, अर्थात् सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में जैसा चाहता है वैसा ही प्रयोग और उपभोग कर सकता है तथा वह उन्हें प्राप्त कर सकता है जिस व्यक्ति के प्रति वह ध्यान देना चाहता है दे सकता है।" यह पहले ही कह चुके हैं कि प्राकृतिक राज्य की अवधारणा काल्पनिक है और यह मानने के लिए भी कोई यथार्थ आधार दिखाई नहीं देता कि एक सुव्यवस्थित समुदाय का अस्तित्व मनुष्य के लिए उतना प्राकृतिक नहीं है। हम एक निश्चित व्यवस्था न पूर्व की प्राकृतिक वृत्तियों के बारे में सोच सकते हैं परन्तु पशुओं में भी तो प्राकृतिक वृत्तियाँ कुछ अवरोध उत्पन्न करती हैं फिर मानव में तो वे अधिक निश्चित रूप से उनके व्यक्तित्व-हीन और सामान्य-हीन द्वारा प्राकृतिक रूप से अवरोध उत्पन्न करने वाली होंगी। आरंभ में यह कहना गम्य है कि यहाँ प्राकृतिक

अधिकार है जिन्हें सुगठित समाज मान्यता दे।[1]

यह स्पष्ट है कि अधिकार चाहे वास्तविक हों अथवा वैध वे उन्हें प्राप्त करने वाले व्यक्ति द्वारा आवश्यकों की पूर्ति से व्याप्त होते हैं। वास्तविक अधिकारों के विषय में तो यह विशेष रूप से स्पष्ट है।

४ अधिकार और आवश्य प्लेटोवादी न्याय की अवधारणा के अनुसार अधिकार नैतिक कर्तव्यों की पूर्ति से सम्बन्धित होते हैं। यह विचार जैसा हम देख चुके हैं चरम-बिन्दु पर पहुँचा माना जाता है। यह माना जा सकता है कि अपने आत्म-विकास तथा विशुद्ध आवश्यकों की पूर्ति के लिए व्यक्ति को स्वतन्त्रता और सुअवसर प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। परन्तु यह भी सत्य है कि अधिकारों की स्वीकृति किसी वांछित लक्ष्य के विकास की पूर्ण मान्यता में निवास करती है। इस कर्तव्य की पूर्ति के अभाव में नैतिक-कर्तव्य शून्य हो जाते हैं, परन्तु वैध-कर्तव्य तो वास्तविक अवहेलना पर ही प्रकट होते हैं। यदि कोई राज्य यह चाहे कि जो अधिकार उन्हें दिये गए हैं वे उनका उपभोग एक ही ढंग से करें तो यह अन्याय प्रजा-पीड़न की बात होगी। परन्तु यह तो निश्चित है कि उनका उपभोग तर्कसंगत तरीके से होना चाहिए। कुछ वैध विचार के अनुसार केवल वे आवश्य जो अधिकार पर आधारित होते हैं उनके उपभोग की अपेक्षा दूसरों पर अधिक बोला जाता है। इस प्रकार सम्पत्ति के अधिकार में भी यह आवश्य होता है कि दूसरे व्यक्ति उसे छीनें और चुराएँ नहीं।" इस प्रकार प्राय सभी आवश्य कुछ नास्तियुक्त होते हैं, और वैध दृष्टि से तो इसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। अस्ति आवश्यों को वैधानिक रूप से लागू किया जाना अति कठिन है। परन्तु यह स्मरण रहे कि कुछ ऐसे भी आवश्य होते हैं जो अधिकारों के साथ आबद्ध रहते हैं और कानून उनका लेखा जोखा लेता रहता है। "पूर्ण आवश्य" और "अपूर्ण आवश्य" की अभिव्यक्ति वैध रूप से लागू किए जाने वाले कर्तव्यों की वैधानिक रूप से लागू न किये जाने वाले कर्तव्यों अथवा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अपहरण का खतरा मोल लेकर लागू किए जाने वाले कर्तव्यों के साथ पृथकता प्रदर्शित करने के लिए की गई थी। उदाहरणस्वरूप वैधानिक रूप से एक व्यक्ति अपनी वस्तुओं से इच्छानुसार व्यवहार तभी तक कर सकता है जब तक वह दूसरों के वैधानिक अधिकारों में बाधक नहीं बनता। इसके साथ ही बहुत कम वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनको पूरी तरह से किसी

---

१ डी जी रीची "नेचुरल राइट्स" में इस विषय का वास्तविक स्वरूप [illegible]; [illegible] स्वरूप का [illegible] के राज्य के वर्ष [illegible] के [illegible] जनरल [illegible] पत्रिका के [illegible] लेख में।

व्यक्ति की निजी सम्पत्ति कहा जा सके और जिसके प्रयोग के लिए वह पूर्ण स्वतन्त्र होता है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति पशु रख सकता है परन्तु उनके साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने के लिए वह स्वतन्त्र नहीं भले ही पशुओं को कोई वैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं। वैधानिक कानूनों द्वारा तो मर्यादाहीन अचेतन वस्तुओं तक को भी गाली देना निषिद्ध हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि समुदाय अपने नागरिकों को जहाँ कुछ रखने की स्वीकृति देता है तो वह उन वस्तुओं के प्रति कुछ अधिकार भी देता है। परन्तु दूसरी तरफ यह भी कहा जा सकता है कि नागरिक जिन वस्तुओं का उपयोग करते हैं उनके प्रयोग सम्बन्धी कर्तव्यों का भी ध्यान रखें। कम-से कम इस सीमा तक तो प्लेटो की अवधारणा पुष्ट मालूम देती है।

षष्ठम अध्याय

सामाजिक आदर्श

१. आदर्शों का सामान्य महत्त्व

मनुष्य जीवन के अन्य पहलुओं की तरह समाज भी स्वभावतः प्रगतिशील है। समाज क्या होता है और उसका विकास कैसे होता है यह जानना हमारे लिए आवश्यक है। कुछ अर्थों तक यह बात उन सब चीजों पर लागू होती है जो जीवित रहती और बढ़ती हैं। परन्तु ने भी इसी बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इसके अध्ययन के समय हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि विकास के लिए समाज में अनन्त शक्ति होती है। परन्तु बहुत-सी जानदार चीजों में यह शक्ति सीमित रूप में है। एक बीज एक विशेष प्रकार के पौधे के रूप में और एक भ्रूण एक विशेष प्रकार के पशु के रूप में परिवर्तित होते हैं और उनमें हेर-फेर भी तुलनात्मक रूप में बहुत ही कम होता है। मानव के शारीरिक पहलू के विषय में भी यही कहा जा सकता है। हम अपने शारीरिक ढाँचे में विचारपूर्वक यदि एक रत्ती भर भी हेर फेर करना चाहें तो नहीं कर सकते और न हमारे स्वभाव और नैसर्गिक-सम्पत्ति और सामान्य विशेषताओं में कोई परिवर्तन संभव होता है। परन्तु इसके विपरीत हम मानव-जाति के विकास की संभावनाओं के सम्बन्ध में किसी प्रकार की सीमाएँ निश्चित नहीं कर सकते। हमारा ज्ञान अपने स्वयं और इस विश्व के सम्बन्ध में जिसमें हम रहते हैं असीमित रूप में विकसित हो सकता है और हमारी भावी भौतिक समस्याओं के निराकरण और हमारे सामाजिक सम्बन्धों के विकास के लिए वर्तमान में ही अच्छे परिणाम उत्पन्न कर सकता है। इस सम्बन्ध में कम-से-कम इतना कहना सत्य है कि मनुष्य आंशिक है और वह पूर्ण बनने की आशा करता है। निस्सन्देह यह तथ्य हमें उसके सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने से रोकता है। कभी-कभी यह कहना भी सही है कि "मनुष्य कभी भी उतना आगे नहीं बढ़ सकता जब तक उसे यह पता न हो कि वह कहाँ जा रहा है।" फिर भी मनुष्य कुछ दूर तक आगे दृष्टिपात कर सकता है और कुछ अंशों में जिस सामान्य-दिशा की ओर वह बढ़ रहा होता है उसके सम्बन्ध में भी बता सकता

है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर अब हम समाज के सरूपभूत आदर्शों को प्राप्त करने के लिए अपनाये गए प्रमुख उपायों की ओर ध्यान देंगे। वे अधिकांश में सरकार की प्रमुख अवधारणाओं से सम्बन्धित होंगे जिन्हें अभिजात्य और लोकतन्त्र के आदर्शों के रूप में चित्रित किया जा सकता है। इन आदर्शों की व्याख्या करने से पूर्व सरकार के इन दोनों ढाँचों पर प्रकाश डालकर हम उन्हें अधिक निश्चित रूप से अभिव्यक्त कर सकते हैं। सामान्यतः अभिजात्य तन्त्र का आदर्श प्रमुख रूप से योग्यता तथा उच्चतम वैयक्तिक विकास होता है जबकि लोकतन्त्रात्मक आदर्श स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व से पूर्ण रहना है। हम पहले इन दोनों आदर्शों पर तथा फिर उनमें निहित विशेष त्रुटियों पर विचार करेंगे।

२ अभिजात्य आदर्श

इस आदर्श की प्रकृति पर इसके अपने प्रशंसात्मक ढंग में प्लेटो के 'रिपब्लिक' तथा कार्लाइल और रस्किन के ग्रन्थों में अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसे अत्यधिक विरोधाभासपूर्ण और विकर्षणात्मक ढंग से नीत्शे ने अपनी कृतियों में प्रस्तुत किया है। इस विषयक आदर्श-वाक्य होमर की इस उक्ति में मिलता है "दूसरों से अधिक समृद्ध बनो और सदा अग्रिमस्थ रहो" तथा आधुनिक समय में कुलीनों के प्रति आदरभाव में मिलता है। इस सिद्धान्त के समर्थक दैवी तथा वीर गुणों से युक्त उन महान् व्यक्तियों से प्यार करते हैं जो नगरों में निवास करते हैं तथा अपनी जाति को महानता से विभूषित करते हैं अथवा जो पेड़ की तरह अपने जीवन के लिए और जो जितना ऊँचा संभव हो सकता है, बढ़ जाते हैं। अभिजात्यतन्त्र का ध्येय समाज के लिए योग्यतम व्यक्तियों की उपलब्धि करना अथवा विशेष रूप से शासन के लिए योग्य व्यक्तियों को खोजना है। हम यह देख चुके हैं कि योग्यतम व्यक्तियों के चयन का सामान्य सिद्धान्त इन व्यक्तियों के अपने कार्य को सुचारु तरीके से करने की विधि में निहित है जैसे कि प्लेटो की न्याय सम्बन्धी अवधारणा में प्रस्तुत किया गया है और जिस अर्थ में हम स्वीकार भी कर चुके हैं। परन्तु इस अर्थ में यह सिद्धान्त अभिजात्यतन्त्र नहीं कहला सकता जब तक यह न मान लिया जाए कि प्रत्येक व्यक्ति कुछ न-कुछ कार्य करने के योग्य होता है और एक दूसरे के अधीन रहकर काम करना आवश्यक नहीं है। इसे अभिजात्य सिद्धान्त तभी कहा जा सकता है जब यह विशेष रूप से शासकों के लिए प्रयुक्त किया गया हो। निस्सन्देह इसकी अर्वाचीन व्याख्या इसकी कठोरता, कुलीनों के प्रति आदरभाव की अवधारणा पर कम बल देकर कम करने का प्रयत्न करती है। कार्लाइल का यह आदेश कि "यदि तुम वीरों में न आओ प्रधान बनता है तो उसे नमन पर बैठक बनने दो मैं अविरत यही अनुशासन

पूर्ण भासित हो रहा है जो प्लेटो द्वारा शासकों पर कठोरता के साथ लगाया गया था और उन्हें वाणिज्य और औद्योगिक वर्गों को दिये जाने वाले अनेक लाभों से वंचित किया था। कार्लाइल कहता है¹ "बुद्धिमान् लोगों द्वारा शासित होना मूर्ख लोगों का जन्मसिद्ध अधिकार है।" वीरता-सम्बन्धी अवधारणा जो मध्ययुग के सामन्तों तथा जापान के समुराई लोगों में पाई जाती है इसी तरह विशेषाधिकार के विपरीत प्रतिष्ठा-सन्तुलन को प्रदर्शित करती है। यह स्मरण रहे कि नाइट (Knight) शब्द का अर्थ मूलतः एक सेवक है और कुछ राजकुमारों का आदर्श-वाक्य 'मैं सेवा करता हूँ' था। परन्तु जिस तरह एक मखमली दस्ताना कठोर मुट्ठी को ढक लेता है उसी तरह कभी-कभी एक विनम्र भाव कठोर असमानताओं पर पर्दा डाल देती है। फिर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अभिजात्य आदर्श का उद्देश्य अभिजात्य ही है। एक सुविकसित व्यक्तित्व को मुश्किल से ही कभी उचित पुरस्कार मिल पाता है। एक नेतामें योग्यता होना परम महत्त्व की बात है। एक शासक की योग्यता के पश्चात् (यद्यपि उसकी गणना पहले की जानी चाहिए) शिक्षा-शास्त्री की योग्यता का सबसे अधिक महत्त्व है।

लोकतन्त्रात्मक-आदर्श का कभी-कभी अभिप्राय समाज के निम्नवर्ग के शासन अथवा (लगभग उसी मतलब वाले) बहुमत के शासन से लिया जाता है। इसी

अर्थ में इस अवधारणा को प्लेटो तथा आधुनिक काल

१ लोकतन्त्रात्मक-आदर्श में कार्लाइल रस्किन और हेनरी मेन ने समझा और

उन पर आपत्ति की। जे ऑस्टिन² ने लोकतन्त्र की

परिभाषा "वह सरकार जिसके शासन-अवयव में तुलनात्मक रूप से सम्पूर्ण राष्ट्र का विशाल अंश भाग लेता हो" की है परन्तु इस आदर्श के अधिवक्ता इस परिभाषा को मुश्किल से ही सही मानेंगे। राष्ट्रपति लिंकन के "प्रजा के लिए, प्रजा के द्वारा प्रजा की सरकार" वाला वाक्यांश सामान्यतः सही परिभाषा के रूप में अधिक स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु इस अभिव्यक्ति का प्रथम और अन्तिम भाग सभी अच्छी सरकारों के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। अभिजात्य तन्त्र के अधिवक्ताओं का उद्देश्य प्रजा की सरकार से है और वे सोचते हैं कि ऐसी सरकार लोगों के हित के लिए होती है। उनकी धारणा है कि अपने-आपको लोकतन्त्रीय कहने वाली सरकार मुश्किल से ही सरकार हो सकती है परन्तु वह प्रच्छन्न स्थिति में अराजकता का ही रूप है। वह यथार्थ में लोगों के हित के लिए नहीं होती परन्तु कम-से-कम लोगों के उस भाग के लिए होती है जिन्होंने अधि

---

१ सेटर्ड पैम्फलट I।

२ "प्रोविन्स ऑफ ज्यूरिसप्रुडेन्स डिटरमिन्ड" में 'लैक्चर्स ऑन ज्यूरिस प्रुडेन्स' तथा मेन के पापुलर गवर्नमेंट देखो।

की अवधारणा से जोड़ता है। एक पुरानी कहावत के अनुसार "मित्रों में सभी वस्तुएं समान होती हैं।" यदि इसे हम तुरन्त सही मान लें तो यह आपत्ति हो सकती है कि सभी लोग मित्र नहीं होते परन्तु उत्तरोत्तर वे मित्र बन सकते हैं। कुछ भी हो इस अवधारणा के यथासम्भव पूर्णत्व को स्वीकार करने में ये बातें बाधक नहीं हो सकतीं। इस विषय में सबसे अधिक आपत्ति वाली बात प्लेटो की कार्य में भिन्नता की अवधारणा हो सकती है। जिनके कार्य भिन्न होते हैं उनकी आवश्यकताएँ भी भिन्न होती हैं। एक कवि, एक कल्पनाशील दार्शनिक अथवा एक धार्मिक शिक्षक की केवल सामान्य भौतिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त कुछ और आवश्यकताएँ भी होती हैं। उन्हें अपने स्वतन्त्र प्रयत्नों, भ्रमण, विचार अथवा आत्म-चिन्तन के लिए अवकाश तथा मनचाहा अध्ययन के लिए पुस्तकों, जो किसी सार्वजनिक पुस्तकालय में मिल सकती हैं, की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत एक आविष्कारक अथवा प्रकृति विज्ञान के एक विद्यार्थी को अनुसंधान के समय कुछ सूक्ष्म यन्त्रों अथवा अन्य उपकरणों की आवश्यकता हो सकती है और वे उनका उपयोग अपनी इच्छा अनुसार करना चाहेंगे। यदि जनता ही यह वस्तुएँ उन्हें थोड़े समय के लिए देती है तो भी कुछ समय के लिए वे उन्हीं की सम्पत्ति होंगी, दूसरे लोगों को उनका प्रयोग करने का कुछ भी अधिकार नहीं होगा। पर मैत्री की भावना रखने वाली जनता भी उन्हें यह वस्तुएँ तब तक सौंपने के लिए तैयार नहीं होगी जब तक वे अपने साहसिक कार्यों द्वारा जनता का विश्वास प्राप्त नहीं कर लेंगे।

फिर यदि सब लोगों का परिग्रह समान होता तो व्यावहारिक रूप से यह भी आवश्यक होता कि सब लोग सेवाएँ भी समान करें, पर यह होना एकदम अवश्यम्भावी नहीं। सेवाएँ सामग्रियों की तरह सरलता से नहीं नापी जा सकतीं। ऐसा लगता है कि यह सब सामग्रियों की समता का प्रचार करने वालों ने मान लिया है कि वर्तमान समय में विद्यमान वस्तुएँ या सामग्रियाँ वितरण के लिए प्राप्त होंगी। परन्तु ये सामग्रियाँ जिस श्रम से पैदा होती हैं उन्हें प्राप्त करने के लिए भी पूरी तरह से वैसा ही श्रम किया जाए। यदि प्रत्येक व्यक्ति समान सेवा की शर्त का पालन किए बिना समान भाग का अधिकारी होना चाहता है तो भी ऐसी व्यवस्था करना कठिन होगा कि सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती रहेंगी। सच तो यह है कि ऐसा प्रबन्ध प्राकृतिक ही नहीं है। लोगों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे आवश्यक वस्तुएँ पाने के लिए प्रयास करें और वे वस्तुएँ उन वस्तुओं का उत्पादन करके पा सकते हैं अथवा परम्परागत रूप से अन्य वस्तुओं का उत्पादन करके उनके विनिमय द्वारा पा सकते हैं। परन्तु मनुष्य में अपनी दृष्टि अथवा मूल्यांकन की सीमा से बाहर लक्ष्य का अनुसरण करने की प्राकृतिक प्रवृत्ति ही नहीं होती। और यदि हम यह मान लें कि उनमें ऐसी दृष्टि

है तो बात ही दूसरी होगी। सम्भवतः शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था और औद्योगिकी के सिद्धान्तों के प्रयोग से ऐसी जाति उत्पन्न की जा सके परन्तु वर्तमान समय में अविभाजित गुणों से युक्त ऐसे सामाजिक संगठन की कल्पना करना उपयोगी नहीं होगा। इस बीच यह मान लेना भी ठीक नहीं कि अधिक व्यवस्थित परिवारों में भी सम्पत्ति की समता का सिद्धान्त पालन किया जाता होगा। परन्तु लोगों की प्रवृत्ति ऐसी है कि सम्पत्ति का आवश्यकता और योग्यता के अनुसार समायोजन किया जाए। यह कथन प्लेटो की न्याय-सम्बन्धी अवधारणा को लागू करता है जिसके सम्बन्ध में हम यह देख चुके हैं कि उसमें समता की बात नहीं है।

(२) कानून की नजरों में समता न्याय के प्रत्यय से युक्त है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं यदि सामाजिक परिस्थितियाँ समान होंगी तो न्याय भी समान ही होगा। कानून व्यक्तियों में भेद नहीं करता जबकि उसके प्रतिपालन के समय साम्य में कुछ अन्तर आ सकता है। साम्य सम्बन्धी अवधारणा स्वयं कुछ सम्भ्रान्ति पैदा करती है। यह कहा जा सकता है कि साम्य में समता के अर्थ निहित हैं पर है ऐसा कठिन। उदाहरणस्वरूप स्पेन्सर ने साम्य और समता के आपसी सम्बन्ध पर अत्यधिक बल दिया है।[1] मैं सोचता हूँ कि कुछ अर्थों में यह मिथ्याधारणा से हुआ है। कभी कभी लोग ऐसा सोचते हैं कि साम्य सम्बन्धी अवधारणा समता से उत्पन्न हुई है परन्तु ऐसा लगता है कि हुआ इससे विपरीत है।

(३) समता का तीसरा अर्थ हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए बहुत महत्त्व रखता है और वह इसे भ्रातृभाव के प्रत्यय से सम्बन्धित करता है। इस मान्यता में यह भाव अन्तर्निहित है कि एक मानव को दूसरे मानव से पृथक् करने वाली वस्तुएँ उनको संगठित करने वाली वस्तुओं की तुलना में महत्त्वहीन होती हैं। सामान्यतः जब हम एक ही प्रकार के जीवधारियों के विषय में बात करते हैं तो यह बात सही प्रतीत होती है। कुत्ते अनेकों तरह के होते हैं परन्तु शायद उनके जीवन प्रकार के विषय में निर्णय करते समय उनके शारीरिक-गठन की अपेक्षा उनके कुत्तेपन पर अधिक ध्यान देना होगा। कुछ भी हो यह अच्छी तरह से प्रतिपादित किया जा सकता है कि यह हमारी सामान्य मानवता ही है जो हम विश्व में अद्वितीय स्थान प्रदान किये हुए है अन्य अन्तर महत्त्वहीन है।[2] एक मानव एक मानव ही होता है" यह इसलिए कि उसमें कुछ अन्यों की अपेक्षा

१ डाटा आफ एथिक्स।

२. मैं इस विचारधारा पर पाठकों का ध्यान मारग्रेट मैन के लेखों तथा अति आधुनिक एवं अति प्रसिद्ध श्री जे. के. वेल्टर एन मरोयन के लेखों में निरन्तर दिख वा की बार आकर्षित करना चाहता हूँ।

अधिक आधारभूत अन्तर होते हैं। कर्म ने अपने गीतों में स्थिति और भाग द्वारा प्रतिपादित अन्तर को महत्त्वहीन बताया है। 'ज्ञान और योग्यता' अब भी भिन्नता के तर्कसंगत आधार माने जाते हैं। परन्तु जब हम मानव की तात्त्विक एकता के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो जातीय भेदों को स्थान नहीं देना चाहिए। आजकल के लोग प्लेटो के इस 'उदात्त झूठ' को गलत कहेंगे कि कुछ लोग सोने कुछ चाँदी और कुछ भिन्न धातु के होते हैं। अरस्तू ने अपेक्षाकृत ऐसे कम भेद स्थापित किए हैं फिर भी उसने 'स्वाभाविक रूप से स्वतन्त्र तथा स्वाभाविक रूप से दास' के रूप में तीव्र भेद प्रस्तुत किया है। स्टोइकवाद और ईसाई धर्म ने ऐसे भेदों को हटाने का बहुत प्रयास किया फिर भी वे नीग्रो की स्वामी और गुलामों की नैतिकता की प्रतिस्थापना के रूप में पुनः प्रकट हो गए। कार्लाइल का 'बुरे और अच्छे आदमी में वास्तव अन्तर' का आग्रह भी ईसाई धर्म के विपरीत है और अपने-आप में पुष्ट नहीं है। बहुत से लोग न काले होते हैं न गोरे, परन्तु कुछ भूरे रंग के भी होते हैं। शेक्सपीयर अथवा वाल्ट्व्हिटमैन जैसे प्रातिभ व्यक्तियों से कुछ अतिमानव भी देवता न होकर देव-स्वरूप मानव ही अधिक थे। कुछ भी हो इसी तरह के विचारों से मानवीय भ्रातृत्व के विचारों की स्थापना होती है। इसी भावना में समता शब्द भ्रातृत्व का आशय रखता है और अधिक सुनिश्चित अर्थ देता है।

परन्तु यह ध्यान रहे कि इसका अर्थ उन भेदों को अस्वीकार करना भी नहीं है और यह हमें इस इच्छा की ओर प्रेरित भी नहीं करता कि हम एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समाप्त ही कर दें। इसे समाप्त करने के दो ढंग हैं। एक यह कि किसी कोण के सिरे को समाप्त अथवा उसका विस्तार कर दें। पहली विधि का क्षेत्र सीमित और दूसरी का व्यापक है। ऐसा लगता है कि दूसरी विधि ही हमारा ध्येय है। उदाहरण के लिए धर्म के सम्बन्ध में उस पहलू को समाप्त कर देना बुद्धिमत्ता होगी जिसके द्वारा विभिन्न धर्मों में अन्तर दिखाई देता है। शायद इससे यह अच्छा होगा कि आधारभूत सिद्धान्तों की तात्त्विक एकता के विकास के लिए प्रयास किया जाए जिससे धीरे धीरे उनमें पाये जाने वाले भेद स्वतः ही प्रभाव हीन हो जाएँ। परन्तु इस उदाहरण पर हम अधिक कुछ नहीं कहेंगे।

अब हम स्वतन्त्रता की अवधारणा पर आते हैं। एक आदर्श समाज में स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्तियों की पूर्ण स्वतन्त्रता से है जब तक कि वह दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधक न हो। काण्ट ने इसका प्रतिपादन इसी प्रकार से किया है और अभी वर्तमानकाल में स्पेन्सर ने भी ऐसा ही किया है। परन्तु क्या यह

१. स्वतन्त्रता

मर्यादा उपयुक्त है? स्वातन्त्र्य नियन्त्रण के कई ढंग हो सकते हैं परन्तु वे दूसरों को दिये गए अधिकारों या कार्य-स्वातन्त्र्य के अनुरूप ही होते हैं।

'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाले सिद्धान्त पर हमी अमल कर सकते हैं और उद्योगों में अहस्तक्षेप की अवधारणा इसी सिद्धान्त का एक सीमित प्रयोग है और स्वतन्त्रता का वास्तविक सीमा-निर्धारण तो सामान्य-हित के प्रसंग में है। आइयों में कार्य-स्वातन्त्र्य सीमित होता है। यह केवल इसीलिए ही नहीं कि दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधा न पहुँचे वरन् इसलिए भी कि किसी के हित में रुकावट न पड़े। यदि मानवीय भ्रातृत्व की अवधारणा में कोई वास्तविकता है तो ऐसी ही मर्यादाएँ विशाल समाज के लिए भी लागू होंगी। यह सन्देहास्पद है कि स्वतन्त्रता के विशेष रूपों के लिए कोई संतोषजनक आधार सिवाय इसके कि इससे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक है दिया जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह कहते हैं कि वे ऐसे अधिकार हैं जिनके साथ उनके संवादी आवश्य रहते हैं। उदाहरणस्वरूप सभ्य-समाज के लिए बोलने की स्वतन्त्रता का दावा किया जाता है यह उचित भी है क्योंकि उस पर रोक लगाना एक बाधा होगी और कुछ बातों के प्रति वे विचार छिपे रह जाएँगे जिनका प्रकट होना ही अच्छा है। परन्तु यह बात तभी सही हो सकती है जब लोग बोलने के सम्बन्ध में आत्म-संयम के एक विशेष स्तर तक पहुँच गए हों परन्तु युद्ध-काल-जैसी परिस्थितियों में यह बात सही नहीं होगी, अर्थात् उस समय बोलने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। वैसे शान्ति के समय में भी बोलने की पूर्ण स्वतन्त्रता पर कुछ रुकावट होनी ही चाहिए। डॉ० जानसन ने कहा है कि प्रत्येक आदमी जो कुछ सोचता है वह कहने का उसे अधिकार है, परन्तु दूसरों को भी उस बात के खण्डन का पूरा अधिकार है। परन्तु यह सामाजिक व्यवस्था और भ्रातृत्व की भावना के लिए सहायक नहीं। यह कहना ठीक प्रतीत होता है कि सामान्यतः सरल अभिव्यक्ति अथवा सादे ढंग से किसी बात को कहने से किसी को नुकसान नहीं होता परन्तु इस प्रकार की अभिव्यक्तियों का नियन्त्रण (साहित्यिक कार्यों पर सेन्सर) सरकारी अधिकारियों के हाथों सौंप देना अथवा कानून द्वारा यह निर्णय करने की कोशिश करना कि किस तरह के विचार व्यक्त किये जाएँ आदि बातों से महत्त्वपूर्ण प्रसंगों अथवा साहित्यिक-कला के मूल्यवान् रूपों का अविर्भाव होगा। परन्तु शान्ति-काल में भी कुछ मर्यादाएँ निर्धारित करना अच्छा रहेगा। यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य को बिना पुष्ट प्रमाण के झूठा अथवा हत्यारा कहे। इस बात की भी आज्ञा नहीं दी जा सकती कि कोई मनुष्य अनावश्यक आघातक तरीके से अथवा घर की छत से चिल्ला चिल्ला कर अपनी राय जाहिर करे। परन्तु ऐसे मामलों में यह निश्चय करना कठिन है कि किस मात्रा तक आघातक ढंग और उसके औचित्य पर रोक लगायी जाए। परन्तु इस प्रकार की मर्यादाएँ कानूनी नियन्त्रण की अपेक्षा नैतिक नियन्त्रण के रूप में अच्छी समझी जानी चाहिए कम-से-कम ऐसे समाज में जहाँ लोग

आत्म-संयम जानते हैं। परन्तु अब इस सम्बन्ध में अधिक विस्तारपूर्वक कहने की आवश्यकता नहीं।

सामान्यतः यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वतन्त्रता का बाधा भ्रातृत्व के सिद्धान्त में निहित है। जो लोग एक दूसरे का आदर-सत्कार करते हैं, वे एक दूसरे के कार्यों में पर्याप्त कारण के बिना बाधा नहीं डालेंगे। परन्तु कुछ ऐसी बातें भी होती हैं जिनके लिए ऐसे पर्याप्त कारण प्रस्तुत करने पड़ते हैं जैसे जब यह स्पष्ट हो जाता कि स्वतन्त्रता का कोई विशेष रूप सामान्य-हित का बाधक होगा। पर प्रचुर प्रमाणों के विश्लेषण के बिना किसी बात को अनुचित बताना किसी विशेष गतिविधि को रोकने का प्रयत्न करने वाले व्यक्ति के लिए प्रमाणों का भार-वहन करने के सिवाय कुछ नहीं होता।[1]

स्वतन्त्रता की अवधारणा भ्रातृत्व को अभिजात्य आदर्शों में परिवर्तित करने वाली कही जा सकती है क्योंकि ज्यों-ज्यों लोग अधिक-से-अधिक स्वतन्त्र होते जाते हैं वे अपने उत्कर्ष और हीनता को अधिकाधिक

७ व्यक्तिगत विकास

प्रदर्शित करते हैं। और सामान्यतः जो लोग किसी भी पहलू में उत्कृष्ट (विशेषतः प्रमुख और शक्तिशाली पहलू में) होते हैं वे अपने से हीन लोगों पर प्रभुत्व जमा लेते हैं। अभिजात्य आदर्शों की उत्पत्ति भी इसी मान्यता से होती है कि उत्कृष्टता को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। यह बात भ्रातृत्व की भावना के विरुद्ध नहीं है यद्यपि अरस्तू ने कहा है कि जब स्पष्ट रूप से असमता होती है, तो वास्तविक मैत्री होना बड़ा कठिन है। यह भी असम्भव नहीं है कि जब तक मानव-जाति में वास्तविक रूप में असमता रहेगी तब तक कोई भी मानवीय भ्रातृत्व ऐसी असमताओं से भरा रहेगा और सभी पहलुओं में शक्तिशाली लोगों का प्रभुत्व रहेगा। ऐसी मान्यता अभिजात्य समाज के लिए आवश्यक नहीं है परन्तु प्रायः ऐसा होता रहा है विशेषतः ऐसी परिस्थितियों में अधिक जब श्रेष्ठता के किसी विशेष रूप पर बल दिया जाता रहा हो—जैसे सैन्य-कला में प्रवीणता तथा किसी विशेष ज्ञान को रखना जैसे प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन आदि। विपरीततः यह कहना कि सर्वोत्तम हित सबके लिए सामान्य होता है और सब लोग इसका समान रूप से उपभोग कर सकते हैं। यह इस कथन के साथ संगत नहीं बैठता कि सुन्दरतम वस्तुओं का मूल्यांकन एक लम्बे अभ्यास और अत्यधिक श्रम के बाद ही किया जा सकता है। इस प्रकार प्लेटो द्वारा अनुमोदित अभिजाततन्त्र में इस मान्यता

[1] इस विषय में जे॰ एस॰ मिल की "लिबर्टी" एक पुस्तक सर्वोत्तम सुलभ पुस्तक है। स्पेन्सर की "दि मैन वर्सस दि स्टेट" दृष्टव्य पुस्तक है और इससे यह भी ज्ञात होता है कि जो ... वे इसके अपने प्रतिपादन में अराजकतावादियों के निकट आ गए हैं।

पर आधारित है कि सर्वोत्तम हित उचित रूप से कुछ ही लोगों द्वारा समझा तथा मूल्यांकित किया जा सकता है। और वे ऐसा तभी कर सकते हैं कि जब उन्हें लम्बे काल तक ज्ञान तथा प्रशिक्षण दिया जाए। जो लोग इस तरह अनुशासित नहीं वे प्लेटो के अनुसार किसी बाह्य नियन्त्रण में रहने चाहिएँ। ऐसे विचारों के प्रति प्रमुख आपत्तियाँ इस प्रकार हैं कि (१) उच्चतम मूल्यों का मूल्यांकन करने योग्य और अयोग्य व्यक्तियों में स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता (२) उन लोगों का मूल्यांकन प्रशिक्षण की विशेष-विधि की अनुभूति के अनुसार होता है, और (३) मानव भ्रातृत्व की मान्यता (प्लेटो द्वारा स्वीकृत) स्वयं एक उच्चतम मूल्य है तथा वर्गों का तीव्र भेद उस मान्यता के मार्ग में एक बाधक रुकावट पैदा करता है। परन्तु इस प्रकार की आपत्तियाँ हमें यह मानने से रोक नहीं सकतीं कि कुछ लोग कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं में दूसरे लोगों से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं और प्रत्येक प्रकार की उत्कर्ष-भावना नेतृत्व के स्तरों को जन्म देती है। प्रत्येक जीवन-पथ सभी प्रकार के बुद्धि-जीवियों के लिए खुला होना चाहिए जिससे जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण लक्ष्य योग्यतम तरीके से पूर्ण हो सकें। इस प्रकार से हम योग्यता के आदर्श तक पहुँच सकते हैं जो कि स्वभावतः ही स्वतन्त्र विकास से सम्बन्धित होता है।

जैसा हम पहले कह चुके हैं उससे यह स्पष्ट है कि सुव्यवस्थित-समाज सम्बन्धी अवधारणा दक्षता समता और स्वतन्त्रता के रूप में निहित रहती है। इस प्रकार उसमें अभिजातयतन्त्र तथा लोकतन्त्रात्मक प्रणालियों के तत्त्व विद्यमान रहते हैं। सामान्य हित की प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति को जहाँ तक हो सके

८ दक्षता

उसकी योग्यतानुसार उचित स्थान देकर ही की जा सकती है। वास्तव में यह बात महान् उत्तरदायित्वपूर्ण पदों तथा दूर तक प्रभाव डालने वाली नियुक्तियों के लिए विशेष महत्त्व रखती है। यह सर्वैव स्मरण रखना चाहिए कि दक्षता का तात्पर्य सामान्य-हित सम्बन्धी योग्यता से है। एक शासक अपने कार्यों में दक्ष हो सकता है फिर भी वह मूलतः अपने निजी तथा कुछ व्यक्तियों के स्वार्थों की पूर्ति में प्रयत्नशील हो सकता है। केवल यह कहना जैसा कि कार्लाइल ने कहा कि समर्थ व्यक्ति राजा होना चाहिए सन्तोषजनक अभिव्यक्ति नहीं है। कार्लाइल के विचार कुछ अंशों में योग्यता के विशेष रूपों में अविश्वास तथा योग्यता व अच्छाई के किन्हीं अर्थों के मध्य आधारित हैं। परन्तु कम-से-कम जैसा बेकन ने कहा है कि स्वयं व्यक्ति के लिए प्रज्ञान स्पष्टतः सामुदायिक प्रज्ञान से भिन्न होता है। एक विजय के लिए सेना के नेतृत्व की योग्यता का अर्थ यह नहीं कि विजय का उचित प्रयोग अथवा ऐसा करने की इच्छा उस व्यक्ति में होगी। यह सत्य है कि बड़े और महत्त्वपूर्ण साहसिक कार्यों में विशेषतः

जहाँ तुरन्त निर्णय की आवश्यकता पड़ती है यह अनिवार्य हो जाता है कि सब से योग्यतम व्यक्ति ही नेतृत्व करे और उन्हें काम की पूर्ण स्वतन्त्रता मिले। ऐसी परिस्थितियों में होमर की इस उक्ति को ज़ोरों से प्रयुक्त किया जा सकता है कि 'बहुत-से लोगों का शासन अच्छा नहीं एक को ही मुखिया बनने दो।' परन्तु होमर ने भी यह माना है कि किसी विचार-विनिमय के समय नेता भी अपनी सभा से मार्गदर्शन प्राप्त करे। प्रधान रूप से व्यवस्था-कार्यों के लिए तुरन्त निर्णय कर सकने वाला एक योग्य व्यक्ति अच्छा रहता है। कोम्टे ने विचार विनिमय तथा व्यवस्था-सम्बन्धी कार्यवाही का अन्तर स्पष्ट करने पर विशेष बल दिया है। उनके शिष्य एफ० हैरिसन ने इसे संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया[1] "एक तरफ़ हमें वास्तविक नेतृत्व की आवश्यकता होती है तथा दूसरी ओर मौलिक परामर्श की।" इस प्रकार अभिजाततन्त्र तथा लोकतन्त्र की विशेषताओं का एक समन्वय-सा हो जाता है।

अब हम सामाजिक आदर्श के दो प्रमुख प्रकारों का आलोचनात्मक संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं — (१) शुद्ध लोकतन्त्रात्मक आदर्श समता की अवधारणा पर अत्यधिक बल देता है। इस प्रकार इसमें इस बात की अवहेलना होती है कि प्रत्येक स्थान पर उपयुक्त और योग्य व्यक्ति ही रखे जाएँ। इस प्रकार उसमें रचना और उच्चतम व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता।

१ सामाजिक आदर्श संक्षिप्त रूप में

इसमें चार्ल्स के कथनानुसार सर्वतोमुखी व्यक्तित्व वाले लोगों की इतनी आवश्यकता नहीं अपितु उनकी अपेक्षा सम्पूर्ण जाति का ही विकास करना चाहिए। परन्तु जाति का विकास धीरे-धीरे ही हो सकता है। जाति के विकास में मुख्य तत्त्व उच्चतम योग्यता एवं चरित्र वाले लोगों की उपस्थिति प्रभाव एवं योग्यतानुसार उन्हें स्थान प्रदान करने में है।

(२) दूसरी ओर अभिजाततन्त्र के आदर्श में निम्न कमियाँ हैं—

(क) इसमें कभी इस बात की व्याख्या नहीं की गई कि योग्यतम शासकों को कैसे खोजा जा सकता और उन्हें उचित स्थान पर कैसे रखा जा सकता है। शासन के योग्य सर्वोत्तम व्यक्ति उचित स्थान प्राप्त करने में सदैव समर्थ नहीं होते। अतः प्लेटो को यह कहना पड़ा कि योग्य शासकों को शासन के लिए बाध्य किया जाएगा। अन्तरे के समय कभी-कभी सर्वोत्तम योग्य व्यक्ति जनता की इच्छाओं के विरुद्ध भी उससे आगे बढ़ते जाते हैं परन्तु सदैव यही होता हो ऐसा नहीं माना जा सकता।

---

१ कामेर पवड प्रायम पृ० १४१। सर चार्ल्स ग्रांट रॉबर्टसन की कृतियों किया र सी तथा पैट्रियाटिज्म मैटरनल एण्ड एथर मैटरनल" भूमिका देखिये, श्री ए० एम० द्विवेदी द्वारा प्रकाशित "द रिलिजन ऑफ ह्यूमैनिटी" भी देखें।

(आ) एक योग्य शासक के लिए भी मार्ग-दर्शन और नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। ऐसा नेता दूसरे लोगों से ऊपर उठा हुआ होता है, इसी से यह सिद्ध होता है कि वह जिन लोगों पर शासन करता है उनकी आवश्यकताओं को समझना उसके लिए कठिन होता है। ऐसा तब तक नहीं हो सकता जब तक समाज छोटा न हो और वह अपने नीचे वाले लोगों के साथ निरन्तर संसर्ग न रखे। यह नहीं कहा जा सकता कि योग्यतम शासक भी सभी आवश्यक बातें जानने में समर्थ हो सकता है।

अतः एक मौलिक शासन में अभिजाततन्त्र और लोकतन्त्र दोनों के तत्त्व रहने चाहिएं। इन दोनों का समन्वय किन अर्थों में हो यह समय और स्थान की परिस्थितियों पर आधारित होता है। सामान्यतः शायद यह कहना सत्य हो सकता है कि जब तक जनता शिक्षित और सुसंगठित नहीं होती तब तक उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह सर्वोत्तम और योग्यतम व्यक्ति के संरक्षण में रहे और वह उनका पथ प्रदर्शन करे। जब लोगों में संगठन आ जाता है, उनमें सुव्यवस्थित परम्पराएँ पड़ती हैं और ज्ञान प्राप्त होता है, तब उनके संविधान में एक लोकतन्त्रात्मक तत्त्व बढ़ने और विकसित होने लगते हैं।

कम्पनेला तथा अधिकतर बेलेमी, विलियम मौरिस और एच. जी. वेल्स के रामराज्य अर्थात् एक पूर्ण सामाजिक-संगठन की काल्पनिक स्थिति की रूपरेखा खींचने के प्रयास संभवतः मानव-जीवन के सही विचार व सही दिशा की भविष्य-वाणी के अभाव से ग्रस्त हैं। उनकी जब एक-दूसरे के साथ तुलना की गई तो वे अधिकतर शिक्षात्मक पाये गए और उनमें ऐतिहासिक रुचि की बातें हैं। वे किसी विशेष समय में विद्यमान किसी सामाजिक व्यवस्था के दोषों की ओर संकेत करते हैं तथा उन दोषों को दूर करने की विधियाँ बतलाते हैं।[1] अतः इन्हें प्लेटो के 'रिपब्लिक' की तरह अधिक मूल्यवान तभी कहा जा सकता है जब शुद्ध रामराज्य-सम्बन्धी न मानकर अपेक्षाकृत किसी सामाजिक ढाँचे का सुन्दर अध्ययन तथा उस समाज के संगठन एवं कमजोरी के तत्त्व को प्रस्तुत करने का एक निश्चित साधन समझ लिया जाए। प्लेटो का 'रिपब्लिक' एथेन्स तथा स्पार्टा

१ यही नहीं, इस प्रकार कुछ प्रभावशाली ढंग से कुछ काल्पनिक-समाजों के व्यंग्यात्मक-चित्रों के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के लिए रेबेलेस तथा स्विफ्ट को ले सकते हैं, अथवा आधुनिक समय में सैम्युअल बटलर का 'एरवौन' तथा एम. अनातोले फ्रांस का 'पेंगुइन आइलैण्ड' को लिया जा सकता है। एक वास्तविक रूप से छोटे आदर्श-समाज को स्थापित करने के लिए सी. नोरडोफ की पुस्तक 'दि कम्युनिस्टी सोसाइटीज आफ युनाइटेड स्टेट्स' तथा एच. जे. नोयेस द्वारा लिखित 'हिस्ट्री आफ अमेरिकन सोशलिज्म' का इस दृष्टिकोण से अधिक महत्त्व है। डा. मेरी होपकिन्स द्वारा लिखित पुस्तक "सोशियोलाजी एप्लाइड टू प्रैक्टिकल पालिटिक्स" पृ. ९, अ. १ में कुछ अच्छे संकेत हैं।

के समाज के अध्ययन पर आधारित है। यह इन दोनों के सुन्दरतम अंशों का एक अच्छा समन्वय है। इसके साथ ही इस समन्वय की छाया में कुछ विशेष सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं। इस प्रकार का अध्ययन हम पहले ही एक ऐसा मार्ग दिखाने में समर्थ हो सकता है जिसके लिए पूर्ण मानव जाति आशाएँ लगाए बैठी है।

किसी विशेष समाज के संगठन की सर्वोत्तम विधि के विचार में सर्वाधिक कठिनाई दूसरे समाजों के साथ सम्बन्ध प्रदर्शित करने में पड़ती है। यह सम्बन्ध मित्रता तथा शत्रुता के तरीकों से प्रभावित होना बहुत कुछ संभावित है। इन विचारों पर हम आगामी अध्यायों में प्रकाश डालेंगे।

तृतीय खण्ड

विश्व-व्यवस्था

प्रथम अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय-सम्बन्ध

१ सामान्य कथन

अभी तक हमने प्रधान रूप से ऐसे पृथक अथवा स्वतन्त्र समुदायों के विधान पर ही विचार किया है जो स्वयं ही अपने आन्तरिक सम्बन्धों और बाह्य-सुरक्षा की व्यवस्था करते हैं। सामान्यतः सामाजिक तथा राजनीतिक-सिद्धान्तों के लेखकों में इस तरह के विचारों तक सीमित रहने की प्रवृत्ति रही है। उदाहरण के लिए प्लेटो ने यह माना है कि उसका विशिष्ट आदर्श समाज स्वयं में पूर्ण एवं आत्म निर्भर होगा। इसके अतिरिक्त उसके सम्बन्ध ग्रीक-समुदायों के साथ कुछ पहलू में आस-पास के बर्बर लोगों की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ रहेंगे। वास्तव में यह उसकी एक प्राकृतिक मान्यता थी। उसके आदर्श निराधार नहीं थे अपितु वह अपने चिरपरिचित व वास्तविक नगर-राज्यों की समस्याओं का विश्लेषण कर रहा था। बाद के लेखकों ने भी निःसन्देह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर काफ़ी प्रकाश डाला है किन्तु यह कहना कदाचित् ही सत्य होगा कि ऐसे सम्बन्धों पर पर्याप्त बल दिया गया है।[1]

इससे यह स्पष्ट है कि आधुनिक राज्य आत्म-निर्भर नहीं हैं परन्तु वे अपने उन सम्बन्धों द्वारा जिनसे उनके अस्तित्व पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है विशाल-समुदाय का निर्माण करते हैं। आधुनिक विशाल राज्य साधारणतः पृथक-पृथक देशों के समन्वय से बनते हैं। कभी-कभी वे पारस्परिक दबावों अथवा तत्कालिक आवश्यकताओं के कारण संयुक्त हो जाते हैं और अपनी एक सर्वमान्य सरकार होते हुए भी वे कुछ अंशों में पृथक् राष्ट्र बने रहते हैं। राजनीतिक दृष्टि से किसी विशाल राज्य में सम्मिलित ऐसे देशों का सम्बन्ध अन्य देशों के साथ अपने आपसी सम्बन्ध की तरह घनिष्ठ न हो ऐसी बात नहीं है। स्कॉटलैण्ड के ब्रिटेन के साथ पूर्णतः संयुक्त हो जाने पर भी उसके फ्रांस के साथ अपना

१. इस विषय पर लोगों के मत निःसन्देह, प्रमुख रूप में वैयक्तिक पक्षपात से ग्रस्त हैं। मुझे यह स्वीकार ही करना है कि मैं सदैव किसी विशेष राष्ट्रीयता में बोध रूप की अपेक्षा वसुधैव-कुटुम्बकम् में विश्वास करता हूँ।

सम्बन्ध उसी तरह चालू रखा। आयरलैण्ड ने भी संयुक्त राज्य अमेरिका से प्रचुर मात्रा में व्यवहार चालू रखा। वेल्स ने भी चिरकाल तक ब्रिटेनी से अपने घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रखे। स्वयं इंगलैण्ड भी अभी कुछ समय पहले तक जर्मनी से काफ़ी प्रभावित रहा तथा यह प्रभाव काफ़ी मात्रा में हितकर भी रहा और अहितकर भी। पोल जाति रूस जर्मनी और आस्ट्रिया में विभाजित रही है फिर भी उसमें अपनी राष्ट्रीय प्रेरणाएँ विद्यमान हैं। यहूदी लोगों को जब तक सहिष्णुता का बर्ताव मिलता रहता है तब तक वे उन राज्यों के जिनकी सीमाओं में वे रहते हैं अच्छे नागरिक बने रहते हैं किन्तु फिर भी वे अपनी कुछ सामान्य प्रथाओं से परस्पर बँधे हुए हैं। लगभग सभी यूरोपीय राष्ट्रों में ऐसे लोग प्रचुर मात्रा में मिलेंगे जो देश-विशेष की संस्थाओं और प्रथाओं के प्रति विशेष निष्ठा रखने की अपेक्षा अपने आपको एक अच्छा यूरोपवासी समझना पसन्द करते हैं इनमें से कुछ लोगों की प्रवृत्ति विशाल विश्व-बन्धुत्व की ओर अधिक रही है। पर यह निर्णय करना अतिकठिन है कि किन अंशों में पाश्चात्य सभ्यता रोम ग्रीस तथा ज्यूडा सभ्यता पर आधारित रही है। ऐसे अनेकों उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनसे यह मान्यता खण्डित की जा सके कि किसी भी राष्ट्र का जीवन पूर्ण सजातीय स्वतन्त्र एवं आत्म निर्भर है। अत एक सुव्यवस्थित समुदाय की सामान्य क्रियाओं के साथ अन्य समुदायों के प्रभाव की प्रमुख विधियों पर भी विचार करना अत्यधिक महत्त्व का विषय है।

यदि मानवीय भ्रातृत्व की अवधारणा में कुछ भी सत्य है तो यह स्पष्ट है कि सभी राष्ट्रीयताओं के लिए नैतिक आधार सामान्य समझे जाने चाहिएँ।

७ अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता

वास्तव में मानव प्रकृति के सभी बोधगम्य विचारों को भी ऐसा ही समझा जाना चाहिए। यहाँ नैतिकता के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या करना यद्यपि अपने क्षेत्र से बाहर की बात है फिर भी चाहे हम यह मान लें कि नैतिकता आनन्द की वृद्धि अथवा पूर्णता में है अथवा चाहे हम यह मान लें कि यह अन्तःप्रज्ञा की चेतना अथवा विवेक के निर्णय में है परन्तु इसमें दो मत नहीं हैं कि यह मानवता की तात्त्विक समानता में निवास करती है। किन्तु यह फिर भी स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रत्येक सिद्धान्त अर्थात् नैतिक विचार मनुष्य जाति के व्यावहारिक पक्ष में तथा अपने सैद्धान्तिक पक्ष में नितान्त संगत नहीं बैठते और वे समय-समय पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर तथा एक व्यक्ति के साथ ही कुछ परिवर्तित अवश्य होते हैं। कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अपने विशेष कर्त्तव्यों तथा विशेष गुणों का अधिक मूल्यांकन करते तथा उनका अधिक प्रमाण रूप से व्यवहार एवं विकास करते हैं। कुछ लोग उत्साह को कुछ स्वभाव अथवा आत्म-संयम को कुछ लोग सत्य को, कुछ लोग स्वामि-

भक्ति को तो कुछ परोपकार को कुछ उद्योग को, कुछ ज्ञान अथवा बुद्धि के अनुशीलन को तो कुछ लोग इच्छाओं के दमन को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। परन्तु वे लोग जो किसी विशेष श्रेष्ठ प्रणाली के प्रशंसक एवं प्रचारक होते हैं दूसरों द्वारा अनुमृत प्रणालियों की श्रेष्ठता से भी इन्कार नहीं करते। कभी कभी यह कहा जाता है कि प्रत्येक जाति की अपनी एक विशेष सभ्यता होती है अथवा जैसे जर्मन लोग अपनी एक विशेष कल्टर मानते हैं तथा उसके साथ अनेकों नैतिक पद्धतियों का सम्बन्ध भी है। यह एक पूरे राष्ट्र का काम है कि वह अपनी सामूहिक शक्ति द्वारा अपनी विशेष प्रकार की सभ्यता की रक्षा और विकास करे। कुछ लोग जो इस विचार को अतिरंजित करके प्रतिपादित करते हैं। उनके अनुसार किसी राज्य के व्यक्तियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे अपने कतिपय कर्तव्यों का पालन करें तथा अपने कुछ गुणों का विकास करें। परन्तु राज्य का इस प्रकार का कोई कर्तव्य नहीं सिवाय इसके कि वह अपने अन्दर निहित विशेष जीवन-पद्धतियों का पोषण रक्षण एवं विकास करे। उनकी अवधारणा है कि कोई कार्य चाहे कितना ही आपत्तिजनक क्यों न हो राज्य उसे अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए न्यायोचित रूप से कर सकता है। ऐसी आवश्यकताओं के अवसर पर कानून का कोई महत्त्व नहीं रखता/रहता। अन्य कोई भी सिद्धान्त ऐसा नहीं है जिसके द्वारा वैधानिक रूप से इसका प्रतिरोध किया जा सके। ऐसे ही एक दृष्टिकोण का उस सिद्धान्त के साथ स्पष्टतः घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसकी ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है और जिसके अनुसार राज्य आवश्यक रूप में एक शक्ति माना गया है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन और प्रयोग जिस विधि से किया गया है, उसकी तरफ राज्य के सिद्धान्त पर कुछ जर्मन लेखकों के बारे में हम संकेत कर चुके हैं और उनमें से भी एच॰ वॉन ड्रीट्स्की/ट्रीट्स्की का उल्लेख विशेष रूप में किया गया है। जर्मन सिद्धान्त का प्रतिपादन इतने व्यापक रूप से किया है कि इसे 'जर्मन-सिद्धान्त' नाम देना किसी भी रूप में अनुचित न होगा। किन्तु वास्तव में यह जर्मनी की ही विशेषता नहीं है क्योंकि कुछ अंशों में अन्य देशों द्वारा भी यह सिद्धान्त-रूप में स्वीकृत किया गया है और शायद उससे भी अधिक कार्य-रूप में भी परिणत किया गया है।[1] कुछ जर्मन लेखक भी—विशेषतः कान्ट और मैं सोचता हूँ कि पॉलसन भी इसमें योग देने से दूर ही रहे हैं।[2] परन्तु इसका

१. उदाहरणस्वरूप डी॰ ए॰ राउसन द्वारा रचित 'डेमोक्रेसी इन्टरनेशनल गवर्नमेंट' पृ॰ १४८ और लॉर्ड एक्टन की इन्ट्रोडक्शन टु मेकियावेलीज प्रिंस पृ॰ ३९ एवं २८ से ४२ का उल्लेख किया जा सकता है।

२. जिन लोगों ने इसमें योग दिया है वे लगभग सभी इसके प्रयोग में शर्तें रखते हैं। कान्ट और पालसन को अतिवादी नहीं कहा जा सकता और ट्रीट्स्की को भी ऐसा नहीं कहा जा सकता।

सफल प्रयोग फ्रेडरिक महान् और बिस्मार्क ने किया है तथा इसका विस्तृत प्रतिपादन ट्रेटश्की तथा अन्य लोगों द्वारा हुआ। इससे इसका आधुनिक प्रक्रिया में तो अधिकार जम ही गया है, यहाँ तक कि सारे जर्मनी में भी इसका इतना अधिकार जम गया है कि जितना पहले किसी काल अथवा देश में ऐसा नहीं हो सका था। इस सिद्धान्त की यहाँ पूर्णतः व्याख्या तो नहीं की जा सकती पर थोड़ा-बहुत संकेत कर देना लाभदायक और सामयिक होगा। इसका उल्लेख करना इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि आमतौर पर लोग इसे वर्तमान यूरोपीय महायुद्ध (प्रथम) के प्रमुख कारणों में से एक तथा कुछ लोग इसे निश्चित मूल कारण के रूप में भी समझते हैं।

यह पहले बता चुके हैं कि शक्ति को राज्य का मूल तत्त्व मान लेना गलत है। परन्तु यह भी स्वीकार कर चुके हैं कि शक्ति होना राज्य की एक मात्र स्पष्ट विशेषता है। इस शक्ति का प्रयोग जीवन तथा तत्सम्बन्धी सभी मूल्यवान वस्तुओं के लिए किया जाता है यह बात स्पष्ट है। और जो बात स्पष्ट नहीं है वह यह है कि क्या प्रत्येक दूसरे कर्त्तव्य के सामने विरोध उत्पन्न हो जाने पर शक्ति का प्रयोग वैधानिक रूप से किया जा सकता है? यह स्वीकार किया जा सकता है कि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी आती हैं जब हमारे सामने वाला उद्देश्य इतना महत्त्वपूर्ण हो जाए कि उसके आगे अन्य विचार नगण्य रह जाएँ। यदि हम किसी एक देश की सभ्यता को उत्कृष्ट और अद्वितीय समझें और यह चाहें कि उस देश की सभ्यता को प्रत्यक्ष विश्व-हित की दृष्टि से समस्त संसार पर समान रूप से थोप दिया जाए चाहे उसके लिए फिर बल का प्रयोग ही क्यों न करना पड़े तो इसके मार्ग में बाधा बनकर आने वाली किसी भी अड़चन का उल्लंघन करना अति कठिन होगा। अतीत में कुछ जातियों का ऐसी धारणाओं के आधार पर कार्यान्वित किये जाने का उल्लेख मिलता है। प्राचीन काल में कदाचित् यहूदी लोगों की ऐसी धारणा थी कि पड़ोसियों से किया गया हिंसा-पूर्ण व्यवहार उनके परम धार्मिक-मूल्यों तथा सम्बद्ध प्रथाओं द्वारा उचित माना गया है। मुसलमानों का विश्वास भी कुछ इसी तरह का था। वास्तव में लगभग सभी प्रकार के धार्मिक-युद्धों की तह में इस प्रकार की धारणा मिलेगी। इसी प्रकार रोमन लोगों का भी यह दावा था जिसे पूर्णतः विवेक रहित भी नहीं कहा जा सकता कि उनकी सरकार और उनकी कानून-पद्धति सर्वश्रेष्ठ है। अपने इसी विश्वास के आधार पर वे लोग सोचते थे कि रोमन साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार करना उनका वैध उद्देश्य है। सिकन्दर महान् का कदाचित् यह विश्वास था कि वह ग्रीक सभ्यता के सुन्दरतम रूप को असभ्य लोगों में फैला रहा है तथा नेपोलियन भी फ्रांस की क्रान्ति के मानवीय-सिद्धान्तों की स्थापना के लिए निकला था

पड़ता था। अनेकों आधुनिक राष्ट्र भी अपने आपको दूसरों पर राज्य करने का अधिकारी मानते हैं। और अपने इस अधिकार को वे श्वेत लोगों के उत्तर दायित्व' के नाम से पुकारते हैं। अब यह अवश्य ही विचारणीय बात है कि यदि इस तरह के उद्देश्य एकमात्र हिंसा से भी सफलतापूर्वक उपलब्ध किये जा सकते हों और अन्य किसी विधि के द्वारा प्राप्त नहीं किये जा सकें तो उनकी सफलता के लिए कितनी भी हिंसा न्यायोचित ठहराई जा सकती है। इसी तरह यदि कोई एक व्यक्ति इस विश्व के सारे लोगों से इतना अधिक बुद्धिमान और अच्छा हो कि उसके एक-छत्र शासक बनने से समग्र विश्व को लाभ होगा तो उस पद को प्राप्त करने के लिए उसके द्वारा काम में लिये गए किसी भी साधन को उचित समझा जा सकता है। परन्तु इस तरह का तर्क उपस्थित करने का अर्थ मानव-जीवन की वास्तविक स्थिति की अवहेलना करना ही होगा। किसी भी युग में किसी एक राष्ट्र अथवा किसी एक व्यक्ति को दूसरों की अपेक्षा इतना श्रेष्ठ मान लेना कि उसका कोई भी कार्य न्यायोचित ठहराया जा सके मूर्खतापूर्ण ही होगा। और ज्यों-ज्यों विश्व की सामान्य सभ्यता अधिक विकास करती जाती है वैसे-वैसे ही ऐसी प्रवृत्तियाँ अधिक मूर्खतापूर्ण सिद्ध होती जाती हैं। कम-से-कम आज के विश्व में किसी राष्ट्र की सभ्यता अथवा किसी एक व्यक्ति की श्रेष्ठता हिंसा के साधन को अपनाये बिना भी अनिवार्यतः दूसरों में एक व्यापक पैमाने पर फैलाई जा सकती है। और जब वे प्रत्यक्ष रूप से लाभदायक सिद्ध होती हैं तो उन्हें हमारे विचार-सम्बन्ध के साधन एक दूसरे के पास तीव्रता से ले जाते हैं और कहीं-कहीं तो उन्हें उतनी ही तीव्र गति के साथ अपना भी लिया जाता है। निस्सन्देह कभी-कभी उसका प्रयोग कुछ निहित-स्वार्थों के कारण तथा कुछ स्वार्थी लोगों या वर्गों की शक्ति द्वारा रोका जाता है और उनके विरोध में कुछ शक्ति का प्रयोग भी किया जाता है, परन्तु इस शक्ति का प्रयोग अपने उद्देश्य के रस के अनुसार सीमित ही हो। यह कहना उचित नहीं होगा कि वह शक्ति जो कानून नहीं जानती अनुचित नहीं है। उदाहरण के लिए सुन्दर विचारों का प्रसार क्रूर विधियों से नहीं किया जा सकता। इस विश्व में जहाँ लोग इतनी स्वतन्त्रता से एक-दूसरे के साथ मिल-जुल सकते। और इतनी आसानी से एक-दूसरे को समझ सकते हैं वहाँ यदि एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र पर अपनी सभ्यता को बिना किसी प्रतिबन्ध अथवा दबाव के थोपना चाहे तो उसे मानव-जाति का उपकारी नहीं अपितु शत्रु समझा जाना चाहिए। यदि उसकी श्रेष्ठता को सत्य ही मान लिया जाए तो भी वह यह निश्चित करने का एकाधिकारी नहीं कि उसकी सभ्यता दूसरों की अपेक्षा पूर्णरूप से श्रेष्ठ है। वास्तव में इस प्रकार का कोई भी दावा स्पष्ट रूप में उन सामान्य सिद्धान्तों के

विरुद्ध पड़ता है जिसमें यह कहा गया है कि प्रत्येक राज्य अपनी सभ्यता के विकास और उसकी रक्षा करने का पूर्ण अधिकारी है। निस्सन्देह यह स्वीकार किया जा सकता है कि कुछ परिस्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमें कोई राज्य अपने अधिकारों को उनसे सम्बन्धित कर्तव्यों की पूर्ति के अभाव में खो बैठता है। यदि किसी ऐसे राज्य की सरकार इतनी दुष्ट और अन्यायी हो कि उसे ठीक अर्थों में राज्य ही नहीं कहा जा सके तो ऐसी स्थिति में यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अन्य राज्य उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार रखते हैं और आवश्यकता पड़ने पर वे व्यवस्था-स्थापन के लिए शक्ति का भी प्रयोग कर सकते हैं। किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वैधानिक रूप से ऐसा करने के लिए उचित परिस्थितियों का निर्णय करना भी सरल नहीं है। यह भी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में से एक है जिसका कुछ उल्लेख आगे किया जायगा।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि राज्य अपने सामूहिक कार्यों में जिन नैतिक सिद्धान्तों से निर्दिष्ट होता है उन सिद्धान्तों को स्वायत्त-व्यक्तियों पर शासन करने वाले सिद्धान्तों के बिल्कुल समान नहीं कहा जा सकता। व्यक्तियों के कर्तव्य भी उनकी परिस्थिति एवं कार्यों के अनुसार बदलते रहते हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति जो दूसरों के प्रतिनिधि के रूप में काम कर रहा है उस पर लागू होने वाली शर्तों को स्वतन्त्र रूप से अपना स्वयं का काम करने वाले व्यक्ति पर लागू नहीं किया जा सकता। यही सिद्धान्त हम लोगों की ओर से प्रतिनिधि के रूप में काम करने वाली सरकार पर भी लागू होता है। पर इस तरह के भेदों पर विस्तृत विचार हमें व्यावहारिक नीतिशास्त्र की सुदूर सीमा में ले जा पटकेगा। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इन भेदों को दी जाने वाली मान्यता नैतिक सिद्धान्तों की प्रामाणिकता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होगा। कर्तव्य बदलते हैं परन्तु इस तरह वे कर्तव्य कर्तव्य नहीं रह जाते। सामान्य मानवीय-हित की अवधारणा ही सर्वत्र परम-निर्देशक सिद्धान्त मानी जाएगी।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की वास्तविक कठिनाई नैतिकता के सम्बन्ध में नहीं वरन् कानून के सम्बन्ध में है। नैतिक नियमों का व्यक्तियों पर और उससे भी

अधिक समूहों पर लागू किया जाना तब कठिन होता

१ अन्तर्राष्ट्रीय कानून है जब उन नियमों को वैधानिक परिणति और उचित

स्वीकृतियों का समर्थन प्राप्त नहीं होता। अतः अन्तर्रा

ष्ट्रीय नियमों को एक समन्वयात्मक आकार[१] देने को जो प्रयास किये गए हैं

---

१. अब तक के कार्य का विवरण डब्लू. ई. हाल महोदय के इन्टर नेशनल लॉ पाँचवाँ संस्करण (संपादक जी. डी. ए. पीयर्स हीगिन्स) में देखें। श्री डब्लू. ए. फिलिप्स महोदय की "दि कान्फेडेरेशन आफ यूरोप" भी देखिये।

उन्हें बिल्कुल ही असफलतापूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस कार्य में हेग में आयोजित कांग्रेस ने महान चेष्टा की है। व्यक्तियों के व्यवहार की अपेक्षा राज्य के व्यवहार के लिए उचित कानूनों का निर्माण करना उतना कठिन नहीं है, उससे कहीं अधिक कठिन उनको लागू करना है। फिर जो लोग यह कहते हैं कि राज्य मूलतः एक शक्ति है वे यदि वैधानिक रूप से बाध्य न हों तो स्वाभाविक रूप से अवश्य ही यह विचारने के लिए प्रवृत्त होंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय समझौते पर्याप्त स्वीकृति या सहमति के बिना केवल रद्दी कागज के टुकड़े हैं। स्वतन्त्र व्यक्तियों के कार्यों को लेकर अनेक लोग यह सोचने को उद्यत हो सकते हैं कि कानूनों में तब तक कुछ भी वास्तविक बल नहीं होता जब तक उनके पीछे शक्ति न हो। फिर सभी कानूनों के पीछे शक्ति की मान्यता अन्तिम रूप से उनके अधिकार की मान्यता पर आधारित होती है। एक शक्तिशाली से शक्तिशाली बादशाह भी अपनी आज्ञाओं का तब तक पालन नहीं करा सकता जब तक उन आज्ञाओं के अधिकार को स्वीकार करने वाले लोग उसकी सहायता न करें। यह स्वीकृति अनिच्छापूर्ण हो सकती है जो जबरदस्ती कई तरह के हथकण्डों और प्रलोभनों द्वारा प्राप्त की जा सकती है किन्तु उसे केवल शक्ति के द्वारा ही प्राप्त करना बड़ा कठिन है। परन्तु राष्ट्रों में जब तक परस्पर किसी कानून की शक्ति को मान्यता नहीं दी जाती तब तक दूसरों को मनवाने का तरीका शक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। कभी-कभी एक सामान्य-धर्म अथवा एक सामान्य भाषा भी या सामान्य प्रथाएँ अथवा सम्बन्ध जो व्यापार या यात्रा के द्वारा स्थापित किए जाते हैं स्थायीभावों का सृजन कर सकते हैं। ऐसे स्थायीभाव आमतौर पर एक राष्ट्र के अन्दर ही मिल सकते हैं जिनके कारण शक्ति का प्रयोग किया जाना अनावश्यक अपवादस्वरूप बन जाता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष और भय ऐसे स्थायीभावों की परिणति को उनके पूर्णतः वर्तमान रहने पर भी कुछ संदिग्ध बना देते हैं। यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि किसी राज्य के अपने कानून के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधिकारों को स्थापित करना ही केवल कठिन न होगा, बल्कि ऐसे कानून के बारे में जिन्हें स्वीकार किया जाना है समझौते पर पहुँचना और भी कठिन होगा। किसी भी राज्य में आमतौर पर एक ऐसा अल्पमत मिल ही जाता है जो किसी कानून की एक खास शर्त के विरोध में हो, तो ऐसे अवसर पर किसी आम निर्णय पर पहुँचने के लिए बहस और समझौते का ही सहारा लेना पड़ता है। स्वतन्त्र राज्य अपने आपको प्रभुत्व-सम्पन्न कहने के आदी होते हैं उनमें से प्रत्येक अपनी स्वयं की प्रथा विशेष रखता है तथा उसके अपने अलग से विचार और अभिव्यक्तियाँ होती हैं। ऐसे राज्यों के पारस्परिक अन्तर को सरलता से समायोजित नहीं किया जा सकता। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून किन्हीं विशेष राज्यों के कानून का

अपेक्षा अपनी रचना में अधिक प्रखर और कम निश्चित रूप में बाध्य करने वाले होते हैं। इस विषय में सुधार की आशा तो की जा सकती है परन्तु उसकी संभावना पर विचार करने से पूर्व राष्ट्रों को बाध्य करने वाली एक उत्कृष्ट विधि—व्यापार—पर कुछ ध्यान देना अच्छा रहेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय-नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय-कानून के तत्त्वों के साथ-साथ अनेकों अन्य प्रभावशाली तत्त्व भी राज्यों के संगठन में योग देते हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध धर्म जाति भाषा सामान्य

४ अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार

संस्कृति के समुदायों तथा उद्योग और वाणिज्य व्यवहार के द्वारा उत्पन्न सम्बन्धों को माना जा सकता है। भाषा का समुदाय तुलनात्मक रूप से विरल होता है। अतः उस पर यहाँ विशेष रूप से विचार करना आवश्यक नहीं। प्राचीन ग्रीस के पृथक्-पृथक् राज्यों के बीच संगठन पैदा करने का यही एक महत्त्वपूर्ण बन्धन था। इसी ने जर्मनी और आस्ट्रिया फ्रांस और बेल्जियम तथा स्विट्जरलैण्ड और अन्य देशों के बीच में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के लिए बहुत बड़ा योग दिया है। इसी ने ब्रिटेन और अमेरिका के सम्बन्धों को वास्तविक रूप से प्रभावित किया है। वर्डसवर्थ के शब्दों में ये दोनों देश "शेक्सपीयर जिस भाषा में बोला उसमें बोलते हैं मिल्टन ने जिस विश्वास और नैतिकता का प्रतिपादन किया उसका प्रतिपादन करते हैं।"[4] जैसा कि हम पहले देख चुके हैं यूरोप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए लैटिन का प्रयोग और बाद में फ्रेंच तथा अंग्रेजी का प्रयोग भी आपस में संपर्क पैदा करने वाला रहा है। जातीय-संगठन भाषा धर्म और सांस्कृतिक प्रभावों के साथ मिलकर कुछ प्रभाव डालने के अतिरिक्त अधिक प्रभावात्मक नहीं रहे हैं। धर्म और सामान्य संस्कृति की व्याख्या बाद में अच्छी तरह से की जाएगी यहाँ तो हमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तक सीमित रहना ही उचित होगा।

इस पहलू का प्रभाव स्पष्ट है तथा आधुनिक काल से तो शायद इसे अधिक अतिरंजित रूप में देखने की प्रवृत्ति भी रही है। कोबन महोदय और उनके मुक्त-व्यापार के सामान्य सिद्धान्त की स्थापना में सहयोगी साथियों ने बहुत बड़ी आशाएँ की कि सम्भव यह सिद्धान्त अहिंसे भावों पर व्यापार-प्रतियोगिता से उत्पन्न ईर्ष्या और संघर्ष को हटाने में बहुत लाभदायक सिद्ध होगा। हर्बर्ट स्पेन्सर ने सामान्य ढंग से सैन्य-शासित और औद्योगिक स्तरों के बीच में उपस्थित वैषम्य पर बहुत अधिक जोर दिया है।[5] उन्होंने एक के कटु विरोध को दूसरे के मैत्रीपूर्ण सहयोग के साथ पृथक् करके दिखाया है। अभी हाल में

४ यह स्पष्ट है कि इस प्रसंग का पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध के बिना कम प्रभावात्मक रहेगा। भाषा की अपेक्षा जीवन विषयक दृष्टिकोण एक अधिक दृढ़ बन्धन स्थापित करता है परन्तु ये दोनों बातें एक साथ भी चलती हैं।

५. 'डाटा आफ एथिक्स' पृ. १८

नारमन एंजिल ने यह प्रतिपादित किया है[1] कि पृथक्-पृथक् राज्यों के आर्थिक स्वातन्त्र्य की सही जानकारी स्वतः ही अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को समाप्त करने में सहायक हो सकेगी। इन सभी वाद-विवादों में कुछ-न-कुछ सत्य अवश्य है, इसे मेरे विचार में कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। परन्तु इस समय यह भी विश्वास नहीं किया जा सकता कि वास्तव में उनमें भी अपना कुछ वजन है। कुछ अंशों में इसका कारण यह भी रहा है कि कोबडन और अन्य लोगों ने स्वतन्त्र-व्यापार से उत्पन्न जिन परिणामों की पहले आशा की थी, सामान्यतः वह वैसी नहीं निकली। पर उससे भी अधिक शायद केवल आर्थिक विचार भी उतने प्रभावशाली दिखाई नहीं पड़े जितने वे समझे जाते थे। कार्ल मार्क्स से प्रभावित कई लेखकों ने इतिहास के आर्थिक विश्लेषण पर लिखते समय उद्योग और वाणिज्य सम्बन्धी पदार्थों को मानव-जीवन में आने वाले आन्दोलनों के आधारभूत विश्लेषण के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रो. मार्शल के साथ यह कहना भी सत्य है[2] कि धर्म के बाद आर्थिक पहलू सबसे अधिक प्रबल पहलू है। परन्तु इसके साथ यह भी कहना पड़ेगा कि जाति, भाषा, विभिन्न लोगों के सामान्य शिष्टाचार और प्रथाएँ (विभिन्न परिस्थितियों पर आधारित) भी कुछ ऐसे पहलू हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। जब तक विभिन्न राज्य अपने-आपको दूसरे प्रकार से भिन्न समझते हैं तब तक आर्थिक लाभ जो राष्ट्रीय-शक्ति का निर्माण करते हैं—जैसे कोयला, लोहा तथा जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं का प्रचुर वितरण—वे सब प्रतियोगिता और विरोध के लिए आधार बन जाते हैं। वे उस एकता की प्रवृत्ति का विरोध करते हैं जिसे आर्थिक प्रभाव अन्यथा प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। जर्मनी के लेखकों ने इस पर विशेष रूप से बल दिया है। स्पेन्सर के इस विवाद के लिए कम-से-कम जर्मनी का उदाहरण अच्छा नहीं है कि सुविकसित उद्योग सैन्य-शक्ति का विरोधी होता है।

इतना सब कुछ कहने पर भी यह सत्य है कि उद्योग और वाणिज्य अन्तर्राष्ट्रीय-संगठन में सहायक होते हैं। जैसा कि कुछ स्पिनोज़ा के इस वाक्य-खण्ड में स्पष्ट है— कुछ आर्थिक पदार्थों के बारे में यह पर्याप्त मात्रा में सत्य है कि वे सब लोगों के लिए सामान्य तथा सब लोग उनका समान उपभोग कर सकते हैं। यद्यपि इसे सभी के लिए तो किसी तरह से भी सत्य नहीं ठहराया जा सकता। और इसी भेद के कारण राज्यों के अन्दर और उनमें आपस में इतनी औद्योगिक खींचतान मची है। कुछ द्रव्यों की अनिश्चित सीमा तक वृद्धि

---

१. 'दि ग्रेट इल्यूजन' एंजिल के कथन की प्रचुर आलोचना की जा सकती है। इस पर तीन प्रकार किये गये उदाहरणों के लिए सबसे अधिक ठोस प्रकार जी॰ जी॰ ब्राउन ने अपनी पुस्तक "दि मेन इल्यूजन आफ पैसिफिज्म" में प्रकट किए हैं।

२. "प्रिंसिपल्स आफ इकॉनॉमिक्स" के आरम्भ में देखिये।

और उनका वितरण सारे विश्व में किया जा सकता है और प्रत्येक के लाभ की दृष्टि से उनका स्वतन्त्र आवागमन भी हो सकता है। कुछ अन्य द्रव्य अपनी राशि में निश्चित रूप से सीमित होते हैं अथवा किसी विशेष प्रदेश तक ही आबद्ध रहते हैं और उन्हें कुछ विशेष लोग अथवा राष्ट्र अपने आर्थिक हित के लिए अपने तक रखते हैं। इसका विस्तृत विवेचन अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र के मसलों पर छोड़ दिया जाना चाहिए। जब तक द्रव्यों का बराबर वितरण होता रहता है तब तक उनका आवागमन मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को बढ़ाता है और कई प्रकार के संगठनों का कारण होता है। लोगों को जिनके साथ वे व्यवहार करते हैं उनकी कुछ भाषा और विचारों को सीखना पड़ता है। उन्हें उनकी व्यापारिक विधियों और उनके संचार के साधन जैसे डाक-तार, और यातायात के साधनों को भी पूर्णतः समझना पड़ता है। यह नियम बहुत कुछ अंशों में अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं इसलिए विभिन्न राष्ट्रों के बीच में स्थित सीमाएँ कृत्रिम दिखाई देने लगती हैं। श्रम भी यद्यपि अन्य वस्तुओं की तरह सरलता से नहीं फिर भी एक देश से दूसरे देश की सीमाओं को पार कर जाता है और अधिकतर देशों की जनसंख्या के कठोर भेद अधिकांश में समाप्त हो जाते हैं। ये सब विषय स्वतः स्पष्ट हैं अतः आगे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

५ युद्ध और शान्ति

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संगठन की स्थापना के विषय में विचार करते समय हमने कुछ कठिनाइयों की ओर संकेत किया था इसके साथ ही आपस में औद्योगिक सम्बन्ध बढ़ने से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बढ़ता है इस विषय पर भी विवेचन किया गया है। यह बात हमें यह मान लेने के लिए बाध्य करती है कि पृथक् पृथक् राज्यों के बीच संघर्ष की संभावना फिर भी रहती है। राज्यों के अन्दर के संघर्षों को सामान्यतः मिटाया अथवा एक सामान्य स्थिति तक शान्त किया जा सकता है। एक सुव्यवस्थित-समुदाय में लोगों के आपसी झगड़ों अथवा छोटे-छोटे सामाजिक समूहों के सभी झगड़ों को कानून की शक्ति द्वारा हल किया जा सकता है। द्वन्द्व-युद्ध और "मारपीट के कानून" अब सभ्य देशों से उठते जा रहे हैं। कुछ स्थानों पर द्वन्द्व-युद्ध अब भी होता है और उसके पक्ष में यह तर्क पेश किया जाता है कि जब "सम्मान" पर आंच आती है और कानून कोई पर्याप्त विधान नहीं कर सकता तब द्वन्द्व-युद्ध आवश्यक होता है। परन्तु अधिकतर लोग यह मानने लगे हैं कि इस तरह की बातें भी हिंसा के प्रयोग की अपेक्षा कानून अथवा मध्यस्थता द्वारा अधिक सुन्दर ढंग से निपटाई जा सकती हैं। औद्योगिक झगड़ों को जिनमें विशाल जन-समुदाय सम्मिलित होता है ढंग से सुलझाना बड़ा कठिन होता है। हड़तालों को कभी-कभी औद्योगिक युद्ध के तुल्य बताया जाता है परन्तु

उनसे वास्तविक रक्तपात कभी मुश्किल से ही होता है, अथवा सम्पत्ति को गम्भीर नुकसान भी बहुत कम हो पाता है तथा ऐसे झगड़ों को प्राय बीच-बचाव से शान्त किया जा सकता है। राज्यों में गृहयुद्ध होना कोई नयी बात नहीं है विशेषतौर से जब राज्यों में विभिन्न राष्ट्र सम्मिलित हों और वे कुछ अंशों में अपनी स्वतन्त्रता का दावा करते हों। परन्तु अधिकतर इस प्रकार के भय तो हमें उन दावों के पीछे वास्तविकता क्या है के विवेचन की ओर ले जाते हैं। और यदि अन्य स्वतन्त्र राज्य इन झगड़ों में न पड़ें तो उनका निपटारा सरलता से किया जा सकता है। सामान्यतः स्वतन्त्र राज्यों को ही हमें वास्तविक लड़ाई के मूल में समझना चाहिए। कभी-कभी तो यह कहा जाता है कि कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनमें युद्ध अनिवार्य हो जाता है क्योंकि प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के ऊपर और कोई ऐसी उच्च शक्ति नहीं होती जिसके प्रति वे उत्तरदायी हो सकें। इस कठिनाई का सामना कैसे किया जा सकता है इस सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे। इस बीच हम कुछ ऐसे तर्कों की ओर भी ध्यान देंगे जो सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य के समर्थन में दिये जाते हैं। उनके अनुसार इस प्रश्न को हल करने के लिए युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई विधि वांछनीय नहीं हो सकती।

यह दृष्टिकोण बहुत कुछ सम्प्रभुता की अवधारणा पर बल दिये जाने पर ही आधारित है। इसके पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि किसी उच्चतर शक्ति को निवेदन करने का मतलब यह होगा कि समुदाय के हित का विकास और रक्षा करने वाले सम्प्रभुता के अधिकार का परित्याग किया जाए। यह निःसन्देह सत्य है पर यह भी प्रश्न उठता है कि क्या किसी राज्य की अन्यतम सम्प्रभुता को उसके अपरिसीमित अर्थ में सुरक्षित रखना वांछनीय हो सकता है? इस प्रश्न पर हम शीघ्र ही विचार करेंगे। यह स्वीकार कर लेने पर भी कि राज्य की सम्प्रभुता की कुछ सीमाओं को निर्धारित करना ठीक है हमें कुछ ऐसे तर्कों का सामना करना पड़ेगा जिनमें कहा जाता है कि अपने समुदाय के हित-साधन के कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न होते हैं जिन्हें कोई भी आत्माभिमानी राज्य किसी अन्य बाह्य-शक्ति को निर्णय देने के लिए समर्पण कर देना उचित नहीं समझेगा। जब किसी एक राज्य का दूसरे राज्य के साथ झगड़ा हो जाए और ऐसी ही समस्या आ खड़ी हो तो यही निर्णय किया जाएगा कि राज्य को पूर्ण अधिकार प्राप्त है और यदि सबल हो तो वह किसी भी मूल्य पर अपने निर्णय की रक्षा करने के लिए बाध्य हो सकता है। कभी-कभी तो ऐसा भी कहा जाता है कि ऐसे विषयों में तो उनकी शक्ति में ही उनके अधिकार निहित होते हैं और उनकी वह शक्ति ही उनकी वैधानिक सीमाओं का निर्णय करती है। इस तरह के विचारों का उस सिद्धान्त के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसका उल्लेख

हम पहले भी कह चुके हैं। राज्य का सार उसकी शक्ति में है, यह नैतिक विचारों का विषय नहीं बन सकती और प्रायः इस प्रकार के सिद्धान्तों में अन्तर प्रदर्शित करना सरल नहीं होता। उन्हें यहाँ पृथक करके देखना आवश्यक नहीं है। यहाँ पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि सेना का प्रयोग राज्य के कार्यों का एक पहलू हो सकता है और उस शक्ति के प्रयोग में नैतिक विचारों द्वारा पथ-प्रदर्शन किया जाना चाहिए। किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि खास अवसरों पर किसी भी समुदाय के हित का ध्यान सर्वोपरि और जो किसी भी वैधानिक कार्य की अपेक्षा अधिक मान्य होता है। ऐसे विषयों में यह कहा जा सकता है कि जनता का कल्याण ही सर्वश्रेष्ठ कानून होता है। राज्य अपने इस परमश्रेष्ठ उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए जो शक्ति रखता है उसे उसका अधिकार ही समझा जाना चाहिए। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी प्रत्यक्ष रूप से वर्तमान वस्तु को पाने का प्रयास करना उचित नहीं कहा जा सकता परन्तु जब किसी काम को करना परम वांछनीय होता है और यदि उसे पूर्ण करने के लिए शक्ति भी प्राप्त होती है तभी उसे करना उचित कहलाता है। राज्य के सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिए कि उसे वे सभी आवश्यक अधिकार प्राप्त हैं जो उसके उच्चतम लक्ष्य की सुरक्षा व विकास के लिए आवश्यक होते हैं। यहाँ मेरा मतलब कार्लाइल और ट्रेटस्की द्वारा अधिकार और शक्ति में सामान्यरूप से जो समानता दिखाई गई है उससे है।[1] परन्तु यह बात स्पष्ट हो जानी आवश्यक है कि एक समाज के कल्याण के लिए क्या-क्या वस्तुएँ आवश्यक होती हैं। इसके साथ ही यदि संभव हो तो क्या यह अधिक अच्छा नहीं रहेगा कि उन्हें प्राप्त करने के लिए दूसरों के विरोध की अपेक्षा उनकी रजामन्दी लेकर प्राप्त कर लिया जाए? कुछ लोग इससे विवाद नहीं करते और कहते हैं कि कम-से-कम कुछ परिस्थितियों में युद्ध स्वयं हितकर होता है। अतः हम यहाँ देखेंगे कि इन लोगों के विचारों का

---

१. कार्लाइल और ट्रेटस्की के नाम को आपस में इस तरह से जोड़ देना उचित प्रतीत नहीं होता। कार्लाइल ने अधिकार को हमेशा आगे रखा है और यह मालूम किया कि इस कार्य का औचित्य ही उसको शक्ति प्रदान करता है। और यदि ऐसा ही मान लिया जाए, जैसा हम भी स्वीकार करते हैं कि अधिकारों की निश्चयपूर्वक जाँच नहीं की जा सकती जबकि शक्ति के बारे में ऐसा किया जा सकता है ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकार ही शक्ति है और शक्ति ही अधिकार है। इन सिद्धान्तों में व्यावहारिक अन्तर यदि कुछ है तो थोड़ा था। प्रो० एम० एम० स्टेवर्ट की पुस्तिका इण्टरनेशनल जरनल आफ एथिक्स जनवरी १९१२ का भाग देखें।

आधार क्या है ?

युद्ध को अच्छा घोषित करने वाले लोगों का उसके समर्थन में यह कहना है कि उससे कुछ ऐसे गुण उत्पन्न होते हैं जो शान्ति के समय में क्षीण हो सकते हैं और अपने प्रभाव में नष्ट हो सकते हैं। युद्ध साहस आत्म-अभिमान मैत्री की भावना तथा सामान्य-हित के प्रति समर्पण को उत्साहित करता है तथा दयालुता, शौर्य और महानता के लिए एक नया क्षेत्र प्रदान करता है। इतना ही नहीं यह भी स्वीकार किया जा सकता है यद्यपि यह भय की बात है कि युद्ध के यथार्थ तनाव और उसकी भयानकता के समय इन उत्तम गुणों में से कुछ को तो एकदम से भुला दिया जाता है।[1] फिर यह भी कहा जाता है कि साहित्य और कला में जो अति महान् है वह संवेगात्मक जीवन की उच्चता पर आधारित होता है। उनका साक्षात्कार केवल महासंकटों और उग्र प्रयासों की उपस्थिति या कल्पना में ही पूर्णरूप से प्राप्त किया जा सकता है। रस्किन को कुछ अंशों में स्वतः ही यह स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा था कि इसमें सत्य का कुछ अंश है। मैं सोचता हूँ कि नीत्से[2] के कथन का विश्लेषण भी इस प्रकार किया जा सकता है कि— एक अच्छे युद्ध में प्रत्येक वस्तु बलिदान या न्योछावर कर दी जाती है। इसमें आत्म-समर्पण की बात मन्द स्वीकृति के रूप में है। इन बातों में कुछ सचित है इसे मुश्किल से ही अस्वीकार किया जा सकता है कि अधम अशुभ कार्यों में भी सर्वत्र ही कुछ अच्छाई की भावना निहित रहती है। इसी परिणामस्वरूप जो लोग युद्ध के उन्मूलन के लिए उत्सुक हैं वे भी इसको नैतिक सम्भावना के रूप में अवश्य स्वीकार करते हैं। संभवतः इसके लिए हमें यह मानना पड़ेगा कि मानव-जीवन निम्न स्तर से विकसित हुआ है और उसी से वह परत

१ इस विषय में युद्ध की तुलना भूकम्प तूफान और अन्य भयानक घटनाओं से की गई है परन्तु अन्तर यह है कि इनमें वहाँ जीवनोचित गुण जीवन की रक्षा करने में काम आते हैं वहाँ युद्ध के समय विनाश के काम आते हैं।

२ "एक अच्छे युद्ध में प्रत्येक वस्तु न्योछावर कर दी जाती है" इस तरह के नीत्से के अपमानजनक कथनों की व्याख्या करना सरल काम नहीं है। इनके अधिकतर शायद गलत अर्थ लगाये गए हैं। परन्तु ऐसे अभिव्यक्ति में भी के उपदेशों जिनका उद्देश्य इस संसार में शान्ति नहीं अपितु आग फैलाना होता है कुछ विलक्षणता होती ही है। नीत्से के युद्ध कथन कुछ थोड़ी-सी भाषा रचना के परिवर्तन के साथ समर्थन के समान ही हैं। इनमें प्रमुख अन्तर पागलपन और उन्माद के अन्तर की तरह है। इस समय अंग्रेजी में नीत्से पर आधिकारिक लेखक कदाचित् एम साल्टर महोदय हैं। या इन्हीं की पुस्तक "फिलॉसफी ऑफ नीत्से" भी देखें। जी० एम ह्यो-मिली ने इसके उपदेशों के अनेक पहलुओं की व्याख्या बड़े सरल व आकर्षक ढंग से की है।

है। हम संघर्ष करके आगे बढ़े हैं अतएव हम सर्वथा संघर्ष-विहीन जीवन के लिए अपने-आपको कैसे समर्पित कर सकते हैं? विरोधों के बावजूद भी मैं प्रयत्न करता हूँ यह एक ऐसी प्रवृत्ति को व्यक्त करता है जो मानव के लिए स्वाभाविक रही है। यदि हम अपने शत्रु के विरोध में लड़ाई नहीं कर रहे हैं तो यह भी दूसरे ढंग से हम एक बड़ी लड़ाई लड़ रहे हैं और दुर्भाग्य से मानव के प्राधान्य को प्रकट करने वाला इसके अतिरिक्त अन्य कोई ढंग भी नहीं है। यह हम उस दूसरे तर्क की ओर ले जाता है जिसके आधार पर युद्ध की आवश्यकता पर बल दिया जाता है।

आधुनिक विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार यह कहा जाता है कि जीवन की उच्चतर श्रेणियों का विकास संघर्ष पर आधारित है जिसमें निम्नतर श्रेणियाँ नष्ट हो जाती हैं और उच्चतर श्रेणियाँ सुरक्षित रह जाती हैं। इसके विरोध में यह भी कहा जाता है कि यह बात अनिवार्य नहीं है कि जो जीवित रह जाती हैं वे उच्चतम ही होती हैं वे तो केवल किसी परिस्थिति-विशेष में अपने-आपको अनुकूल बना लेने वाली होती हैं। यह कहना निश्चय ही बड़ा कठिन है कि प्राचीन ग्रीक राज्यों का अथवा रोमन साम्राज्य का विनाश मानव के हित के लिए हुआ था और जहाँ तक व्यक्ति का सम्बन्ध है युद्धों में अधिकतर सबसे अधिक बलवान् और गुणवान् लोग ही नष्ट होते हैं। फिर यह भी कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे हम जीवन का विकास करते जाते हैं वैसे-वैसे सचेतन चुनाव और प्रभाव के कारण हम ऊँचे-से-ऊँचे स्तर की ओर बढ़ते जाते हैं। स्वास्थ्य शिक्षा जीवन की सुन्दरतम परिस्थितियाँ और उचित समय पर सुजननिकी के सिद्धान्तों के प्रयोग मानव जाति के विकास में योग दे सकते हैं।

इस विषय की पूरी व्याख्या मोल्स वे नोविको ने की है।[1] उनकी प्रमुख विचारधारा यह है कि मानव प्रकृति अपने अस्तित्व के लिए नित संघर्ष पर आधारित है यह प्रकृति की शक्तियों के विरुद्ध होता है पर अपने साथियों के विरुद्ध नहीं। प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष को ही विलियम जेम्स ने युद्ध की नैतिक सम्भावना बताया है।[2] वास्तव में यह सुझाव कुछ अंशों में कार्लाइल को

---

१. प्राकृतिक-शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष पर देखें प्रो. हिमचर की 'डारविनिज़्म एण्ड दैन मॉडस' अस्तित्व के लिए संघर्ष का सही निरूपण पर देखें—प्रो. थामसन मिचेल की पुस्तक 'इवोल्यूशन एण्ड दि वार' विशेषकर अ. १; जी. डी. कास्टन की पुस्तक "मैन एल्यूशन आफ पैसिफिज़्म" विशेषतः पृ. ८९-११४। हक्सले की "इवोल्यूशन एण्ड एथिक्स"; डार्विन महोदय की "डीसेन्ट आफ मैन" भाग १ अ. ५; प्रो. सदरलैंड की पुस्तक "मोरल इवोल्यूशन एण्ड सोशियोलॉजी थ्योरी" अ. १।

[2] मॉरल इक्विवेलेन्ट ऑफ वार देखें।

उद्योगों के मुखिया और श्रमियों के समूह पर बम देते समय पहले ही आभासित हो गया था।[1] आधुनिक काल में औद्योगिक संघर्षों को अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के स्थान पर काम में लाने का सुझाव अधिक आपत्तिजनक है।[2] इसमें भय की बात यह है कि ऐसे झगड़ों में उन उदार भावनाओं का अभाव रहेगा जो बहुधा अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में पाई जाती है। कुछ भी हो इसे हम युद्ध का समप्रभावी नहीं कह सकते अपितु यह एक नये रूप में स्वयं युद्ध होगा।

इस विषय पर यहाँ हम कुछ अधिक नहीं कह सकते। यह स्पष्ट है कि युद्ध स्वयं टिकता नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि यह थोड़े हित परन्तु अधिक अहित का जनक है। इसके तुरन्त उन्मूलन के बारे में सोचना भी बुद्धिमत्ता नहीं है। हमें युद्ध करने के लिए तैयार तो नहीं रहना चाहिए परन्तु उसका सामना करने की तैयारियों की अवहेलना भी नहीं करनी चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि हमें सदैव चमकते हुए हथियारों से सजकर रहना चाहिए परन्तु आने वाले खतरों को पहले भाँप लेने और उनके बारे में कल्पना कर लेने की शक्ति हम में अवश्य होनी चाहिए। हमें खतरों के बीच निहत्थे होकर अँधेरे में सीठी बीच कि झाके नहीं लेने चाहिएँ। यहाँ विश्वास के साथ यह भी कहा जा सकता है कि यदि शान्ति का स्थायी रूप से राज्य हो भी जाता है तो भी वह एक ऐसी शान्ति होगी जिसमें पूर्ण रूप से संघर्ष की अवहेलना नहीं की जा सकेगी। परन्तु वह स्वयं मानवता के उच्चतम लक्ष्य के लिए एक संघर्ष का रूप होगी। "वह एक ऐसी विजय होगी जो युद्ध की अपेक्षा कम अंगयुक्त नहीं होगी तभी हम नीत्शे के सैनिक आदर्शों के स्थान पर दूसरे आदर्श रखने में समर्थ हो सकेंगे। नीत्शे ने जो यह कहा है कि खतरों में रहो और कठोर बनो इससे अधिक शान्ति वाला आदर्श होगा—मजबूती से रहो और आशावादी बनो। जैसे अरस्तू ने कहा है कि 'गुलामों के लिए आराम नहीं है इसी प्रकार हम भयपूर्ण स्वतन्त्रता की अपेक्षा आराम सहित बन्धन को प्राथमिकता नहीं दे सकते। शान्ति और स्वतन्त्रता वहीं सम्भव हो सकती है जहाँ उनकी रक्षा और उनके स्थायित्व के लिए निरन्तर प्रयत्न किए जाते हैं।

यदि हम यह सोचने में सही हैं कि पूर्वोल्लिखित शान्ति हमारा लक्ष्य होगा

---

१. 'पास्ट एण्ड प्रैजेन्ट' तथा "हिरोज़ ऐण्ड हीरो वर्शिप" देखें।
२ श्री एम स्पारेन का सार्वजनिक हड़ताल के बारे में यह दावा है कि हड़तालों ने मज़दूर दल के लोगों में सबसे अधिक उदारता गम्भीरता और स्वामी भावों को जन्म दिया दुर्व्यवस्थित रूप से एकत्रित किया और उन्हें एक-दूसरे के निकट लाकर प्रत्येक को अधिकतम रूप बना दिया गया है। रिफ्लेक्शन्स ऑन वॉयलेन्स (प ४ १ २६७)।

चाहिए, तो हमारे लिए, उसे प्राप्त करने की विधियों का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। स्पष्टत उसे प्राप्त करने में

६. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रगति

अनेकों कठिनाइयाँ हैं। पिछले अध्याय में मैंने उनकी अवहेलना करने की अपेक्षा उनको प्राप्त करने पर अधिक बल दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि इस विषय में कुछ प्रगति की जा सकती है। इस महान् सेवा को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में वृद्धि करके ही किया जा सकता है। इसके लिए पर्याप्त अनुराग आवश्यक है जो बड़े देश ही प्रदान कर सकते हैं। पहले इस प्रकार की शान्ति के लिए लोगों को राष्ट्र-संघ की स्थापना की आवश्यकता पड़ी।[1] परन्तु ऐसी योजना के विरुद्ध भी अनेकों आपत्तियाँ उठ खड़ी होती हैं जो स्वतन्त्र राज्य की सम्प्रभुता में बाधक होती हैं। इन्हें साधारणतः हटाया नहीं जा सकता परन्तु उनके समाधान में यह कहा जा सकता है कि कोई भी सम्प्रभुता निरपेक्ष नहीं होती। एक सम्प्रभु राज्य और एक असम्प्रभु राज्य के अन्तर में केवल सम्बन्धित प्रामाणिकता होती है। एक सम्प्रभु राज्य वह होता है जो किसी एक विशेष शक्ति के अधीन नहीं होता। और कोई ऐसा प्रस्ताव भी नहीं है जिसके द्वारा ऐसी सत्ता एक राष्ट्र-संघ को प्रदान की जा सके, न ही कोई विश्व-संघ कायम करने का विचार-विमर्श चल रहा है। ऐसे किसी भी प्रस्ताव का अर्थ होगा एकमात्र सम्प्रभु-राज्य की स्थापना अन्य सभी राज्य जिसके अधीन होंगे किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह विश्व अभी तक उस परिपक्व अवस्था में नहीं पहुँच सका है और न शायद कभी उस अवस्था में पहुँच ही सकेगा। हाँ अधिक-से-अधिक इतना हो सकता है कि कुछ विभिन्न जाति के लोग अपनी भिन्न भिन्न पद्धतियों के अनुसार विकास करते रहें। परन्तु केवल मात्र किसी श्रेष्ठ राज्य की स्थापना के अलावा ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रभु राज्य भी कुछ बन्धनों को स्वीकार करेंगे। यहाँ तक कि जर्मनी के महान् राज्य को भी अपने अन्दर स्थित कुछ छोटे राज्यों के अधिकारों के कारण कुछ बन्धनों को स्वीकार करना पड़ा था। प्रत्येक सन्धि उन राष्ट्रों की पूर्ण स्वतन्त्रता में कुछ बन्धन अवश्य लगाती है जो राष्ट्र उस पर हस्ताक्षर करते हैं। फिर यह भी स्पष्ट है कि इस प्रकार की कुछ सन्धियों के बिना सुरक्षा रह भी नहीं सकती। यह अवश्य सही बात है कि ऐसी सन्धियाँ

१. इस विषय पर लिखने वाले अनेक लेखकों की रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। शायद उनमें से बहुत-सी रचनाएँ तो जानकारी में रही हैं। श्री डिकिन्सन। दि चॉइस बिफोर अस। श्री सी. डी. बर्न्स: मॉरेलिटी ऑफ नेशन्स। प्रो. मुरीमुरी की 'मिनिस्ट्री ऑफ मोरल पावर' भी उल्लेखनीय है। ग्रीन महोदय की 'प्रिन्सिपल्स ऑफ पोलिटिकल ऑब्लिगेशन्स' १७५ भी देखें। श्री ए. के. ज़िमर्नी की 'डेमोक्रेसी एण्ड वार' अ. १२ भी उल्लेखनीय है।

तब तक बेकार होती है जब तक कि हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र उसके समर्थन के लिए संगठित होने के प्रण को पूरी तरह निभाते नहीं। फिर वर्तमान-काल में कोई भी राष्ट्र अपने मित्र-राष्ट्रों के समर्थन के बिना किसी महान् युद्ध में भाग लेने का विचार तक नहीं कर सकता। ऐसे मित्र राष्ट्रों का एक प्रकार का राष्ट्र-संघ बन जाता है। अतएव अब यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आखिर वे ऐसी कौन-सी परिस्थितियाँ हैं जिनसे ऐसे राष्ट्र-संघों की स्थापना सम्भव होती है ? इस प्रश्न का सामान्य उत्तर यही होगा कि कुछ राज्यों के अपने सामान्य हित उसकी स्थापना के लिए प्रेरणा देते हैं। जितने अधिक राष्ट्र उस सामान्य-हित को पाने के लिए सम्मिलित होते हैं उतना ही अधिक राष्ट्र संघ भारी बनता है तथा जो सामान्य बात ऐसे सभी सम्मिलित राष्ट्रों के लिए हितकर होती है तो वे सब उसकी प्राप्ति के लिए एक साथ जुट जाते हैं। अब प्रत्येक राज्य जो अपनी सम्प्रभुता का मूल्यांकन करता है उसे एक ऐसे सामान्य-हित को भी मान्यता देनी पड़ती है जो सभी के लिए समान होता है, जैसे अपनी सम्प्रभुता की रक्षा करने की स्वतन्त्रता और उनको ऐसा करने का आश्वासन दिलाने के लिए शान्ति की परम आवश्यकता। अत यह सरलता से प्रतिपादित किया जा सकता है कि शान्ति और स्वतन्त्रता दो अभिष्ठतर से सम्बन्धित हित हैं जो समान रूप से सभी राष्ट्रों के लिए सामान्य होते हैं और उसकी रक्षा के लिए वे सभी एक साथ बहुत अच्छी तरह से सम्मिलित हो सकते हैं। ऐसा करने के लिए वास्तव में सम्प्रभुता का बलिदान आवश्यक नहीं होता अपितु इससे तो वह उन परिस्थितियों को बनाए रखने में समर्थ होता है जिनके द्वारा सम्प्रभुता के तत्त्वों को सुरक्षित रखा जा सकता है। यहाँ भय का आधार यह हो सकता है कि इस उद्देश्य के लिए निर्मित राष्ट्र-संघ धीरे धीरे कुछ समय के बाद कुछ अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भी अग्रित हो सकता है। वह स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा उसमें बाधक भी बन सकता है। इस तरह ऐसे राष्ट्र-संघ से उत्पन्न होने वाले खतरे से पूर्णतः इन्कार भी नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि कुछ राज्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए दूसरों के कार्यों को रोकना आवश्यक हो जाएगा। ये बन्धन आवश्यक बन्धनों से फिर दुखदायी और हानिकारक बन्धनों में भी परिवर्तित हो सकते हैं। राष्ट्र-संघ का मूल उद्देश्य सुरक्षा और शान्ति है। ये दोनों इसके अस्तित्व के लिए दृढ़ आधार हैं। यदि इसके संविधान की रचना बड़ी सावधानी से की जाती है तो सारा विश्व इसका पीछे होगा। यदि पानी ही हमें अन्धा बनाएगा तो उसे हम किससे धोएँगे ? यदि इस विश्व में बुद्धिमत्ता पर्याप्त नहीं है तो उससे अच्छी बुद्धिमत्ता हम कहाँ से लाएँगे ? निस्सन्देह हम इस विश्व को ही अधिक बुद्धिमान् बना सकते हैं और ऐसा करने के लिए कुछ

चाहिए, तो हमारे लिए उसे प्राप्त करने की विधियों का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। परन्तु उसे प्राप्त करने

४. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रगति

अनेकों कठिनाइयां हैं। पिछले अध्याय में मैंने उसकी अवहेलना करने की अपेक्षा उसको प्राप्त करने पर अधिक बल दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि इस विषय में कुछ प्रगति की जा सकती है। इस महान् सत्ता को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में वृद्धि करके ही किया जा सकता है। इसके लिए पर्याप्त अनुभव आवश्यक है जो बड़े देर ही प्रदान कर सकते हैं। अतः इस प्रकार की प्रगति के लिए लोगों को राष्ट्र-संघ की स्थापना की आवश्यकता पड़ी।[1] परन्तु ऐसी योजना के विरुद्ध भी अनेकों आपत्तियां उठ खड़ी होती हैं जो स्वतन्त्र राज्य की सम्प्रभुता में बाधक होती हैं। इन्हें साधारणतः हटाया नहीं जा सकता परन्तु उनके समाधान में यह कहा जा सकता है कि कोई भी सम्प्रभुता निरपेक्ष नहीं होती। एक सम्प्रभु राज्य और एक असम्प्रभु राज्य के अन्तर में केवल सम्बन्धित प्रामाणिकता होती है। एक सम्प्रभु राज्य वह होता है जो किसी एक विशेष शक्ति के अधीन नहीं होता। और कोई ऐसा प्रस्ताव भी नहीं है जिसके द्वारा ऐसी सत्ता एक राष्ट्र-संघ को प्रदान की जा सके न ही कोई विश्व-संघ कायम करने का विचार-विमर्श चल रहा है। ऐसे किसी भी प्रस्ताव का अर्थ होगा एकमात्र सम्प्रभु-राज्य की स्थापना अन्य सभी राज्य जिसके अधीन होंगे किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह विश्व अभी तक उस परिपक्व अवस्था में नहीं पहुँच सका है और न शायद कभी उस अवस्था में पहुँच ही सकेगा। हां अधिक-से-अधिक इतना हो सकता है कि कुछ विभिन्न जाति के लोग अपनी भिन्न भिन्न पद्धतियों के अनुसार विकास करते रहें। परन्तु केवल मात्र किसी श्रेष्ठ-राज्य की स्थापना के अभाव में ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रभु-राज्य भी कुछ बन्धनों को स्वीकार करेंगे। यहां तक कि जर्मनी के महान् राज्य को भी अपने अन्दर स्थित कुछ छोटे राज्यों के अधिकार के कारण कुछ बन्धनों को स्वीकार करना पड़ा था। प्रत्येक सन्धि उन राष्ट्रों की पूर्ण स्वतन्त्रता में कुछ बन्धन अवश्य लगाती है जो राष्ट्र उस पर हस्ताक्षर करते हैं। फिर यह भी स्पष्ट है कि इस प्रकार की कुछ सन्धियों के बिना सुरक्षा रह भी नहीं सकती। यह अवश्य सही बात है कि ऐसी सन्धियां

१ इस विषय पर लिखने वाले अनेक लेखकों की रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। शायद इनमें से बहुत-सी रचनाएँ तो जानकारी दी रही हैं। सी डिकिन्सन दि कॉमन विफोर मस। सी डी बर्न्स: आर्थिबिटी आफ नेशन्स। प्रो मुर्गीहुरी की 'सिविलिज़ाइ आफ मोरल इन्टेरस' भी उल्लेखनीय है। गीन मडोर की 'प्रिन्सिपल्स ऑफ पॉलिटिकल ऑब्लिगेशन्स' १८९५ भी देखें। श्री ए डी लिण्डसे की 'मेसेन्शियली इन वार' न० १८ भी उल्लेखनीय है।

तब तक बेकार होती हैं जब तक कि हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र उसके समर्थन के लिए संगठित होने के प्रण को पूरी तरह निभाते नहीं। फिर वर्तमान-काल में कोई भी राष्ट्र अपने मित्र राष्ट्रों के समर्थन के बिना किसी महान् युद्ध में भाग लेने का विचार तक नहीं कर सकता। ऐसे मित्र राष्ट्रों का एक प्रकार का राष्ट्र-संघ बन जाता है। अतएव अब यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आखिर वे ऐसी कौन-सी परिस्थितियाँ हैं जिनसे ऐसे राष्ट्र-संघों की स्थापना सम्भव होती है? इस प्रश्न का सामान्य उत्तर यही होगा कि कुछ राज्यों के अपने सामान्य हित उसकी स्थापना के लिए प्रेरणा देते हैं। जितने अधिक राष्ट्र उस सामान्य-हित को पाने के लिए सम्मिलित होते हैं उतना ही अधिक राष्ट्र-संघ भारी बनता है तथा जो सामान्य बात ऐसे सभी सम्मिलित राष्ट्रों के लिए हितकर होती है तो वे सब उसकी प्राप्ति के लिए एक साथ जुट जाते हैं। जब प्रत्येक राज्य जो अपनी सम्प्रभुता का मूल्यांकन करता है उसे एक ऐसे सामान्य-हित को भी मान्यता देनी पड़ती है जो सभी के लिए समान होता है, जैसे अपनी सम्पत्ता की रक्षा करने की स्वतन्त्रता और उनको ऐसा करने का आश्वासन दिलाने के लिए शान्ति की परम आवश्यकता। अतः यह सरलता से प्रतिपादित किया जा सकता है कि शान्ति और स्वतन्त्रता दो घनिष्ठता से सम्बन्धित हित हैं जो समान रूप से सभी राष्ट्रों के लिए सामान्य होते हैं और उसकी रक्षा के लिए वे सभी एक साथ बहुत अच्छी तरह से सम्मिलित हो सकते हैं। ऐसा करने के लिए वास्तव में सम्प्रभुता का बलिदान आवश्यक नहीं होगा अपितु इससे तो यह उन परिस्थितियों को बनाए रखने में समर्थ होता है जिनके द्वारा सम्प्रभुता के तत्त्वों को सुरक्षित रखा जा सकता है। यहाँ भय का आधार यह हो सकता है कि इस उद्देश्य के लिए निर्मित राष्ट्र-संघ धीरे-धीरे कुछ समय के बाद कुछ अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भी प्रेरित हो सकता है। यह स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा उसमें बाधक भी बन सकता है। इस तरह ऐसे राष्ट्र-संघ से उत्पन्न होने वाले खतरे से पूर्णतः इन्कार भी नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि कुछ राज्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए दूसरों के कार्यों को रोकना आवश्यक हो जाएगा। ये बन्धन आवश्यक बन्धनों से फिर दुखदायी और हानिकारक बन्धनों में भी परिवर्तित हो सकते हैं। राष्ट्र-संघ का मूल उद्देश्य सुरक्षा और शान्ति है। ये दोनों इसके अस्तित्व के लिए एक आधार हैं। यदि इसके संविधान की रचना बड़ी सावधानी से की जाती है तो सारा विश्व इसके पीछे होगा। यदि पानी ही हमें गन्दा बनाएगा तो उसे हम किससे धोएँगे? यदि इस विश्व में बुद्धिमत्ता पर्याप्त नहीं है तो उससे अच्छी बुद्धिमत्ता हम कहाँ से लाएँगे? निस्सन्देह हम इस विश्व को ही अधिक बुद्धिमान् बना सकते हैं और ऐसा करने के लिए कुछ

विधियों पर हम आगे विचार करेंगे। परन्तु कुछ भी हो इस विशेष समय के लिए तो हम अपनी वर्तमान बुद्धिमत्ता से ही काम लेना पड़ेगा। यह स्पष्ट है कि इस तरह की समस्या को कोई भी यान्त्रिक योजना नहीं सुलझा सकती। पर यान्त्रिक योजना केवल लोगों की इच्छाओं को प्रभावित ही नहीं कर सकती परन्तु उन इच्छाओं को विशाल रूप से उत्पन्न करने में भी सहायक हो सकती है। यहाँ पर राष्ट्र-संघ के संविधान पर विवेचना हमसे सम्बन्धित नहीं। उसे स्पष्ट करने का काम तो व्यावहारिक राजनीतिक नेताओं का है। समाज-दर्शन का काम तो विचारधाराओं के आधारभूत सामान्य-सिद्धान्तों पर विचार करना है। अब तक जो कुछ कहा गया है वह यहाँ के लिए पर्याप्त है। कुछ ही समय में यह हमें अधिक महत्त्वपूर्ण समस्याओं की ओर प्रेरित कर सकेगा। यह हमें राष्ट्रीय भेदभाव की खाइयों का पूर्णतः पाट देने के उपरान्त 'मानव संसद् अथवा विश्व संगठन' तक भी ले जा सकेगा। परन्तु इस समय हमें अपने आपको तात्कालिक समस्याओं तक ही सीमित रखना अधिक उपयुक्त होगा।

द्वितीय अध्याय

धर्म का स्थान

धर्म की विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं और उन्हें विभिन्न सम्प्रदायों में बाँधकर कठिन बना दिया गया है। यहाँ इन सभी का विश्लेषण करना उचित नहीं है।[1] यहाँ तो इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि

१ धर्म का अर्थ

धर्म का अर्थ कम-से-कम अपने सर्वोच्च विकसित रूप में उच्चतम और सबसे अधिक मूल्यवान् के प्रति पूर्णतया समर्पण है।[2] कार्लाइल के स्वर मह में कहना मुश्किल से ही सही हो सकता है कि कार्य ही पूजा है। परन्तु ऐसा उस भावना के प्रति कहा जा सकता है जो रचनात्मक या सृजनात्मक कार्य के उच्चतम रूपों के लिए प्रेरणा देती है। उसको ही हम उचित ढंग से धार्मिक भी कह सकते हैं। विशेषतः ईसाई-धर्म शायद अन्य सभी विश्व-धर्मों की अपेक्षा प्रमुख रूप से सामाजिक संगठन के आदर्श के प्रति समर्पण की एक भावना है। यही मूलतः इसकी वृद्धि और रक्षा के लिए आवश्यक भी है। धर्म का यही पहलू हमारे लिए यहाँ अत्यधिक महत्त्व रखता है। उदाहरणस्वरूप यह स्पष्ट है कि समर्पण की ऐसी भावना के बिना राष्ट्रीय जीवन अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास की इच्छा करना व्यर्थ होगा जिस पर पिछले अध्यायों में बल दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय एकता और विश्व-शान्ति की स्थापना के सम्बन्ध में हिकिन्सन ने हाल ही में एक पुस्तक प्रकाशित की है जिसका उल्लेख पिछले अध्याय में भी किया जा चुका है। उसमें धार्मिक प्रवृत्ति द्वारा की जाने वाली सेवाओं का एक आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया गया है। उसमें सन् १६०० ई० की मर्जेंटा, सना और चिली में हुई लड़ाई का उल्लेख किया गया है, जिसे ईसाइयत के आधारभूत सिद्धान्तों की अपील द्वारा बन्द करवाया गया था।[3] ऐसे

---

१ ई॰ बैवर्न की पुस्तक 'दि फ्लाम्सूएन्स आफ रिलीजिन' का प्रथम अध्याय देखें।

२ यहाँ हमें अनुरक्ति और समर्पण मिलता है वहीं धर्म का प्रारम्भिक रूप प्राप्त हो जाता है—जोसिया रॉयस् : दैन्स् ब्बह मैरिटनी आफ दि इवालीजियुस्म १ ई० १२०

३ 'टाइम्स लिटरेरी सप्ल' पृ० २२९।

उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। हिकिंसन का कहना है कि उन्हें पूर्णतः अद्भुत कहा जा सकता है परन्तु धार्मिक विचारों का प्रभाव केवल धर्मगुरुओं में ही नहीं अपितु कुछ अन्य आन्दोलनों में भी देखा जा सकता है। उन्हें सामान्यतः धार्मिक (सम्भव नितान्त उचित रूप में नहीं) कहा जाता है। इस प्रकार फ्रांस की क्रान्ति द्वारा सूत्रपात किये गए सुधारों में भी उस प्रभाव को देखा जा सकता है। मानव धर्म जिसे हम विश्व धर्म मुश्किल से ही कह सकते हैं प्रमुख रूप से बौद्ध और ईसाई धर्म का ऋणी है। उसमें धार्मिक भावना का एक पहलू सम्भवतः अन्य पहलुओं से पृथक है जो इसकी विशेषता है। सम्भवतः यह सही है कि ऐसे धर्म की पूर्णता के लिए हमें वर्ड्सवर्थ और शैले की कविताओं में मिलने वाली प्रकृति पूजा का और इसके साथ ही समग्र विश्व के समन्वयात्मक विचारों व निश्चित प्रयासों को भी जो प्लेटो तथा अन्य भूमवादात्मक विचारकों के लेखों में प्राप्त होते हैं जोड़ देना चाहिए। परन्तु यहाँ तो धर्म व धर्म के बारे में इतना समझ लेना ही पर्याप्त होगा कि यह मानव-जीवन की पूर्णता के प्रति समर्पण की एक भावना है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर हम इसे *मानव-प्रकृति के साथ सम्बन्धित कर सकते हैं जिसके बारे में इस* पुस्तक के प्रारम्भिक अध्यायों में उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु इस दृष्टिकोण के अपना लेने पर भी धर्म के कुछ अन्य विभिन्न पहलुओं की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जाना आवश्यक है। परन्तु उनका सूक्ष्म-विवेचन यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं किया जा सकता।

इस पुस्तक के कुछ प्रारम्भिक अध्यायों में यह प्रस्तुत किया गया था कि मानव जीवन के तीन प्रमुख पहलू होते हैं—वर्गों प्राणी-जीवन सम्बन्धी और सबसे अधिक विशेषता वाला मानव-जीवन सम्बन्धी।

२ धर्म के प्रमुख पहलू शुद्ध मानवीय पहलू भौतिक जगत पर आधारित होकर अन्य दो पहलुओं को रूपान्तरित करता है और धीरे धीरे उन पर अधिकार जमा लेता है। हमारी सामाजिक संस्थाएँ और संगठन पद्धतियाँ जिनके बारे में अब तक उल्लेख कर चुके हैं प्रमुखतः उन्हीं विधियों के रूप हैं जिन्हें हमारी निम्नतम आवश्यकताएँ और भावनाएँ अपने अचेतन जगत के कारण प्राप्त करती हैं। अब हमें उस आदर्श ध्येय की ओर ध्यान देना चाहिए जो हमारी जटिल प्रकृति के शुद्ध मानवीय पक्ष से विशेषतः सम्बन्धित है। यही शुद्ध मानवीय ध्येय स्वतः ही सत्यं शिवं सुन्दर के अनुशीलन में प्रकट होता है। धर्म भी इन्हीं उच्चतम रूपों के साथ ही पूर्णत्व को प्राप्त करता है। यहाँ सामाजिक कार्यों में हित क्या होता है उसे देखना ही प्रमुख उद्देश्य है परन्तु अन्य पहलुओं को भी पूर्णतः भुलाया नहीं जा सकता।

जब सामाजिक कार्यों पर धर्म के प्रभाव को विशेष रूप से देखा जाता है तब धर्म और नैतिकता में कोई अन्तर नहीं रह जाता। यहाँ नैतिकता शब्द अपने उच्चतम अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है[1] कि मूलतः धर्म संवेगों से युक्त नैतिकता है।" परन्तु सभी नैतिकताएँ, जो अधिकांश लोगों के लिए शुभ होती हैं संवेग का पुट रखती हैं। नीतिशास्त्र सम्बन्धी विचार भी धर्म-सहित उच्च नैतिकता ही तो है। परन्तु यह एकत्व विवेकवाद की तरह धर्म म प्रकृति पूजा और अनुभवगम्य-ब्रह्माण्ड[2] की अवधारणा को पृथक करता है। यह कहा जा सकता है कि नैतिकता का भाव इसके उच्चतम अर्थों में प्रत्येक वस्तु का अनुशीलन करता है जो सत्य और शिव हो। परन्तु कुछ भी हो यह उन सब का एक अनुशीलन है, जहाँ वे सब धर्म में आन्तरिक रूप से प्रत्यक्ष अथवा वस्तु की प्रकृति में सम्पृक्त होते हैं। अधिकतर नैतिकता का अर्थ जहाँ सामान्यतः किसी विशेष काल और स्थान में सत्य एवं शिव के प्रति समर्पण और अनुशीलन समझा जाता है वहाँ धर्म में निरपेक्ष आरम्भ करने की भावना होती है। नैतिकता की व्याख्या अस्तित्व के रूप में व्याख्या करने की प्रवृत्ति है। कुछ अर्थों म यह परम्परागत भी होती है। यह भी कहा जा सकता है कि थोड़ा या अधिक यही बात धर्म के बारे म भी सत्य है परन्तु कम-से-कम इसका उद्देश्य निश्चित रूप से पूर्णत्व की ओर ही अधिक है। इस नैतिकता में प्रगति लाने वाली भावना भी कहा जा सकता है। परन्तु इसी से कला और दमन में भी प्रगति होता है और वे दोनों अपने श्रेष्ठतम रूप म धर्म का रूप धारण कर लेते हैं, जैसा कि नैतिकता भी। सौन्दर्य का आनन्द और सत्य के प्रति चिन्तन मूलतः धार्मिक प्रवृत्ति है। इसी तरह सत्यं और सुन्दरं की रक्षा के लिए नैतिकता का मूलतत्त्व—सहज प्रयास भी एक धार्मिक प्रवृत्ति है। इस प्रकार धर्म सत्यं शिवं और सुन्दरं का समन्वय एक ऐसे रूप से करता है जो विज्ञान कला और नैतिकता के समन्वय में नहीं मिल सकता। फिर यह भी सत्य हो सकता है कि दार्शनिक चिन्तन के श्रेष्ठ रूप काव्य-सर्जन और नैतिकता के प्रयास भी मूलतः धार्मिक ही हैं।

३ धार्मिक संस्थाएँ

यह स्वाभाविक है कि धार्मिक प्रवृत्ति विशेषतः अपने सामाजिक पक्ष मे कुछ विशेष संस्थाओं के समर्थन और निर्माण के लिए प्रेरित करती है जैसे कि मानव प्रकृति के अन्य पहलू भी करते हैं। यह भी स्वाभाविक है कि इन संस्थाओं में अन्यों की भाँति कुछ ऐसे तत्त्व भी हों जिन्हें हम परम्परागत कहते हैं। इनका सबसे अधिक स्पष्ट रूप हम विभिन्न गिरजाघरों और अन्य साम्प्रदायिक संघों में देख सकते हैं।

१ लिटरेचर एण्ड डॉग्मा' अध्याय १।
२ एलीमेंट्री फॉर्म्स ऑफ रिलीजियस लाइफ' खण्ड १ अध्याय ४।

इसी तरह थियोसोफिकलवाद के विशाल संगठनों से लेकर मिशन-समाज के साधारण संगठन तक पहुँचा जा सकता है। कभी-कभी कुछ वर्गों में सामाजिक सत्य ऐसी संस्थाओं में ही निहित अथवा उन्हीं के अधीन होते हैं। ये संस्थाएँ सामाजिक संगठन के आदर्शों की अपेक्षा विशेष सिद्धान्तों की घोषणा और विशेष समारोह करने अथवा वैयक्तिक जीवन के सुधार की ओर ही अधिक ध्यान देती हैं। परन्तु उद्देश्य सभी के सामान्य होते हैं और उनका एक विशेष सामाजिक महत्त्व देते हैं। यह सही है कि कभी-कभी धर्म के बारे में यह कहा जाता है कि वह एक शुद्ध वैयक्तिक वस्तु है। कभी-कभी ऐसा भी सोचा जा सकता है कि व्यक्ति धर्म को उसी प्रकार ग्रहण करते हैं जिस प्रकार चित्रकला अथवा संगीतकला को ग्रहण किया जाता है। उसमें वे एक प्रकार का सन्तोष और अनुशासन भी प्राप्त करते हैं। परन्तु सामाजिक कर्तव्य के साथ इन बातों का सम्बन्ध बहुत कम होता है और साधारणतः धार्मिक संगठनों के साथ अपने-आपको सम्बन्धित नहीं करते। प्राचीन गुहावासी मध्यकालीन सन्त और वे सुन्दर आत्माएँ (जैसा गेटे ने कहा है) इन प्रवृत्तियों के उदाहरण हैं परन्तु ऐसी प्रवृत्तियों को धारण करने वाले भी साधारणतः एक ही मानसिक स्वभाव वाले लोगों के साथ सभी करना अधिक उचित समझते हैं। मेसोनिक लाज और इसी तरह की अन्य संस्थाएँ विशेषतौर से जब वे कुछ ऐसी अवधारणाओं से अनुप्राणित होती हैं जैसी गेटे के मेसोनिक भजनों में व्यक्त हुई हैं तो वे भी इसी प्रसंग में ध्यान देने योग्य होती हैं। वास्तव में चित्रकार संगीतज्ञ और विचारक लोग भी कभी-कभी अपना एक संगठन बनाते हैं और विशेष उत्साह के साथ अपने सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति में आत्म समर्पण कर देते हैं। इस प्रवृत्ति को भी धार्मिक कहा जा सकता है। यह निर्णय करना कुछ कठिन होगा कि पैथागोरियन लोगों के संगठन को दार्शनिक संगठन अथवा धार्मिक-सम्प्रदाय कहा जाए। इसी तरह सामाजिक आदर्शों के प्रचार के लिए उत्सर्ग करने वाले लोगों और उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बने संघों को भी इस प्रवृत्ति के कारण धार्मिक समझा जा सकता है, पर उनके उद्देश्य के अनुसार उन्हें धार्मिक वर्गीकरण में नहीं रखा जा सकता। कभी-कभी कुछ ऐसी अभिव्यक्तियों का प्रयोग किया जाता है जैसे 'अमरीकी लोकतन्त्र एक धर्म के रूप में' अथवा 'समाजवाद का धर्म' इन सब से यही ज्ञात होता है कि राजनीतिक अथवा सामाजिक आदर्शों का भी पूरे दिल से अनुशीलन किया जा सकता है और उन्हें जीवन का उच्च और सुन्दरतम स्वरूप समझा जा सकता है। फिर शैक्षणिक और धर्मार्थ संस्थाओं की स्थापना मुख्यतः धार्मिक प्रवृत्ति वाले लोगों द्वारा की जाती रही है और ऐसी संस्थाओं को कभी-कभी विशेषतः धार्मिक समझा जाता है। इस तरह से यहाँ धार्मिक संस्थाओं से भाव व्यापक अर्थों में लेना चाहिए। कुछ विशेष संस्थाएँ

मुश्किल से ही धार्मिक कहला सकती हैं परन्तु धर्म उनके आन्तरिक रूप तथा उनके कार्यों में विशेष स्थान रखता है। इस तरह से श्रमवृत्ति को भी दिव्य बना दिया जा सकता है। अतः धर्म का सम्बन्ध सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं के साथ देखना चाहिए।

यदि यह मान लिया जाता है कि धर्म की मूल प्रवृत्ति सामान्य हित की प्राप्ति है, तो युवकों की शिक्षा में इसका स्थायी महत्त्व होना आवश्यक है। यदि इसके मार्ग में धार्मिक विश्वास की विभिन्नताओं के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ न आएँ तो यह बात समस्त विश्व के लिए भी मान्य हो सकती है।

४ शिक्षा में धर्म

जो लोग किसी विशेष मत विधि और किसी विशेष धर्म में आस्था रखते हैं वे अपने धर्म के इस विशेष रूप को अपने अधीन शिक्षा संस्थाओं में पढ़ने वालों के दिमाग में ठूँस देना चाहते हैं। इस प्रकार भिन्न विचारों वाले स्वतः ही इनके विचारों का विरोध करते हैं। अतः जहाँ अनेक धार्मिक विश्वास होते हैं वहाँ शिक्षा संस्थाओं से धर्म को निकाल देने की अथवा उसे बनाकर साधारण रूप से रखने की प्रवृत्ति होती है। यहाँ हम इस कठिनाई को सुलझा तो नहीं सकते पर इसके लिए कुछ निर्देश अवश्य दे सकते हैं।

अपरिपक्व मस्तिष्क वाले बच्चों को किसी विशेष धर्म की शिक्षा देने का प्रयत्न वास्तव में आपत्तिजनक बात है। यदि ऐसा करने में सफलता मिल भी जाती है तो भी धर्म एक सजीव प्रेरणा की अपेक्षा एक मृतप्राय प्रथा बन जाता है और वह व्यक्तियों की एकता की अपेक्षा उनमें भेद पैदा करता है, उन्हें पृथक करता है। इस प्रकार वह अपने उद्देश्य में असफल होता है तथा सभी धर्मों के प्रति अरुचि पैदा कर देता है। इतना ही नहीं इस प्रकार वह सामान्यतः मान्य शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्तों का उल्लंघन करता है जो स्वयं अपने अन्दर से विकसित होते हैं और जिन्हें बाहर से किसी पर थोपा नहीं जा सकता। यह स्पष्ट है कि युवकों का उस धार्मिक (अथवा अधार्मिक) वातावरण के प्रभाव से जिस से वे घिरे रहते हैं, पूर्णतः बचाना सम्भव नहीं। इस सम्बन्ध में अन्य बातों की तरह बच्चे अपने माता-पिता अथवा संरक्षकों तथा अपने से सम्बन्धित धार्मिक संस्थाओं के द्वारा हितकर अथवा हानिकर रूप से अवश्य ही प्रभावित होते हैं। मैं बच्चे की पूर्ण स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में और वे कुछ हैं जिन पर माता पिता का नियन्त्रण एक प्रतिनिधि अधिकारी की तरह होता है। परन्तु इस तरह के धार्मिक प्रभाव को पारिवारिक-जीवन में हस्तक्षेप किये बिना नहीं रोका जा सकता। परन्तु यदि ऐसा करना सम्भव हो तो वह लाभ की अपेक्षा अधिक हानिप्रद होगा। स्कूल में भी किसी विशेष अध्यापक द्वारा व्यक्त-विचार अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहेंगे। परन्तु

ऐसे प्रभाव अन्य प्रभावों द्वारा सन्तुलित किये जा सकते हैं। कुछ भी हो ऐसे प्रभाव उन अनेक प्रकार के प्रभावों में से हैं जो बच्चे के विकासोन्मुख मस्तिष्क पर उसके अध्यापक के मानवीय वर्गीकरण द्वारा आवश्यक रूप से पड़ते हैं। अब प्रश्न यह रह जाता है कि बच्चे में इस प्रकार के अनिवार्य प्रभावों को किसी विशेष प्रकार की धार्मिक शिक्षा से पुष्ट किया जाए अथवा किसी विशेष प्रकार की धार्मिक प्रवृत्ति पैदा की जाए।

यह स्पष्ट है कि कुछ धार्मिक विचारों का विवरण दिया जाना चाहिए क्योंकि विभिन्न धार्मिक अवधारणाओं को समझे बिना इतिहास को समझना कठिन होगा। इसी तरह धार्मिक विचारों के मूल्यांकन के बिना साहित्य भी कुछ अर्थों में निरर्थक ही होगा क्योंकि बहुत से महान् लेखकों के प्रेरणा-स्रोत धार्मिक विचार ही रहे हैं। परन्तु जिन विचारों से लोग प्रभावित हुए हैं उन्हें जानने और उनका मूल्यांकन करने का अर्थ आवश्यक रूप से उन्हें ग्रहण करना नहीं होता। इसके विपरीत किसी पक्ष को ग्रहण करना स्वाभाविक होता है और प्रायः यह ठीक भी होता है फिर भी विभिन्न प्रवृत्तियों को जानने और उनके मूल्यांकन का अपना महत्त्व होता है। उदाहरणस्वरूप ग्रीक लोगों को जानने के लिए विश्व के प्रति उनके दृष्टिकोण से सहानुभूति होनी चाहिए। इसी तरह ऐतिहासिक अभिलेखों और साहित्यिक अभिव्यक्तियों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। धार्मिक विचारों और प्रवृत्तियों का इस तरह का अध्ययन मानव-समुदाय के लिए लाभप्रद होगा और इसका हानिकारक प्रभाव न होगा। वर्तमान काल में विभिन्न धार्मिक प्रभावों के ज्ञान और उनके मूल्यांकन के बारे में भी यही कहा जा सकता है। ऐसा करना अब प्रारम्भिक शिक्षा के लिए एक आवश्यक तत्त्व के रूप में समझा जाने लगा है।

इसके उपरान्त धार्मिक प्रवृत्ति के मूल तत्त्व को ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। यदि उसे हम सत्यं शिवं और सुन्दरं के प्रति समर्पण की भावना समझते हैं तो यह स्पष्ट है कि उसे अन्य अनेकों प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। विज्ञान का अध्ययन विशेषतः सत्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करता है कला का अध्ययन सौन्दर्य के प्रति प्रेम जागृत करता है और इतिहास व साहित्य का गम्भीर अध्ययन शुभ के मूल्यांकन तथा अशुभ के प्रति घृणा भी जो स्वतः ही ले आता है। अच्छाई का वैयक्तिक तथा सामाजिक रूप समझाने के लिए नवयुवकों के सामने इस तरह से खोलकर रख देना चाहिए जिससे उसके प्रति सहानुभूति पैदा हो और वे उसे अपने व्यवहार में लाएँ। परन्तु यह सब कुछ इस ढंग से किया जाए कि ये सब चीजें विश्व के किसी विशेष मत सिद्धान्त या किसी विशेष विधि पर आधारित न हों ताकि जिन लोगों के मस्तिष्क अथवा हृदयों पर अपना प्रभाव डालें वे चाहे अपने से बड़े लोगों के

सिद्धान्तों को ग्रहण करें या न करें, परन्तु उन मौलिक शाश्वत मूल्यों को अवश्य मानें कि मूल रूप से असत्य की अपेक्षा सत्य, असौन्दर्य की अपेक्षा सौन्दर्य, और अशुभ की अपेक्षा शुभ ग्राह्य होते हैं। इस तरह से धार्मिक भावना निरंतर ग्राह्य होती रहेगी भले ही उसका विशेष रूप चाहे कुछ भी क्यों न हो। यही एक विशेष तत्व है पर इसकी विस्तृत व्याख्या यहाँ नहीं की जा सकती।

५ धर्म और समाज सेवा

धर्म को मतों तथा गिरजाघरों की परिधि में बांध देना तो स्पष्टतः उसे अत्यधिक संकुचित बना देना है। जैसा हम पहले बता चुके हैं इसके वास्तविक रूप का दर्शन शिक्षा अथवा धर्मार्थ कार्यों राजनीतिक आदर्शों कला और विज्ञान की सेवाओं तथा अन्य अनेकों विधियों में होता है। परन्तु इसके अधिक विशेष दर्शन तो हमें सामाजिक दशा के सुधार के प्रयास में होते और उसका अध्ययन अपने वर्तमान उद्देश्य के दृष्टिकोण से अधिक महत्व रखता है। जैसा हम पहले जान चुके हैं कि विशेष रूप से संगठित समाजों में भी न्याय और समता के आदर्शों का पूर्ण साक्षात्कार कठिनाई से ही होता है। और जो मूलतः साम्य है वह सीमित और कठिनाइयों से घिरा हुआ है जिन्हें दूर करना अथवा पूर्णतया समाप्त करना वांछनीय है। ये कारण उन समाजों के लिए अधिक सही रूपसे लागू होते हैं जो अभी पूरी तरह से सुव्यवस्थित नहीं हो सके। इन कठिनाइयों का समाधान तथा उनसे ऊपर उठाने का कार्य मानव जाति के हित में सभी प्रतिभाएँ करती रहती हैं। युद्ध-काल में ऐसे प्रयासों का महत्व प्रत्यक्ष रूप में विशेष होता है परन्तु शान्तिकाल में भी उन्हें अनेकों सेवा-कार्यों जैसे अस्पताल, जेलखानों तथा धर्म-स्थानों आदि में निरन्तर अवसर मिलते रहते हैं। और इस तरह के कार्यों से धन सम्पत्ति शिक्षा और अन्य परिस्थितियों के कारण व्यक्ति और वर्गों के मध्य के अन्तर अथवा खाई को पाटने का काम होता है। आधुनिक काल में विश्वविद्यालयीय क्षेत्रों में इन बातों के विकास का अच्छा उदाहरण मिलता है। निस्सन्देह इन कार्यों का प्रत्यक्ष रूप से धर्म के मामलों में कोई हवाला नहीं दिया जाता। परन्तु यदि हम इस शब्द के व्यापक अर्थ में जाएं तो यह कार्य धार्मिक भावना से प्रेरित होने चाहिएं और वास्तव में अनेकों धर्म स्थान ऐसे कार्य करना अपना प्रमुख उद्देश्य समझते हैं। संभवतः उनके कार्य का यही पक्ष निश्चित रूप से अधिक विकसित एवं मान्य हुआ है। यह कार्य चूंकि राज्य अथवा स्थानीय शासन के अन्तर्गत नहीं आता, अतः वैयक्तिक प्रयास होने के कारण पूरी तरह नहीं हो पाता। इसका मूल कारण अन्य अनेक कारणों की तरह मुख्यतः धर्म-स्थानों के आपसी संगठन का न होना ही है। परन्तु धर्म के मूल तत्वों की मान्यता के कारण संगठित प्रयासों की आशा की जा

सकती है। इस प्रकार विचारों में मतभेद जो लोगों के पृथक्-पृथक् चिन्तन रुचि और संस्कारों पर आधारित होते हैं संगठन के इन व्यावहारिक प्रयासों को रोकने में समर्थ नहीं होंगे।

जैसे कम व्यापक एवं संकुचित अर्थ में शिक्षा सामाजिक संगठन और सामान्य हित की भावना के उत्थान के लिए एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है वैसे ही राज्य भी उसके संरक्षण से विमुख नहीं रह सकता।

५. राज्य और धर्म राज्य और धर्म का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाने में अनेकों कठिनाइयाँ आती हैं और उन्हें यहाँ प्रदर्शित भी नहीं किया जा सकता। यहाँ कुछ सामान्य-सिद्धान्त ही प्रतिपादित किए जा सकते हैं।

धार्मिक संस्थाओं का प्रमुख कार्य शिक्षा प्रसार है। अतः राज्य और शिक्षा का जो सामान्य सम्बन्ध है उसे ही राज्य और धर्म के सम्बन्ध में भी समझा जा सकता है। राज्य को शिक्षा के पहलू की तरफ ध्यान रखना पड़ता है क्योंकि यह उसके विधान के अन्तर्गत आते हैं परन्तु राज्य का शिक्षा की पाठ्य-सामग्री शिक्षण-विधि और उसके संचालन के साथ वैधानिक रूप से कोई सम्बन्ध नहीं होता।[1] व्यावहारिक रूप से किसी धर्म या किसी धर्म संस्थान को राजकीय घोषित करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। यदि यह आवश्यक समझा भी जाता है तो एक ऐसी धार्मिक-संस्था को मान्यता दी जानी चाहिए जो राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करे तथा कुछ राजकीय अनुदान प्राप्त करे। परन्तु शिक्षा की अनेकों पद्धतियों की अपेक्षा धर्म के बारे में यह निर्णय करना अत्यधिक कठिन हो जाता है कि कौन-सी संस्था को उचित रूप से राष्ट्रीय आवश्यकताओं का पूरक माना जाए। इस सम्बन्ध में किसी निश्चित सिद्धान्त की स्थापना नहीं की जा सकती। इसका निर्णय राज्यों में विचारों और भावनाओं की बदलती हुई स्थितियाँ ही देंगी।

आगे यह प्रश्न और अधिक कठिन इसलिए हो जाता है कि यह एक शुद्ध शैक्षणिक समस्या नहीं रह जाता। राष्ट्रीय जीवन के उच्चतम आदर्श धर्म से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं और धार्मिक अभिव्यक्तियों के रूप में प्रकट

---

१ इस विषय में विभिन्न लेखकों द्वारा तर्क प्रस्तुत किये गए हैं जैसे मैथ्यू आर्नोल्ड ने अपनी पुस्तक 'कल्चर एण्ड अनार्की' तथा डा. जेम्स वार्ड ने अपनी पुस्तक नेचुरलिज्म एण्ड एग्नोस्टिसिज्म एवं ए स्टेट चर्च में। यहाँ ह्यूम तथा अन्य पुराने लेखकों का उल्लेख न करना अच्छा नहीं परन्तु मुझे इस में सन्देह है कि उन्होंने पूर्वोक्त लेखकों से कुछ अधिक बात कही हो। मैं जिस विचारधारा को प्रस्तुत करना चाहता हूँ वह मो कोहिरो तानियोरी की प्रिन्सिपल्स आफ मॉरल एम्पायर पृ. २१४-२१ में देखने योग्य है

होते हैं। राजकीय समारोह प्राय: धार्मिक रूप लिये होते हैं। अत: यह अनिवार्य हो जाता है कि वे अपने रूप और आकार किसी विशेष धार्मिक संगठन से लें। यहाँ पर यही प्रतिपादित किया जा सकता है कि जहाँ तक सम्भव हो इस तरह के समारोह देश के सभी प्रमुख धर्मों के अनुसार हों अथवा कम-से-कम उनके विपरीत भी न हों। यह आदर्श तो कम-से-कम हमारा लक्ष्य बनना ही चाहिए यद्यपि यह अपने-आपमें पूर्ण नहीं है।

दूसरी बड़ी कठिनाई यह रह जाती है कि कुछ विशेष प्रकार के धार्मिक संगठन सामान्यत: सभी राज्यों अथवा कुछ विशेष प्रकार के राज्यों के विरोधी होते हैं। वे उनकी सम्प्रभुता में हस्तक्षेप करते हैं। एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय धर्म जैसे कैथोलिज्म किसी विशेष राज्य की सीमाओं से बड़ा होने का दावा कर सकता है। मध्यकालीन आदर्श तो यह था कि राज्य और धर्म का एक-दूसरे के प्रति घनिष्ठ सम्बन्ध है।[1] दूसरी ओर अतीव व्यक्तिगत प्रकार का धर्म जैसे मित्र-समाज अपने आपको राज्य से एकदम पृथक रखता है। इस प्रकार राज्य को अपना मार्ग इन दो विपरीत प्रवृत्तियों के बीचसे निकालना है। उसे चाहिए कि वह विभिन्न मतों के साथ सहानुभूति रखे जिससे वे उसके कार्यों में किसी प्रकार की बाधा न डालें। जब राज्य इससे अधिक नियन्त्रण करने की चेष्टा करता है तो धर्म की स्थिति एक न्यायाधीश के रूप में बदल जाती है। गिब्बन[2] के अनुसार रोम में प्रचलित पूजा की विभिन्न पद्धतियों को वहाँ के लोग उसी प्रकार पूर्ण सत्य समझते थे जैसे दार्शनिक लोग उन्हें असत्य और न्यायाधीश उन्हें लाभदायक बताते थे। परन्तु न्यायाधीश लोग इतने सहिष्णु नहीं होते वे तो सामान्यत: प्रेम की अपेक्षा भय को और स्वतन्त्र खोज की अपेक्षा परम्परागत बातों को प्राथमिकता देते हैं। परन्तु यह समस्या तो हमें धार्मिक सहिष्णुता के सामान्य प्रश्न की ओर ले जाती है अत: उस पर अलग से ही प्रकाश डालना अच्छा रहेगा।

धार्मिक-सहिष्णुता विचार-स्वातन्त्र्य और उसकी अभिव्यक्ति सामान्य समस्या का ही एक भाग है इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं परन्तु इस सम्बन्ध में भी कुछ विशेष कठिनाइयाँ हैं जिन

७ धार्मिक सहिष्णुता

पर प्रकाश डालना आवश्यक है। धर्म के सम्बन्ध में मतभेद का मतलब यदि वह सच्चाई पर आधारित है और वे धर्म के सम्बन्ध में ही हैं उसकी अभिव्यक्ति और संगठन के सम्बन्ध में नहीं तो साधारणतया अनिवार्यत: जीवन-सम्बन्धी पूर्ण दृष्टिकोण

---

१ दान्ते इस विचार के प्रतिनिधि हैं। डी मोनार्किया' और "डिवाइन कामेडी" में यही विचार प्रकट हुआ है।

२ 'डिक्लाइन एंड फाल' अध्याय २।

के प्रति भिन्नता से है। इस तरह के मतभेद केवल विचार-सम्बन्धी ही नहीं व्यावहारिक भी होते हैं और उनसे गम्भीर संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। उनसे अन्तर्राष्ट्रीय और गृह-युद्ध भी हो सकते हैं। और यदि इन मतभेदों से वास्तविक संघर्ष नहीं होता तो वे घृणा तथा विरोध उत्पन्न करते हैं। परन्तु जिस संस्था का उद्देश्य सामान्य जनता का हित हो वह अपनी इच्छा से ऐसे मतभेद नहीं रख सकती। और मतभेद अथवा भिन्नता के प्रति यदि उपेक्षा की जाए तो मतभेद समाप्त हो जाते हैं। इस बात को इस प्रकार निरटाया जा सकता है कि हम उन कारणों पर विचार करें कि जिनसे मतभेद पैदा होते हैं और जिनसे नहीं। उदाहरण के लिए अनुष्ठानात्मक अथवा धर्म संस्कार सम्बन्धी मतभेद यदि आधारभूत अन्तर से ही सम्बन्धित हैं तो वे महत्वपूर्ण नहीं होते। राज्य के दृष्टिकोण से यदि संस्थात्मक मतभेद ही हों तो विशेष कठिनाई नहीं होती। कुछ कार्यों के करने के ढंग के गलत अथवा सही होने के अन्तर से भी कोई गंभीर समस्या पैदा नहीं होती। उदाहरण के लिए मधु-पान के प्रयोग चीरफाड़ नृत्य आदि देखना चित्र अथवा रंगमंच क्रियाएँ शपथ-ग्रहण पद के अनुसार विशेषता शारीरिक अथवा अन्य दण्डों का प्रयोग माता पिता तथा बच्चों के पारस्परिक कर्त्तव्य यौद्धिक-साम्य अथवा वैषम्य आदि के भेद। यद्यपि ये सब बातें एक जैसी मानसिक दशा वालों के लिए गम्भीर भेद भी पैदा करती हैं परन्तु मैत्रीपूर्ण संपर्क के लिए यह भेद आवश्यक भी होते हैं जैसे ये सहिष्णुता के मार्ग में कोई गंभीर समस्या भी खड़ी नहीं करते। इस प्रसंग में यह मान लेना सरल हो जाता है कि एक मनुष्य के लिए जो कुछ सही है वह दूसरे के लिए सही नहीं हो सकता यद्यपि व्यावहारिक रूप से यह बात मान्य नहीं हो सकती। वास्तविक समस्या प्रमुख रूप से तब उत्पन्न होती है जब अधिकारों का दावा किया जाता है अथवा एक व्यक्ति के कर्त्तव्य दूसरों के अधिकारों और आचरणों में बाधक होते हैं अथवा वे राज्य की स्वतन्त्र-सत्ता में हस्तक्षेप सिद्ध होते हैं। इस प्रकार की भिन्नताओं अथवा मतभेदों पर बहुत दबाव न दिया जाए तो समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। इन कठिनाइयों से मुक्ति तभी मिल सकती है जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न प्रकार के जीव अपने विभिन्न आचरण के लिए स्वतन्त्र हैं। किसी राज्य के लिए असह्य कठिनाइयाँ दो ही हो सकती हैं—एक असहिष्णुता और दूसरी उसके आधिपत्य अथवा अधीनता को स्वीकार न करना। और धर्म से उत्पन्न मतभेद में इन में से एक अथवा दोनों बातें रहती हैं।

यह स्पष्ट है कि कोई भी राज्य असहिष्णुता को सहन नहीं कर सकता और न ही यह किसी के हस्तक्षेप का विरोध किये बिना रह सकता है। यदि

हम यह चाहते हैं कि दूसरे लोग हमारे अधिकारों का आदर करें, तो उस अधिकार के साथ यह कर्त्तव्य भी जुड़ा रहता है कि हम भी दूसरों के विचारों और अधिकारों का आदर करें। अपनी परम्पराओं में किसी का कितना ही दृढ़ विश्वास क्यों न हो, परन्तु उनमें असहिष्णुता आ ही नहीं सकती क्योंकि परम्पराओं को दृढ़ करने वाली सभी क्रियाएँ दूसरों के अधिकारों का उल्लंघन करती हैं। इसी तरह ऐसे किसी भी विश्वास को सहा नहीं जा सकता जो दूसरों पर जबरदस्ती थोपा जाता है। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब उस विचार को बहुत ही पवित्र बनाया जाए और कार्यरूप में तुरन्त परिणत न किया जा सके। ऐसी अवस्था में भी वे विश्वास तभी सह्य हो सकते हैं जब किसी राज्य के अधिकारियों को आश्वस्त किया जाए कि इन विश्वासों को कभी भी कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सकता अथवा उन्हें यह विश्वास हो जाए कि यदि ये कार्यरूप में परिणत हो भी जाएँगे तो उन्हें सरलता से रोका भी जा सकेगा।

इसी तरह से राज्य की अधीनता स्वीकार न करने वालों को भी सहन नहीं किया जा सकता क्योंकि यह तो उस सत्ता के प्रति अस्वीकृति है जिस पर राज्य का अस्तित्व आधारित होता है। राज्य की सीमाओं में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को राज्य-सत्ता मान्य होनी ही चाहिए। फिर ऐसी अवस्था में भी स्वतन्त्रता की कुछ सीमा होती है परन्तु जहाँ तक वह सह्य हो। यदि कुछ नागरिक किसी विशेष कानून अथवा किसी निर्णय को अनुचित समझते हैं तो कभी उन्हें उनका उल्लंघन करने की अनुमति भी दी जा सकती है। पर यह इस शर्त पर ही संभव हो सकता है कि वे अन्य सभी कानूनों का पालन करने वाले हों और उनके इस एक कानून के उल्लंघन से हुकूमत पर कोई प्रभाव न पड़े। उदाहरण के लिए युद्ध-काल में यदि कोई राज्य सेना में अनिवार्य भर्ती का नियम घोषित कर देता है और कुछ नागरिक इस तरह की सैन्य-सेवा के लिए इन्कार करते हों और यह इसलिए कि वे लोग किसी विशेष युद्ध को अनुचित समझते हों अथवा उनका यह विश्वास हो कि सभी युद्ध अनुचित होते हैं तो उन्हें ऐसी सेवाओं से मुक्त किया जा सकता है। परन्तु यदि ऐसे लोगों की संख्या इतनी अधिक हो कि उनकी मुक्ति युद्ध की सफलता में बाधक हो अथवा उनकी स्वतन्त्रता राज्य की सर्वोच्च-सत्ता के प्रति अपमान का विषय बनती हो तो उन्हें छूट देना कठिन होता है। इसी तरह यह विचार किसी विशेष प्रकार के कर की अस्वीकृति में भी लागू किया जा सकता है कि उसे लगाने का ध्येय अवांछनीय है परन्तु यह तो स्पष्ट है कि इस तरह की छूट केवल इस आधार पर कभी स्वीकार नहीं की जा सकती कि दावा करने वाले लोग अल्पमत के सदस्य हैं और उनके विचारों को दबा

दिया गया है। यह गुण इस आधार पर मिल सकती है कि उससे किसी धार्मिक सिद्धान्त का उल्लंघन हो जाता हो अर्थात् इस प्रकार के यह मूल में एक धार्मिक बात ही होती है। समस्या से सम्बन्धित कठिनाइयों को प्रकाश में लाने और उन्हें दूर करने के सम्बन्ध में कुछ सामान्य विचार रखना और इतना ही कहना पर्याप्त होगा क्योंकि यहाँ अधिक विस्तार से लिखना तो इस विषय से दूर जाना है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि धार्मिक भावना कुछ किसी विशेष राज्य की सीमाओं से भी परे ले जाती है। अधिकतर पुराने धर्म मूलतः जातीय या वर्गों से सम्बन्धित होते हैं। उनमें पूजा का सम्बन्ध उस शक्ति से जोड़ा जाता है जो आस-पास के लोगों के विरुद्ध राष्ट्रीय जीवन का समर्थन और रक्षा करती है। आधुनिक अफ्रीका में इसी विचारधारा की एक सजीव पुनरावृत्ति दिखाई देती है। सभी महान् धर्मों का उत्थान भी इसी प्रकार से हुआ है। ईसाई धर्म में तो यह एक मुख्य तत्त्व रहा है जिसने यहूदी और ग्रीक लोगों के बीच की खाई को पाट दिया। स्टोइक लोगों में निश्चय ही एक दृढ़ धार्मिक भावना थी उन्होंने भी अपनी विश्व-बन्धुत्व की भावना द्वारा ग्रीस और रोम के प्रति इसी तरह की सेवाएँ की हैं। उनके पूर्व सुकरात और प्लेटो ने भी दैवी अवधारणा को नैतिक स्वरूप देकर नगर राज्यों को निकट लाने तथा एथेन्स और स्पार्टा के विरोधी आदर्शों के समन्वय का कार्य किया था। कैथोलिकवाद का उद्देश्य विश्वव्यापी धर्म बनने का था, परन्तु सारे संसार पर साम्राज्य स्थापित करने की भावना के साथ मिलकर यह अपने धार्मिक चरित्र को खो बैठा। यह ईश्वर और सीजर दोनों की एक साथ सेवाएँ कैसे कर सकता था? फिर यह स्पष्ट है कि कोई संगठन भौतिक रूप से विश्वव्यापी बनना चाहता है तो उसे सामान्य हित की पूर्ति के लिए संगठन की भावना से अनुप्राणित होना चाहिए और ऐसी भावना अपने मूल रूप में धार्मिक ही होगी। केवल आर्थिक योजनाएँ अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का अन्त नहीं कर सकतीं। अतः पूर्व और पश्चिम को एक साथ जोड़ने के लिए और उनके मेल से एक मौलिक विश्वव्यापी धर्म के विकास के अनेकों प्रयास किये गए। ऐसे प्रयासों से एक नया खतरा भी पैदा हो जाता है कि कहीं वे पहले के सम्प्रदायों की श्रेणी में एक नया सम्प्रदाय न खड़ा कर दें। इस पूर्व-कथित उद्देश्य को वर्तमान धर्मों के क्रमिक-विकास द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इन धर्मों में से प्रत्येक धर्म का उद्देश्य अपने सिद्धान्तों में से परम्परागत तत्त्व का परिशुद्धन करना ही होना चाहिए और उन मूल तत्त्वों को मान्यता दी जानी चाहिए जो सत्यं शिवं और सुन्दरं की भाँति शाश्वत होते हैं[१]।

अन्तर्राष्ट्रीय धर्म

१. टॉयनबी ; 'सिविलाइजेशन "दि वर्ल्ड आर्गेनिजेशन ; नॉर्थ्रोप 'दि मीटिंग "दि सिन्थीसिस ऑफ़ वर्ल्ड एप्रोच"।

पहले जो कुछ कहा गया है उससे यह प्रत्यक्ष मालूम होता है कि सभी धर्मों में दोष होते हैं सभी धर्मों की अपनी सीमाएँ होती हैं। मैं सोचता हूँ कि सावधानी से उनका अध्ययन करने वाले पाठक

६ धर्मों में दोष

इन तत्वों से सुपरिचित होंगे। उनमें से किसी के भी विशेष दोषों को यहाँ प्रदर्शित करना उचित नहीं है परन्तु सभी धर्मों के दोषों को गिना देना उपयुक्त होगा।

(१) अन्ध-विश्वास—अधिकांश धर्मों में अन्ध-विश्वास के कुछ तत्व मिलते हैं। अर्थात् उनमें ऐसे सिद्धान्त अथवा प्रथाएँ होती हैं जिन पर सावधानी पूर्वक चिन्तन करने पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता और उन्हें उचित नहीं बताया जा सकता।

(२) मूर्तिपूजा—अधिकांश धर्म प्रत्यक्ष रूप से सत्य और सुन्दर में पूर्ण निष्ठा न रखकर उन्हें कुछ प्रतीकों के पूजन के साथ जोड़ देते हैं जैसे अच्छाई अथवा हित के प्रतीक अथवा कुछ श्रेष्ठता के प्रतिपादक रूप को राज्य जैसे प्रतीकों के साथ जोड़ देना। परन्तु ये प्रतीक पूर्ण समर्पण के योग्य नहीं होते।[1]

(३) सिद्धान्तवाद—अधिकांश धर्मों में कुछ ऐसे सिद्धान्त होते हैं जो बौद्धिक चिन्तन के सामने टिक नहीं सकते परन्तु उन्हें धर्माधिकारियों की स्वीकृति प्राप्त होती है और उनका औचित्य भी इन्हीं के कथनों पर आधारित होता है।

(४) सम्प्रदायवाद-अधिकांश धर्म कुछ लोगों तक सीमित रहते हैं। वे या तो अन्य लोगों की प्रशंसनीय प्रथाओं का मूल्यांकन करने में असमर्थ होते हैं या इस तरह के लोगों के लिए रिमण्ट के इन मार्मिक शब्दों को प्रयुक्त किया जा सकता है जिन लोगों का एक दूसरे के प्रति घृणा करने का ही धर्म होता है वे एक दूसरे के साथ प्रेम करना क्या जानें!'

(५) धार्मिक कट्टरता—जब कुछ लोगों के सीमित दृष्टिकोण को ही निष्ठा अथवा भक्ति के योग्य ही समझ लिया जाता है, अपितु अन्यों की अपेक्षा जब उसे श्रेष्ठ भी मान लिया जाता है, तब उसे धार्मिक कट्टरपन कहा जा सकता है।

(६) दम्भ अथवा मिथ्याचार—मूलतः सीमित और अपूर्ण धर्म के प्रति नितान्त सच्ची भक्ति कठिन ही होती है। उस धर्म में विश्वास न होने पर भी दूसरों को दिखाने के लिए कुछ लोग भक्ति करते हुए नजर आते हैं। उनका इस तरह का कट्टरपन सरलता से ही दम्भ में रूपान्तरित हो जाता है। दिखाने के लिए किया गया विश्वास बहाना बनाने के विश्वास से कम नहीं है।

१. मूर्तिपूजा मूलतः प्रतीकवाद है। जब इस रूप को पूर्णतः समझ लिया जाता है तो फिर उसमें कोई नुकसान नहीं। हरेन्द्रनाथ घोष ने अपनी पुस्तक, जिसका उल्लेख किया जा चुका है में टिप्पणियाँ प्रस्तुत की हैं पृ. सं. ७२—७।

(७) व्यष्टिवाद—कुछ लोग अपनी परम्परागत सीमाओं अथवा दोषों से बचाव के लिए अपने व्यक्तिगत धर्म का प्रतिपादन करते हैं। यदि ऐसे लोग महान् मेधावी अथवा विलक्षण आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि वाले नहीं होते तो उनका यह कार्य परम्पराओं से भी अधिक सीमित रह जाता है।

(८) रहस्यवाद—व्यक्तिगत धर्म रहस्यवादी स्वरूप ग्रहण कर लेता है क्योंकि उसमें कुछ गौर अगम्य पहलुओं पर बहुत अधिक बल दिया जाता है और इस तरह से वह मानवता के आगे बढ़ने के संघर्ष को रोक देता है[1]।

(९) रूढ़िवाद—जब लोग वर्तमान धर्मों में दोष देखने लगते हैं और इन दोषों को दूर करने में असफल रहते हैं तो वे किसी एक धर्म को स्वीकार करने के लिए विवश हो जाते हैं। उसमें निष्ठा की कोई बात नहीं होती फिर भी उनकी परम्परा ऐसी होती है कि उसे एक ओर नहीं किया जा सकता। यह अवस्था कुछ अधर्म से दूर नहीं होती। यह ठीक ही कहा गया है कि जब मनुष्य धर्म छोड़ देता है तब मिथ्याचार आना शुरू करता है।

(१०) अधर्म—यदि धर्म का अर्थ सर्वोच्च के प्रति निष्ठा या भक्ति है तो अधर्म का अर्थ उस प्रवृत्ति से है जो पूर्ण निष्ठा से हीन हो। यह प्रवृत्ति एक ऐसे विश्वास के प्रति होती है जिसका अर्थ होता है कि न कुछ भला है और न कुछ सत्य इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता।

सामान्य निष्कर्ष स्वरूप यही कहा जा सकता है कि हम किसी धर्म को पूर्ण नहीं कह सकते अथवा उसे विश्व-व्यापक होने योग्य नहीं कहा जा सकता।

१० धर्म में प्रगति

परन्तु विभिन्न धार्मिक अथवा अधार्मिक प्रवृत्तियों में क्रमिक रूप से सुधार लाया जा सकता है। यदि हमारा सामान्य-कथन सही है तो धर्म के निष्कर्ष पर इतना कहा जा सकता है कि सभी मौलिक धर्मों का लक्ष्य कम या अधिक चैतन्य से यथार्थ और परम-तत्त्व को जानना और उसका साक्षात्कार करना है बस। धर्मों में कुछ धर्म ही ऐसे होते हैं जो यथार्थ तत्त्व के किन्हीं भी मूल्यों से युक्त नहीं होते। अतः यथार्थ धार्मिक भावना वाले सभी धर्म प्रगति करने वाले होते हैं[2] और वे क्रमशः अपनी सीमित अपूर्ण प्रवृत्ति को दूर करना सीखते रहते हैं। वे अपना ध्यान विशाल आदर्शों की ओर केन्द्रीभूत करते हैं—प्लेटो की भाषा में उस विशाल आदर्श की ओर जिस में वे सांसारिकता से मुक्त होकर शिव और सुन्दर के पूर्णत्व में दृढ़ता से निवास करते हैं।

---

1. कुछ भारतीय शैली के धर्मों में यह एक सामान्य दोष है। परन्तु मैं सोचता हूँ कि हरेन्द्रनाथ मैत्र ने यह दिखा दिया है कि यह जिन लोगों ने जितना मान लिया है उतना गंभीर नहीं है।
2. एडवर्ड केयर्ड: "दि एवोल्यूशन आफ रिलीजन" और "दि एवोल्यूशन आफ थियोलाजी इन दि ग्रीक फिलासफी"।

तृतीय अध्याय

संस्कृति का स्थान

१ संस्कृति का अर्थ

सम्पूर्ण पुस्तक में हमारा यह दिखाने का लक्ष्य रहा है कि समाज कोई अप्राकृतिक रचना नहीं है अपितु वह मानव की वास्तविक प्रकृति पर आधारित है। उसका लक्ष्य इस प्रकृति को पूर्णता पर पहुँचाना है। अतः हमें फिर व्यक्ति पर ही लौट कर आना पड़ता है। समाज मनुष्य के लिए बना है मनुष्य समाज के लिए नहीं बना। कभी-कभी कुछ अत्युत्साही लोग किसी विशेष सामाजिक ढाँचे के लिए विशेषतः चर्च अथवा राज्य जैसे विशाल संगठनों के लिए समाज की पूजा करते हैं। परन्तु प्लेटो तथा अरस्तू ने उसको नहीं भुलाया और न उसकी उपेक्षा की, यद्यपि कभी-कभी ऐसा समझा जाता है। प्लेटो ने अपने आदर्श समाज के विवरण को पूरा कर लेने पर यह सोचा कि ऐसे राज्य नहीं कहा जा सकता जिसका अस्तित्व धरती पर नहीं अपितु वह तो एक स्वर्ग की वस्तु होगी।" दूसरे शब्दों में आदर्श से ही श्रेष्ठ व्यक्तियों को प्रेरणा मिली है। धीरे धीरे वे उसके बिना भी प्रेरणा प्राप्त करते हैं जैसे उन्होंने पहले-पहल इसके असली तत्त्व को अपने अन्दर से पहचाना। इसी के अनुसार 'रिपब्लिक' के अन्तिम भाग में आदर्श राज्य को स्थान नहीं दिया गया, अपितु आत्मा के अन्तर्गत विकास को कुछ आलंकारिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।[1] ठीक इसी प्रकार से अरस्तू ने नागरिक गुणों के विवरण को प्रस्तुत करने के उपरान्त यह प्रतिपादित किया कि मानव-जीवन की उच्चतम उपलब्धि जिसे वह "दैवात्मिक-जीवन" कहता है[2] उसी में प्राप्त होती है। और फिर उसके आधार के रूप में, जीवन के व्यवहार में आने वाली सामाजिक क्रिया आवश्यक होती है। यह विचार इस विचार के विरुद्ध भी नहीं पड़ता कि मनुष्यों द्वारा प्राप्त किया जाने वाला हित एक सामान्य हित होता है क्योंकि

---

१ इस विषय पर कुछ टिप्पणियाँ आगे परिशिष्ट में मिलेंगी।

२ "एथिक्स" खण्ड १०

यह विशुद्ध रूप से निजी व्यक्तित्व का निर्माण करता है जिससे हम स्वार्थों की परिधि से बच जाते हैं और एक ऐसे आनन्द को प्राप्त करते हैं जिसमें सभी लोग भाग लेते हैं। इस प्रकार की उपलब्धि को संस्कृति शब्द से व्यक्त किया जाता है जिससे सामान्यतया शिक्षा का उसके उस व्यापक अर्थों में जिसमें यह जीवन के लिए तैयारी की अपेक्षा जीवन का उद्देश्य होती है प्रदर्शित किया जाता है।

शिक्षा के सीमित और व्यापक अर्थों के अन्तर को हम पहले देख चुके हैं। सीमित अर्थ में मुख्यतः इसको सामुदायिक-जीवन में सूत्रपात करने की एक प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है। व्यापक अर्थ में यह मानव की आध्यात्मिक प्रकृति का विकास है जिसका एक साधन सामुदायिक जीवन भी है। पहला अर्थ दूसरे अर्थ की एक पूर्वावस्था है। प्रत्येक व्यक्ति को किसी एक विशेष स्थिति और विशेष कर्तव्य के साथ विश्व नागरिक बनने से पहले किसी विशेष समाज का नागरिक बनना पड़ता है परन्तु जब किसी की शिक्षा पहली प्रक्रिया तक ही पूरी की जाती है तब उसके लिए यह एक बहुत भयंकर खतरे की बात होती है। आधुनिक काल में गेटे इसके एक उत्तम उदाहरण हैं। उसने अपनी शिक्षा कभी पूरी नहीं की वरन् वह सदैव एक बहुत व्यापक संस्कृति के अनुशीलन में अपने जीवन के उच्चतम शिखरों को यथासम्भव उच्च बनाने में लगे रहे। यदि ऐसे प्रयास सामाजिक उद्देश्य की अवधारणा से रहित होते हैं तो वे विशुद्ध स्वार्थ के रूप ही धारण कर सकते हैं। गेटे पर यह दोषारोपण किया जाता है कि उसमें मुख्य रूप से अपने देश के राजनैतिक विकास में स्पष्टतः रुचि लेने का नितान्त अभाव था और इसके साथ ही व्यक्तियों को विशेष प्रकारों और प्रभावों में प्रस्तुत करने की अपेक्षा स्वतन्त्र रूप में प्रस्तुत करने की एक प्रवृत्ति थी। परन्तु यदि यह दोषारोपण सही है तो यह उसकी आत्म-संस्कृति को सीमित करने की ओर संकेत है। शेक्सपीयर अथवा प्लेटो की समृद्ध मानवता अपने पूर्ण अर्थ में संस्कृति का एक सुन्दर उदाहरण हो सकती है। ऐसी सम्पूर्णता निस्सन्देह हममें से अधिक लोगों के लिए असम्भव होती है। विश्व-साम्राज्य कुछ ही चुने हुए लोगों के लिए सुरक्षित होता है परन्तु गुरुत्व के सापेक्ष उसमें सभी लोगों को स्थान मिलता है। लोगों की यह प्रवृत्ति रही है कि वे संस्कृति को विशेषाधिकार के रूप में प्रयुक्त करते हैं। इसे कई बार एक "सुन्दर-पुष्प" के रूप में व्यक्त किया है।[1] और शायद विद्वान् और भद्र

---

[1] इस तुलना का सर्वोत्तम प्रयोग टेनिसन के लार्डियन के इस कथन में मिलता है "एक पुष्प की तरह ज्ञान के भार को सहज रूप में वहन करते हुए।" (Bearing all that weight, of learning lightly like a flower.)

पुरुष'' के रूप में वर्णित किए जाने वाले किसी व्यक्ति के विशेषाधिकार के रूप में समझा जाता है। इसके विरुद्ध श्री टी० एच० ग्रीन ने मूसा की अभिलाषा कि "भगवान् के सभी लोग सिद्ध पुरुष होने चाहिएँ" का समर्थन करते हुए यह आशा व्यक्त की है कि एक समय आएगा जब प्रत्येक व्यक्ति अपने-आपको सही अर्थों में एक 'सत्पुरुष' के रूप में पहचानेगा और अन्य व्यक्ति भी उसे ऐसा ही समझेंगे। पर शायद यह शब्द अपने अप्रतिष्ठित अर्थ में इतना प्रचलित हो गया है कि इस अर्थ में विशेष सफलता प्राप्त वर्ग ही आता है। जर्मनी के 'कल्टर' शब्द के प्रयोग में यह गलती नहीं की गई परन्तु उसमें इसके विपरीत अर्थ का दोष है। वह किसी विशेष सभ्यता के सामान्य आधार के रूप में प्रयुक्त किया गया है और इसमें व्यक्ति-विशेष के निर्माण पर कोई विशेष बल नहीं दिया गया।[1] यदि हमारा 'संस्कृति' का प्रयोग वाग्बाजी में समाहित होता है, तो जर्मनी के प्रयोग में कृषि का भाव छिपा हुआ है, ऐसा दोषारोपण किया जा सकता है। मानव के व्यक्तित्व निर्माण की तुलना उचित रूप से 'पुष्प' अथवा जमीन के सुधार के साथ नहीं की जा सकती। इससे तो अधिक सुन्दर तुलना एक फल की वृद्धि के साथ की जा सकती है जो फल एक पेड़ में लगा होता है परन्तु अपने एक स्वतन्त्र जीवन का विकास भी करता है। मैथ्यू आर्नल्ड ने (स्विफ्ट का अनुसरण करते हुए) संस्कृति के तत्त्व को एक प्रकार के 'माधुर्य और प्रकाश' से बना बताया है। उनके वाक्य में कुछ मधुर भाव तो अवश्य आ गया है, परन्तु वह कम-से-कम उसके दोनों सामाजिक तथा वैयक्तिक पहलुओं पर प्रकाश डालता है। यदि हम इसके विशेष विषय और सम्बन्धों पर विचार करें तो हम उसकी प्रकृति को आसानी से समझ सकते हैं।

संस्कृति का पाण्डित्य प्रदर्शन से अन्तर दिखाने से उसके महत्त्व पर अधिक प्रकाश पड़ेगा। पण्डित वह कहलाता है जिसने कुछ विशेष वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त किया है परन्तु जो उसका मूल्य नहीं आँक सकता तथा जो महत्त्वपूर्ण और महत्त्वहीन में भेद नहीं कर सकता। यह शंका की बात है कि ब्राउनिंग का वैसा कारण स्वरूप कुछ पण्डित था-सा था यद्यपि उसे इस दोषारोपण से मुक्त किया जा सकता है क्योंकि उसने अपने मुख्य विषय के महत्त्वपूर्ण विश्लेषण को ध्यान में रखते हुए छोटी-छोटी बातों का वर्णन भी किया है ऊपर यह निर्णय करना कि "सीमा नहीं जानना" खतरे से भरा हुआ है। विशेष

१ संस्कृति और पाण्डित्य प्रदर्शन

---

१. 'संस्कृति' के लिए प्रयुक्त होने वाला जर्मन 'बिल्डुङ' शब्द इसके ठीक अनुरूप बैठता है।

योग्यता पाण्डित्य प्रदर्शन की ओर प्रेरित करती है[1]। यह बात विद्वानों तक ही सीमित नहीं है अन्य व्यक्तियों में दिखाव की बातें होती हैं वे भी पण्डिताऊ कहलाती हैं। पाण्डित्य प्रदर्शन सम्बन्धी तत्वों से जिस ध्येय का सम्बन्ध है उसे यदि दुकान के रूप में चित्रित किया जाए तो कोई बुरी बात नहीं होगी। किसी व्यक्ति की दुकान केवल दिखावे की हो सकती है अथवा वह एक सामान्य सूचना भर के लिए हो या जानकारी के किसी एक विशेष विभाग से सम्बन्धित हो सकती है वह एक 'दुकान' ही होती है। यदि उसके उचित अनुपातों और सम्बन्धों पर ध्यान नहीं दिया जाता तो उसे ठीक तरह से हृदयंगम नहीं किया जा सकता। सुसंस्कृत सधा हुआ व्यक्ति वह होता है जिसे कुछ उपयोगी ज्ञान होता है और जिसका वह सही मूल्यांकन करना भी जानता है तथा जिसे उचित स्थान पर संजोकर रखता है। किसी एक संगीतज्ञ को पण्डित कहा जा सकता है यदि वह अपनी विषय कला के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर विचार नहीं रखता। मिल्टन ने कम-से-कम ठीक पहचाना है कि—

'वह व्यक्ति जो इन आनन्दों का ठीक निर्णय कर सकता है
फिर उनके बारे में प्राय आन्तरिक विश्लेषण भी करता है अज्ञानी नहीं।'[2]

पर संस्कृति का परिष्कार भी जब अपनी स्वच्छन्दता को छोड़ देता है और एक दिखावा-मात्र रह जाता है तब वह वस्तुतः पण्डिताऊ कहला सकता है। एक 'सौन्दर्य-शास्त्री' भी ठीक उसी तरह से पण्डित कहला सकता है, जिस तरह से एक भाषा-शास्त्री। कभी कभी तो धर्म को किसी मत के कठोर कटघरे में बन्द कर दिया जाता है तो वह भी ऐसा ही बन जाता है। सही सुसंस्कृत व्यक्ति एक विषयज्ञ की अपेक्षा अध्यवसायी अथवा औचित्य काम करने वाला होता है। इतिहास की विशिष्ट वस्तुओं का निर्माण महान प्रेमियों सन्तों तथा वैज्ञानिक और कलाकारों ने किया है। किसी व्यक्ति के प्रेम का कारण उधार लिया हो सकती है परन्तु उधार लिया भी तब तक कुछ नहीं देती जब तक कोई व्यक्ति उससे सच्ची तरह प्रेम नहीं करता जैसे वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति से प्रेम किया था। पर शायद इस विषय की ओर आगे बढ़ाना भी एक पाण्डित्य-प्रदर्शन की ही बात होगी।[3]

---

१ इस विषय में न्यूमैन की कभी-कभी विरोधात्मक रूप से चेस्टरफील्ड के साथ तुलना की जाती है। उसके साथ न्याय कहाँ तक किया गया है उसका निर्णय देने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ, (मैं कुछ लोगों के साथ ऐसा सोचता हूँ)। परन्तु कम-से-कम हमें इसकी क्षतिपूर्ति तो करनी ही चाहिए। प्राय उसने सभी पक्षों के साथ न्याय चाहता है। और संस्कृति के प्रत्येक रूप की संभावना व विस्तार में दिखने की रहती है।

२ He who of these delights can judge, yet spare
To interpose them oft, is not unwise

३ मोफ्टेम का पाण्डित्य प्रदर्शन सम्बन्धी निबन्ध "एसी ऑन वैरायटी" ६, २४

विज्ञान को कभी-कभी संस्कृति के विरुद्ध भी समझा जाता है और यह तो स्वीकार करने की बात है कि इसके अनुशीलन के लिए अपनाये गए तरीकों को मुश्किल से ही सांस्कृतिक कहा जा सकता है। यही

१ विज्ञान का स्थान

बात साहित्य के अध्ययन के बारे में है पर वैज्ञानिक अध्ययन को इसके श्रेष्ठ ध्येय से पृथक करना उचित नहीं। यही बात मुख्य रूप से इसकी विषय-वस्तु के बारे में भी कही जा सकती है जब कि वे केवल तथ्यों के संग्रह तथा तकनीकी ज्ञान के समायोजन के रूप में व्यवहृत होते हैं। परन्तु विज्ञान के सांस्कृतिक महत्त्व को न समझे जाने का मुख्य कारण इस शब्द का संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होना ही है। किसी एक विषय में सही और व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करने को ही वैज्ञानिक अध्ययन कहा जाता है। गणित सम्बन्धी विज्ञान इस विषय में अत्यधिक सही व परंपरायस-से हैं। परन्तु यह शब्द मुख्यतः प्राकृतिक और भौतिक विज्ञानों के लिए प्रयुक्त होता है। विज्ञान के अर्थ में जर्मन शब्द 'विसेन्स काफ्ट' का प्रयोग कुछ अधिक व्यापक अर्थ में हुआ है। मानव प्रकृति मानव-समाज, मानव-संस्थाएँ, मानव इतिहास और मानवीय भाषाएँ ठीक उसी तरह से वैज्ञानिक अध्ययन के विषय हैं जिस तरह से निर्जीव प्रकृति की शक्तियाँ अथवा निम्नतर प्राणियों के जीवन। यदि यह सत्य मान लिया जाए (यद्यपि मैं सोचता हूँ कि यह पूर्णतः सही नहीं है) कि मानव-जाति का उत्तम अध्ययन मानव ही है तो फिर यह कहना भी उचित ही होगा कि इस अध्ययन का अनुशीलन वैज्ञानिक विधि से होना चाहिए। मानव-विज्ञान को साधारणतया उतना सही नहीं कहा जा सकता, जितने सही निम्नतर प्राणियों के विज्ञान अथवा गणित या अध्यात्म विज्ञान होते हैं। परन्तु प्राकृतिक विज्ञानों में भी सही होने का एक भ्रम होता है और जैसा कि अरस्तू ने कहा है कि संस्कृति में महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि उसमें किसी विषय विशेष के अनुसार जितने यथातथ्य की आवश्यकता होती है, उससे अधिक (यथातथ्य) की आशा नहीं की जा सकती। भौतिक वैज्ञानिक अध्ययनों के साथ निर्णय सम्बन्धी ऊहापोह और काल्पनिक अनुमान लगातार चलते हैं। हमारे ज्ञान और अनुमान के बीच के अन्तर को जानना जीवन का एक बहुत मूल्यवान पाठ है और विज्ञान के मुख्य विषयों (इतिहास सहित) के अध्ययन से यह बात और भी स्पष्ट और

प्रशंसनीय है। परन्तु उन्होंने ज्ञान के सही और असत्य प्रयोग में स्पष्ट अन्तर नहीं दिखाया। इसके साथ ही वे यह ध्यान देने में भी सफल नहीं हुए कि अध्ययन के साथ-साथ अन्य वस्तुओं का भी उसी तरह से मूर्खता से अनुशीलन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यह सही हो सकता है कि जर्मन जाति की संस्कृति का विनाश पांडित्य के रूप में होने के कारण हुआ पर इसके साथ ही उन लोगों में धन अथवा ऐश्वर्य या सैन्य-सेवा के अनुचित प्रयोग तथा परम-मूल्यों के प्रति समान रूप से अनादर भी उसके नाश के मूल कारण थे।

हृदयंगम हो जाती है। परन्तु वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा प्राप्त होने वाले पूर्ण सांस्कृतिक परिणामों को ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न विज्ञानों के अन्तर को समझा जाए। सम्भवतः यह सत्य है कि प्रारम्भिक शिक्षा में किसी विशेष विज्ञान का विशेष अध्ययन अच्छा नहीं होता, परन्तु उसके स्थान पर अपने चारों ओर बिखरे हुए पदार्थों का सामान्य अध्ययन अवश्य किया जाना चाहिए। शायद यह भी उतना कम सत्य नहीं है कि कुछ विशेष विज्ञानों के अध्ययन के बाद उनके सामान्य सम्बन्धों पर पुनर्विचार किया जाए और उनकी आधारभूत अवधारणाओं को पृथक करके देखने की चेष्टा की जाए। ऐसा करने से स्वभावतः तर्क और अध्यात्म विज्ञान के अध्ययन की प्रवृत्ति होती है। यह मानना कठिन है कि अध्ययन का यह क्रम स्कूल कालेजों के पाठ्यक्रम से सन्तोषजनक रूप से पूरा हो सकता है।[1] मौलिक अनुसंधान को छोड़कर भी वैज्ञानिक अध्ययन जीवन भर का कार्य हो सकता है और मानव प्रकृति तथा इस विश्व जिसमें हम रहते हैं के निर्माण के स्पष्ट ज्ञान की प्राप्ति ही सही अर्थों में मानव-जीवन का परम लक्ष्य कहा जा सकता है। यह विशुद्ध बौद्धिक लक्ष्य है यद्यपि कुछ आधुनिक लेखकों ने उचित ही यह प्रतिपादित किया है कि बौद्धिक लक्ष्य ही जीवन का केवल मात्र लक्ष्य नहीं परन्तु यह तो जीवन के लक्ष्यों में से एक है। बुद्धिजीवी होने के नाते हम इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहते कि हम सतत और अधिक प्रकाश अथवा ज्ञान की खोज करते रहें। आधुनिक प्रवृत्ति (व्यापक रूप से उपयोगितावादियों के कारण) यह है कि बौद्धिकता को बुरा भला कहा जाए और 'विवेकवाद' और स्वतन्त्र विचार आदि शब्दों का प्रयोग किया जाए, परन्तु यह प्रवृत्ति शोचनीय है। ज्ञान के समान कुछ अन्य वस्तुएँ भी हैं जिनका अपना महत्त्व होता है। परन्तु जब हम ज्ञान से सम्बन्धित होते हैं तो यह आवश्यक हो जाता है कि हम पूरी तत्परता से मैदान में उतरें और आगे बढ़ते जाएँ—प्लेटो के शब्दों में जहाँ तक तर्क हमें ले जाए। विश्वास करने की अपेक्षा किसी बात की खोज करना अच्छा है।

विज्ञान की अपेक्षा कला अधिक वैयक्तिक और अधिक सृजनात्मक होती है। जब विज्ञान मुख्य रूप से विश्लेषणात्मक है तो कला मुख्यतः समन्वयात्मक।

४ कला का स्थान

कला में किसी एक वस्तु, जिसका मूल्य होता है, का वैयक्तिक साक्षात्कार होता है इसके साथ ही कला अपने-आप-में दूसरों को प्रभावित करने वाली तथा 'शाश्वत-सामान्य' देने वाली सृजनात्मक व्याख्या है। संगीत में जैसा कि ब्राउनिंग ने कहा है कि दो ध्वनियाँ एक तीसरी ध्वनि में न होकर एक "सितारे में" परिवर्तित होती हैं। कला के कुछ सरल रूपों में तथा कुछ महान् व पूर्णरूप में भी

१ प्रो. बर्न "हायर एजूकेशन एण्ड वार"

कलात्मक व्याख्या इतनी स्पष्ट और अपरिहार्य होती है कि वह लगभग सभी की समझ में आ जाती है। दूसरे शब्दों में उसके परिणामोंके उचित मूल्यांकन के लिए विशेष व्याख्या आवश्यक होती है। परन्तु सभी स्थानों पर किसी के मस्तिष्क की एक सूक्ष्मात्मक व्याख्या ही दूसरों के हृदयों में प्रभाव उत्पन्न करती है।

जैसे विज्ञान का लक्ष्य 'सत्य' होता है उसी तरह से कला का लक्ष्य सौन्दर्य।[1] कला जिन पदार्थों को अपने उपयोग में लाती है वे अपने स्वरूप में भद्दे हो सकते हैं। और जिसे यथार्थवादी कला कहा जाता है उसमें वे प्राय: ठीक उसी रूप में होते हैं परन्तु एक कलात्मक रचना द्वारा उन्हें सौन्दर्यपूर्ण बना दिया जाता है। और यहाँ तक कहा जा सकता है कि केवल इसी प्रक्रिया से सौन्दर्य का कोई श्रेष्ठ रूप सदैव प्रशंसा का पात्र होता है। कुछ रंगों और ध्वनियों के सौन्दर्य तथा दृश्य रूप निस्सन्देह इतने आकर्षक होते हैं कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अत: संगीत व चित्रकला के चरम रूप असंस्कृत व्यक्ति को भी तुरन्त प्रभावित कर सकते हैं। सौन्दर्य के अन्य प्रकार कठिन होते हैं और उनको समझने के लिए जीवन की अनुभूति तथा कलात्मक रसास्वादन की प्रवृत्ति अत्यावश्यक होती है। प्रकृति में जिस तरह के सौन्दर्य को आज पहचानना हम सीख गए हैं वैसा आदिवासी लोग नहीं कर सकते थे। और कुछ अंशों में उन विकसित मस्तिष्क वाले लोगों के लिए भी समझना कठिन होता है जिन्होंने किसी विशेष दिशा में सोचना नहीं सीखा। कला को एक कलाकार की आँख से देखना पड़ता है चाहे वह एक प्राकृतिक वरदान हो अथवा वह कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रभाव हो। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि सौन्दर्यानुशीलन मानव जीवन के मुख्य कार्यों में से एक है तो संस्कृति का यह रूप कुछ अंशों में अनिवार्य ही समझा जाना चाहिए। इसमें एक भाव छिपा है जिससे कीट्स लोगों का यह कहना सत्य है कि सौन्दर्य सभी कला का परम लक्ष्य है। हम कीट्स की यह बात मानते हैं कि सत्य ही सौन्दर्य है परन्तु सत्य यदि सौन्दर्यान्वित नहीं तो वह पूर्ण तुष्टि प्रदान नहीं कर सकता। बुद्धिमान् बनना भगवान को वरदान समझा जाने पर भी मूर्खता नहीं कहलाएगा। यदि ऐसा हो तो भी बुद्धिमत्ता को केवल अन्तिम हित की बात नहीं कहा जा सकता और उसके द्वारा हम केवल यह कहने में ही समर्थ हों कि सब कुछ निःसार तथा आत्मा को क्लेश देना है। हम सत्य का अनुशीलन इस आशा से करते हैं कि विश्व में व्यवस्था हो तथा सौन्दर्य को अभिलषित अनुसन्धान का परम लक्ष्य स्वीकार करें।

१. देवीं तथा कुछ अन्य महानुभाव इससे असहमत प्रतीत होते हैं परन्तु मैं सोचता हूँ कि यदि सौन्दर्य को कुछ सीमित अर्थ में लिया जाए तो इससे असहमत किया जा सकता है। इसी विषय पर श्री आर० एच० कैरिट महोदय की पुस्तक 'प्यूरीज आफ ब्यूटीज़' देखें।

काव्यात्मक साहित्य को कला की श्रेणी में कहा जा सकता है और गद्यात्मक साहित्य भी जब वास्तव में साहित्य की परिधि में आ जाता है, तो उसे भी कलात्मक विशेषताओं से युक्त समझा जा सकता है।

२. साहित्य का स्थान कालरिज ने यह प्रतिपादित किया है कि कविता का विपरीत स्वरूप गद्य नहीं वरन् विज्ञान है। ऐसे सूत्र इसी विरोधी भावना को प्रकट करता है। परन्तु बहुत से साहित्य में कला और विज्ञान दोनों की विशेषताएँ समन्वित होती हैं। यह हमें यह बताता है कि सौन्दर्य क्या है परन्तु वह उसे शुद्ध कला की तरह अभिव्यक्त नहीं करता अपितु कुछ अर्थों में उसकी व्याख्या और विश्लेषण भी करता है। अधिकतर साहित्य के बारे में यह भी सत्य है कि यह एक काव्यात्मक-रूप में होता है परंतु जैसे पोप की अधिकांश रचनाएँ अथवा बहुत-सी कविता तथा कुछ भिन्न रूप में डार्विन की विचारात्मक तथा तार्किक रचनाएँ काव्य के रूप में आती हैं। ऐसी कविता को शुद्ध कला नहीं कहा जा सकता। साहित्य का सीधा सम्बन्ध सच्चाई के साथ है। उसका विशुद्ध विज्ञान और कला से यह अन्तर है कि विज्ञान सत्य से और कला सुन्दर से सम्बन्धित होती है। अतः सारांश में यह संस्कृति के सभी साधनों के साथ पूर्णतः मानवीय है अतः इसका वर्णन मानवता के रूप में किया जाना उचित है। यह उस मूल्य की व्याख्या करता है जिसे कला अभिव्यक्त करती है और उस सत्य को अभिव्यक्ति प्रदान करता है जिसे विज्ञान खोजता है।

व्यापक अर्थों में एक भाषा वालों का साहित्य ही लोगों में एक जैसी मानसिक स्थिति पैदा करने में सहायक होता है। कभी-कभी निस्सन्देह एक जैसी मानसिक दशा होना लोगों के लिए तुच्छतापूर्ण बात होती है। देश के विशाल भाग में वितरित होने वाले प्रातःकालीन दैनिक अथवा सायंकालीन साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं के समाचार और लेख अनेकों महत्त्वपूर्ण तथ्यों के बारे में जनता के एक विशाल समुदाय को समान किन्तु न नये विचार प्रदान करते हैं और इसी कारण उस समय की लोकप्रिय पुस्तकों की अधिक पूछ नहीं होती। अतः डिकिन्स जैसे लेखक को भी बढ़ते हुए सस्ते साहित्य की उपेक्षा निन्दा करनी पड़ी। परन्तु कम-से-कम ऐसा साहित्य भी सामान्यतः एक अंश की मात्रा में जो कुछ थोड़ा-बहुत अच्छा ही होता है तथा कुछ अंशों में लोगों को यह ज्ञान कराने में समर्थ होता है कि वे एक विशाल समुदाय के नागरिक हैं। इस प्रकार का ज्ञान लोगों में अपने सामुदायिक-जीवन के बारे में एक पूर्ण जानकारी पाने के लिए तथा आलोचनात्मक रूप से उसके मूल्यों को आँकने के लिए एक अनिवार्य इच्छा उत्पन्न करता है। इस तरह से यह लोगों को विज्ञान तथा कला के अध्ययन के लिए तैयार करता है जिसके लिए वे कठिनाई से ही तैयार हो पाते हैं। टालस्टॉय का उच्च कला के प्रति असंतोष सम्भव इसी

कारण था कि रूस में इस प्रकार की पृष्ठ-भूमि तैयार करने वाले साहित्य की तुलनात्मक रूप से कमी थी और इसके साथ ही, दूसरा कारण इस प्रकार की शिक्षा का अभाव भी था जो लोगों को ऐसी कला के उचित मूल्यांकन के योग्य बना सके। टाल्सटॉय सभी कलाओं को बच्चों के हृदयों में माता के दूध से तमाम प्रवेश कर देना चाहते थे पर कुछ ही कलाएँ ऐसी हो सकती हैं। ब्रिटेन में भी शिक्षा में विद्यमान अनेक कमियों के कारण साहित्य वह काम नहीं कर सका जो वह कर सकता है।[1]

दार्शनिक साहित्य भी इस प्रकार का साहित्य है जो पूर्व-वर्णित लक्ष्य को आत्यंतिक पूर्णता से सम्पन्न करता है। यह विज्ञान को सर्वोच्च महत्त्व देता है तथा काव्य और धर्म से उसे विभूषित करता है। आम

६ दर्शन का स्थान

तौर पर दर्शन में इन सब के अंश विशुद्ध वैज्ञानिक रूप में रहते हैं। तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान विशेषत इसी तरह के होते हैं तथा अध्यात्म-विज्ञान और नीति शास्त्र के चिन्तन के अनेकों अंश भी इसी तरह के होते हैं। पर दर्शन के अधिक परिकल्पित पहलुओं का लक्ष्य विश्व को एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण से देखना है। यही दृष्टिकोण काव्य की व्यापक अभिव्यक्ति तथा धर्म की गहन शिक्षाओं को एक घनिष्ठ बन्धन में बाँधता है। अरस्तू के कथनानुसार इतिहास की अपेक्षा कविता अधिक दार्शनिक है। इससे स्पष्टतः उसके महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है जिसका लेखा-जोखा इतिहास है, और इस प्रकार काव्य उसे दार्शनिक विश्लेषण के लिए तैयार करता है। ठीक इसी तरह विशेष प्राकृतिक विज्ञानों अथवा कम-से-कम जो प्राकृतिक-इतिहास की अपेक्षा अधिक दार्शनिक है। ठीक इसी तरह से धार्मिक समारोहों संगीतों तथा धार्मिक प्रेरणाओं का लक्ष्य विश्व और मानव जीवन के गहनतम रहस्यों को समझने की अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है और उसके बाद दर्शन-शास्त्र उसे एक वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास करता है।

संस्कृति के अधिकांश मूल्यवान् साधन जिनका हम उल्लेख कर चुके हैं वैयक्तिक अनुभूति के तुरन्त प्रयोग में ही निहित रहते हैं। हम अपने चारों ओर अपने भीतर प्राकृतिक पदार्थों में अपने साथियों के

७ वैयक्तिक अनुभूति का स्थान

जीवन में तथा अपने मन एवं आत्मा की क्रियाओं में संस्कृति तथा आत्म-विकास का अजस्र स्रोत उपलब्ध करते हैं परन्तु विश्व के अधिकांश तथ्य हमारे लिए

---

१. श्री मिडलटन मरी ने अपनी पुस्तक 'गोयटे' के १ व ३ में एक रोचक व्याख्या में कह रखा है कि धर्म और स्थापत्य-कला के कुछ रूपों में जिस अर्थ की पूर्ति की है आजकल उसकी पूर्ति साहित्य कर रहा है। साहित्य के सामान्य सामाजिक महत्त्व पर श्री जी जी सेंटिन की पुस्तक 'बेसिस आफ सोशल रिलेशन्स' पृ ४ १९४० देखें।

तब तक अन्धकारपूर्ण रहेंगे जब तक विज्ञान, कला, आलोचना तथा दर्शन उनकी व्याख्या नहीं करते। ये भी तब तक अन्धकारमय तथा निर्जीव ही रहेंगे जब तक उन्हें वैयक्तिक प्रज्ञा द्वारा हृदयंगम नहीं कर लिया जाता और फिर उन्हें अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति का एक अंग नहीं दे दिया जाता। संस्कृति के बिना जीवन असंस्कृत है और जीवन के बिना संस्कृति एक पाण्डित्य-मात्र है। शिक्षा का अधिकतम भाग यदि इस अनिवार्य संस्कार से हीन रहता है तो वह व्यर्थ होता है और यह बात केवल स्कूल व कालिजों में दी जाने वाली शिक्षा के लिए ही नहीं लागू होती वरन् आजीवन प्राप्त होते रहने वाली हमारी अपनी शिक्षा पर भी लागू होती है।

■ संस्कृति का सामाजिक महत्त्व

संस्कृति प्राथमिक रूप से एक वैयक्तिक सिद्धि है और यह कुछ लोगों की ही सिद्धि हो सकती है। पर यह स्पष्ट है कि जिस गुण की ओर इसका लक्ष्य है वह मूलतः व्यष्टिपरक नहीं है। यह उन कुछ एक मूल्यवान आभूषणों की तरह नहीं है जिनके लिए लोगों में प्रतियोगिता होती है तथा अन्त में जिन्हें कुछ एक विशेष भाग्यशाली लोग ही धारण करने के लिए विजयी हो सकते हैं पर उनकी अपेक्षा यह पारस्परिक मानवीय है और प्रमुख रूप से सभी लोग उसमें भाग ले सकते हैं। यह संघर्ष की ओर प्रवृत्त नहीं करती। जिन अंशों में नैतिकता को लिया जाता है उन अंशों में भी इससे संघर्ष नहीं होता। जिन अंशों में धर्म से संघर्ष होते हैं उनमें संस्कृति संघर्ष का कारण नहीं होती। यह स्वभावतः लोगों को एक दूसरे की भर्त्सना के लिए भी प्रवृत्त नहीं करती। कोई भी मनुष्य अथवा कोई भी राष्ट्र अपने संग्रहालयों और प्रयोगशालाओं में रखने के लिए पुस्तकों व वाद्य-यन्त्रों के लिए संघर्ष नहीं करते जैसे कि वे अपने भोजन व वस्त्र, सोने व लोहे के लिए संघर्ष करते हैं, जब कि कुछ लोगों के लिए दूसरे प्रकार की वस्तुओं की अपेक्षा पहले प्रकार की वस्तुएँ भी सरलता से प्राप्त नहीं होतीं। निस्सन्देह कुछ विज्ञानों, कलाओं के अधिकांश कला और दर्शन में तो अत्यधिक स्पष्ट रूप से कुछ विरोधी विचारधाराएँ हैं परन्तु अनेक संघर्ष सामान्यतः रक्तहीन और कटुतारहित होते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसा तब भी नहीं होता जब संस्कृति के विभिन्न विभागों के विचारों, भावनाओं और अभिव्यक्तियों में सम्पर्क स्थापित किया जाता है, प्रायः जैसा नैतिकता और धर्म की विभिन्नता के कारण होता है। संस्कृति का साम्प्रदायिक रूप मूलतः इसके प्रारम्भिक स्तरों में ही प्राप्त होता है। सरल कलाकार, आदिम वीर-काव्य, प्राचीन-गीत और नृत्य मूलतः एक सामाजिक तत्त्व से युक्त होते हैं। प्राकृतिक पदार्थों का प्रथम प्रारम्भिक अध्ययन और व्यक्तियों तथा जनता के कार्यों का इतिहास सामान्यतः पृथक्-पृथक् व्यक्तियों की अपेक्षा समूहों

द्वारा निर्मित हुआ है और अध्ययन के रूप में उसका मूल्यांकन भी उनके समूह को ही गौरव प्रदान करता है। इसके उपरान्त संस्कृति का रूप विशुद्ध वैयक्तिक बनता गया अथवा कम-से-कम कुछ चुने हुए लोगों की परिधि में सीमित होता गया। विज्ञान के कठिन वर्षों की खोज और मूल्यांकन लम्बे समय तक अध्ययन के बाद आता है। यही बात कला, साहित्य और दर्शन के अत्यधिक कठिन रूपों के बारे में भी लागू होती है—और विशेषतः जब उसे सुदूर युगों अथवा विदेशों से लाया जाता है। हेगेल महोदय ने यह कहा बताते हैं कि केवल एक आदमी ने उनके दर्शन को समझा, परन्तु उसे भी कुछ समझ में नहीं आया। इस जटिलता से सरलता की ओर जाने के भी कुछ मोड़ आए। शेक्सपीयर और मिल्टन के कुछ विस्तृत ज्ञानवस्तुयुक्त कठिन काव्यों के बाद बर्न्स और वर्ड्सवर्थ के सरलतम काव्यों के आगमन का युग भी आता है। विज्ञान की मूल अवधारणाओं को समझने के बाद उसके परिणामों को भी अधिक सरल और सर्व-जन सुलभ बनाया गया। साहित्य और दर्शन भी कुछ कठिन तथा अस्पष्ट भाषा से जनता की सरल और प्रवाहपूर्ण भाषा की ओर लौटे। टाल्स्टाय ने लोकतन्त्र को भी मान्यता न करने वाली अपनी धारणा से होमर और शेक्सपीयर से बहुत आगे निकल जाने पर यह प्रतिपादित किया कि मौलिक कला लोकप्रिय होनी चाहिए[1]। यह कुछ उसी विचार के समान है जिसके अनुसार स्वर्ग का साम्राज्य केवल बच्चों के प्रवेश के लिए है और उन बच्चों के लिए मानव के सुन्दरतम प्रयासों को बहुत कुछ अंशों में सुलभ बनाया जा सकता है। परन्तु इसके लिए पहले कई वर्षों तक अत्यधिक परिश्रम की आवश्यकता है। यहाँ तक कि वे भौतिक पदार्थ भी आज लगभग सर्वसाधारण के जीवन के लिए सुलभ हैं जिनके लिए पुराने समय में राजा लोग भी व्यर्थ तड़पा करते थे और यही बात कुछ अंशों में आध्यात्मिक पदार्थों के लिए भी सत्य है। पर अब इस बात के लिए आग्रह करना उचित होगा कि भविष्य की आशाएँ संस्कृति को अभिजात्य एकाधिकार से उबारने में ही हैं। पिरामिड, गिरजे, महाकाव्य, सैद्धान्तिक शास्त्र तथा विज्ञान व कला, अन्य पुराने राजमहल आदि पुराने युगों की अपनी गाथाओं का बखान करते हैं। पर यह सन्देहास्पद है कि क्या वे भविष्य में संस्कृति के नमूने होंगे अथवा उन्हें होना चाहिए या नहीं? भविष्य में कुछ धर्म-मन्दिरों, गिरजों की अपेक्षा अथवा उनके साथ-साथ हम एक बड़ी संख्या में सुन्दर तथा सुखद आवासों को देखने की आशा कर सकते हैं। देव तथा नायकों वाले महाकाव्यों अथवा शाही सामन्तों के हर्ष और शोक की अपेक्षा अथवा उनके साथ-साथ हम विजय के जमाने को लुटेरों के एक झुण्ड के बीच लुटते देखने की आशा भी करते हैं। पूर्ण मानव-जाति की सुन्दरतम अभिव्यक्तियों के रूप

1. "[illegible]" और रवीन्द्रनाथ टैगोर की "[illegible]" देखो।

में हमारे पास जो यान्त्रिक साधन हैं उनके द्वारा आज का हमारा कोई मजदूर अथवा किसी परिवार की कोई व्यस्त माता कला और विज्ञान के लिए थोड़ा-सा समय निकालकर सही अर्थों में सुसंस्कृत और सभ्य क्यों नहीं कहला सकते ?

अब हम देख सकते हैं कि किस अर्थ में शिक्षा को जीवन के लिए एक तैयारी की अपेक्षा एक लक्ष्य के रूप में वर्णित किया जा सकता है। यदि हमारा यह विचार सही है कि मानव का हित

४. मानव जीवन के लक्ष्य के रूप में संस्कृति

अपनी प्रकृति के उच्चतर तत्त्वों की पूर्णता में तथा उन्हीं साधनों के सहारे अपने निम्नतर-तत्त्व के नियमन में है तो यह स्पष्ट है कि संस्कृति के विविध रूपों में हम उसके क्रमिक साक्षात्कार को प्राप्त कर सकते हैं। सही अर्थों में एक सुसंस्कृत व्यक्ति मानव प्रकृति द्वारा प्राप्त करने योग्य परमहित को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि हम यह प्रस्तुत कर चुके हैं कि किसी विशेष प्रकार के ज्ञान अथवा सौन्दर्य के प्रतीक रखने वाले व्यक्ति को सही अर्थों में सुसंस्कृत व्यक्ति नहीं कहा जा सकता एक सुसंस्कृत व्यक्ति तो वह होता है जिसने ऐसे पदार्थों के प्रति किसी प्रवृत्ति का विकास किया है तथा जो मूलतः एक प्रेमी या अनुरागी होता है और वह प्रकृति व मानव-प्रकृति के सुन्दरतम रूपों की सराहना और इस प्रकार की सराहना करता है जिसे वह फिर स्वयं अपनाता है। यहाँ तक कि वह अपने पास कुछ भी नहीं रखता फिर भी उसके पास प्रत्येक वस्तु होती है यदि वह असफल भी रहता है तो भी उसे प्रशंसनीय विजय प्राप्त होती है। जैसा कि ब्राउनिंग कहते हैं[1]—

> प्रेम में सफलता है अवश्यंभावी
> एक प्राप्ति है, भ्रम नहीं कुछ भी क्यों न कुर्बानी करनी पड़े ?
> और कुछ पुरस्कार क्यों न हो सराहनीय पारितोषिक के रूप में
> एक पारितोषिक ही है वह।

---

1. In love success is sure
Attainment—no delusion, Whatsoe er
The prize be apprehended as a prize
A prize it is.
—Browning

उपसंहार

सामान्य-परिणाम

हम अपने मानवता-सम्बन्धी सामाजिक-जीवन के सर्वेक्षण को पूरा कर चुके हैं। अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाज का सामान्य ढाँचा किसी स्थान-विशेष या काल को छोड़ सर्वत्र मानव की वास्तविक प्रकृति पर आधारित होता है। उसका प्राथमिक आधार मानव की वर्गी अथवा पाशविक प्रकृति पर स्थित होता है और उसकी पाशविक आवेगों द्वारा पुष्टि होती रहती है। पर समाज की उसका अन्तिम रूप मानव की चिन्तन करने की नियामक शक्ति द्वारा ही प्राप्त होता है और यही उसके निर्माण का एक मूल-तत्त्व है। इस प्रकार से निर्मित समाज को स्थिर अथवा अपरिवर्तनशील संगठन के रूप में वर्णित नहीं किया जा सकता अपितु वह तो अनिवार्यतः विकासशील होता है। हमारी दर्शनात्मक प्रकृति वर्गी आवश्यकताओं और पाशविक इच्छाओं पर बहुत धीरे-धीरे आधिपत्य प्राप्त कर पाती है, पर हमारी यह विवेक-शक्ति भी स्वयं इस प्रकार की शक्ति है जो निरन्तर लक्ष्यों की प्राप्ति में प्रयत्नशील रहती है पर उन लक्ष्यों को शीघ्र ही प्राप्त नहीं किया जा सकता। हमारे लक्ष्य का कोई स्पष्ट और प्रत्यक्ष चित्र नहीं खींचा जा सकता। परन्तु वह एक ऐसा आदर्श होता है जो हमारे सामान्य-सिद्धान्तों में स्थिर और निश्चित रहता है। फिर भी उसके किसी विशेष पहलू में परिवर्तन भी हो सकता है। मानव-जीवन के अन्य पहलुओं की तरह इस पहलू के सम्बन्ध में भी यह संघर्ष द्वारा किया गया विमर्श अब भी रही है।[1]

१ सारांश

---

१. "Our destiny our being's heart and home
Is with infinitude and only there·
With hope it is, hope that can never die
Efforts and expectations, and desire,
And something evermore about to be." —Wordsworth

अपना भाग्य अपना हृदय ले कर
यह अनन्त है केवल नहीं है यह
भरा है यह उन आशाओं से जो मर नहीं सकतीं कभी
प्रगाढ़ आकांक्षाएँ और इच्छाएँ,
और भी अधिक बढ़ती हैं निरन्तर।

अतः हम अपने किसी विशेष पथ पर आगे जाने के लिए पथ-प्रदर्शन की आशा नहीं कर सकते वरन् जिस दिशा की ओर वह स्वतः ही बढ़ता है उसके सम्बन्ध में कुछ सामान्य सुझाव ही प्राप्त होते हैं।

२ समाज-दर्शन का व्यावहारिक मूल्य

अभी जो कुछ कहा गया है उसे ध्यान में रखते हुए यह स्वीकार किया जा सकता है कि समाज-दर्शन से भी सामान्य-दर्शन शास्त्र की तरह प्रत्यक्ष रूप से कोई भी व्यावहारिक परिणाम नहीं निकलते। समाज दर्शन हमें "रोटियाँ पकाना नहीं बताता" उससे हमें यह भी नहीं पता चलता कि इस काम के लिए क्या किया जाए। परन्तु यह स्वीकार कर लेने का मतलब यह नहीं होगा कि उसका कोई व्यावहारिक मूल्य ही नहीं। वह हमें अवश्य ही उन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को समझने में सहायता देता है जिन सिद्धान्तों द्वारा हमारा मार्ग निर्धारित होता है। इस पर बल देना आवश्यक है क्योंकि दर्शन-शास्त्र के कुछ विद्वान इस बात को मानने को तैयार नहीं। यह एक तथ्य है कि वैज्ञानिक अध्ययन का लक्ष्य केवल जो कुछ है उसे जानना अथवा उसकी पुष्टि करना है और कुछ लोग इसी विचार से मानव-जीवन के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। परन्तु यह विचार उस कथन के एकदम विपरीत है जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि मानव-जीवन वैज्ञानिक अध्ययन का विषय किसी भी रूप में नहीं बन सकता क्योंकि वह परिवर्तनशील है। वह परिवर्तनशील है परन्तु परिवर्तनशील इसलिए होता है कि उसका अपना एक आदर्श है और उसका ध्यान निरन्तर उस आदर्श की ओर रहता है। हम कह सकते हैं कि उस आदर्श का अध्ययन करने से क्या है का अध्ययन होता रहता है परन्तु उस क्या है का अर्थ वर्तमान अस्तित्व से तो नहीं लिया जा सकता वरन् उसका अर्थ यह है कि उसमें क्या है जो स्वरूप ग्रहण करेगा।

सामाजिक जीवन अत्यधिक जटिल है इसलिए उसमें व्यापार निश्चित सिद्धान्त प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। इस विषय में कुछ प्राचीन विद्वानों ने इस बात की उपेक्षा करने का यत्न किया है। उन्होंने सोचा कि मानव को विचारशील प्राणी के रूप में ही कल्पित कर लेना और साथ ही फिर उसके पथ प्रदर्शन के लिए कुछ अन्तर्-सिद्धान्त स्थापित कर देना ही काफी होगा। इसलिए इन अर्थ में विवेकवाद अथवा बौद्धिकता के सम्बन्ध में की गई आलोचनाओं

(यद्यपि प्रायः अति उग्र) को कुछ उचित समझा जा सकता है। विश्व-कोष निर्माताओं जैसे पेने गाडविन और उपयोगितावादी लोगों को इसके लिए दोषी ठहराया जा सकता है और सम्भवतः कुछ भिन्न प्रकार से कांट और हीगेल को भी। इस विषय में बर्क का विरोध कुछ मूल्य रखता है यद्यपि वह कुछ पक्षपातपूर्ण है। उसका कहना है हमें यह कहते हुए भय अनुभव होता है कि हम व्यक्तियों को यह राय दें कि वे अपने व्यक्तिगत (निजी) विवेक के भण्डार पर निर्भर रहें इससे अच्छा तो यह रहेगा कि लोग अपने राष्ट्रों और युगों से अर्जित निधि से लाभ उठाएं। हम यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य पशु और भगवान् के बीच की चीज है और वह पूर्णतः इन दोनों में से कोई भी नहीं है। इस बात को ध्यान में रखते हुए मानव-जीवन के सभी पहलुओं का एक कल्पनात्मक सूक्ष्म और वैज्ञानिक यथार्थता के साथ अध्ययन किया जाना चाहिए। जीवन की अनुभूति और कल्पनात्मक विचारों के फलितार्थों को एकत्रित किया जाना चाहिए। कवियों सिद्धों और उनके साथ ही चिन्तकों की सहायता ली जानी चाहिए।

यह सावधानियाँ बरतते हुए हम अपने सामने तुरन्त उपस्थित होने वाली कुछ व्यावहारिक समस्याओं के प्रति कुछ सामान्य विचारों को प्रयुक्त करने का प्रयत्न कर सकते हैं।

हम जो प्रगति करना चाहते हैं उसके लिए उतावलापन नहीं चाहिए। बेकन[1] के कहने के अनुसार हमें पुराने मार्ग पर दृढ़ रहना चाहिए तथा नये की प्रतीक्षा करनी चाहिए। एक सजीव वस्तु लगभग अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ती रहती है। केवल कभी-कभी

१ प्रगति की प्रमुख दिशाएँ

ही उसके जीवन को किसी तरह का नुकसान पहुँचाए बिना उसकी काट-छाँट करनी चाहिए या उसमें कलमें लगानी चाहिएँ। दूसरी तरफ जो निष्प्राण हो चुका है उसे पुनर्जीवित करना एकदम व्यर्थ होगा अथवा एक दूसरे रूपक के अनुसार एक सड़ी बोतल में ताजा शराब को भरना होगा। इन दो विरोधी खतरों के मध्य से हमें अपना मार्ग निकालने के लिए यथाशक्ति प्रयास करना होगा। जीवन भर के लिए हमारा प्रधान लक्ष्य हमारी प्रकृति के निम्नतर स्वरूप का नियन्त्रण और उसे उच्चतम से विभूषित करना होना चाहिए। इस तरह के नियन्त्रण के तीन प्रमुख रूप हो सकते हैं जिन्हें प्राप्त करना परमावश्यक है—(क) मानवीय प्रयासों द्वारा प्राकृतिक शक्तियों का नियन्त्रण (ख) साम्प्रदायिक-भावना द्वारा व्यक्तियों का नियन्त्रण (ग) आत्म-नियन्त्रण। इनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण आवश्यक होगा।

१ "एस्सेज XXIV

(क) प्रकृति पर विजय—प्रकृति की शक्तियों पर नियन्त्रण प्राप्त करने के महत्व पर बल देने की आवश्यकता नहीं। पिछली शताब्दी से पूरी पाश्चात्य सभ्यता किसी और बात की अपेक्षा इसी काम को पूरा करने में लगी हुई है और पूर्व ने भी इसी दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया है। परन्तु यह सारा कार्य कुछ अव्यवस्थित तथा अस्पष्ट दृष्टिकोण से किया गया है। हम स्वयं अपने उपकरणों के ही गुलाम बन गये हैं। एमर्सन के शब्दों में[1]—

यह भौतिकवादी युग है
जाल बनाये जाते हैं और अन्न पीसे जाते हैं
वस्तुएं सवार हैं अपनी पूर्ण सज्जा में
और मानव जाति तैयार है उनके उपभोग को।

आधुनिक समय में हमारी अधिकांश शक्ति विनाशक साधनों को तैयार करने में व्यय होती है और शेष शक्ति का अधिकांश भाग स्वयं के उत्पादनों और हानिकर विनाश के साधनों में नष्ट किया जा रहा है।[2] अब हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि मानवीय आवश्यकताओं की सही जानकारी प्राप्त करें और उन आवश्यकताओं की पूर्ति का सही साधन खोजें। अपने आपको बड़ा सभ्य मानने वाले देशों में भी अनेक लोगों को पर्याप्त भोजन-सामग्री पर्याप्त रूप से रक्षा करने वाले वस्त्र तथा जीवन के सही ढंग के लिए तथा निवास-योग्य मकान पाने में कठिनता होती है। हम केवल शरीर रहित आत्माएं ही नहीं हैं जीवन की बाह्य परिस्थितियां भी हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं। हैवेल द्वारा प्रसिद्ध कहावत की विकृति विस्मरणीय ही नहीं थी— "पहले भोजन और वस्त्र जुटाओ और स्वर्ग का साम्राज्य स्वतः ही तुम्हारे निकट आ जायगा।" विश्व के उष्ण भागों में जो स्पष्ट ही मानव-जाति के प्रथम निवास स्थान रहे हैं इस तरह की आवश्यकताएँ सम्भवतः कम कष्ट करने वाली रही हैं और इसीलिए इस तरह के प्रदेशों में उत्पन्न महापुरुषों ने अनेकों बार अपने उद्गारों में यह प्रकट किया कि 'आगे आने कल की तनिक भी चिन्ता मत करो।'[3] परन्तु यह बात भिन्न प्रकार के जलवायु वाले प्रदेशों के लिए उपयुक्त नहीं। कई बातों में तो हमने अपने जीवन के आदर्शों को पूर्वीय देशों

१ "Tis the day of the chattel
Web to weave and corn to grind
Things are in the saddle
And ride mankind.
—Emerson

२ जोआड की पुस्तक "सिविलिजेशन आफ डिकेडेन्स" में 'लगजरी एण्ड रिफाइनमेंट' निबन्ध देखें।

३ एक सामान्य अर्थ में तो यह उक्ति हमारे लिए भी अनुकूलवान् है केवल ध्यान रखना ही आवश्यक है।

से इतनी शासनपूर्वक ग्रहण किया है और उनका परिणाम यह निकला कि हमारे ध्येय और हमारी क्रिया में व्यवहार में दुर्भाग्यपूर्ण अन्तर आ गया है। यहाँ तक कि मिल्टन ने यह शिकायत की है कि शीत जलवायु ने उसके कल्पनात्मक कार्यों में रुकावट डाली है परन्तु बहुत-से लोग मिल्टन की बात की अपेक्षा शीत से अधिक पीड़ित हैं। कुछ लोग जीवन की सुविधा और विलासपूर्ण वस्तुओं को महत्त्व प्रदान करने में अनासक्ति दिखाते हैं परन्तु वे हमारी श्रेष्ठ शक्तियों के विकास के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओं के प्रति आँख मूँदकर कैसे बैठे रह सकते हैं? प्रमुख रूप से यह आवश्यक हो जाता है कि जीवन-सम्बन्धी इन बातों को व्यक्तिगत की अपेक्षा सामान्य-हित (Common-Good) के रूप में स्वीकार किया जाए। निश्चय ही ब्रिटेन के अधिकांश लोगों का भौतिक-स्तर चिन्ताजनक नहीं है और वे दूसरे अनेक देशों के लोगों से अच्छी स्थिति में हैं। हमारे नगर अधिक भीड़ वाले और गन्दे हैं। रस्किन की यह बात गलत नहीं है कि उन नगरों का अधिकांश भाग साफकर दिया जाना चाहिए। नगर और ग्रामों में अधिक समानता लानी चाहिए। गन्दी बस्तियों को छोड़कर करके सुन्दर मकानों का निर्माण किया जाना चाहिए। औद्योगिक-जगत् को सही ढंग से संगठित करना चाहिए ताकि व्यर्थ की प्रतियोगिता के बिना ही जीवन की आवश्यकताएँ आसानी से प्राप्त की जा सकें। परन्तु इससे हम स्वतः ही नियन्त्रण के दूसरे रूप पर पहुँच जाते हैं।

(ख) सामाजिक-नियन्त्रण—यहाँ सामाजिक संगठन के महत्त्व पर बल देने की आवश्यकता नहीं है। हम इसका महत्त्व पहले ही शिक्षा राज्य और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में देख चुके हैं। इस तरह के संगठनों को किसी विशेष दिशा में भावनात्मक रूप से विस्तृत करने के बारे में भी एक निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि इस समय शिक्षा अव्यवस्थित स्थिति में चल रही है और राष्ट्रीय क्षमता के लिए इससे अधिक घातक वस्तु कुछ भी नहीं हो सकती। फिर यह भी स्वीकार करना चाहिए कि हमारे शैक्षणिक-संगठन में इतना लचीलापन लाना अत्यधिक कठिन है जिससे यह वैयक्तिक आवश्यकताओं और योग्यताओं के अनुसार अपनायी जा सके। पर निश्चय ही यह आशा करनी चाहिए कि शैक्षणिक सोपान के उच्चतम लक्ष्य तक पहुँचने पर हमें शोध-कार्य के लिए उचित साधन प्राप्त होंगे और शिक्षा के निम्नतम लक्ष्य के अनुसार भीड़ भड़क्का कम कर सकेंगे और स्वतन्त्र विचार एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास के लिए सुनिश्चित कदम उठा सकेंगे। औद्योगिक जीवन में व्यर्थ की प्रतियोगिता को सावधानी से रोक दिया जाना चाहिए, जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ सभी के लिए मुहैया की जानी चाहिएँ तथा इस क्षेत्र में वैज्ञानिक विधियों का

प्रयोग भी अधिक पूर्णता से किया जाना चाहिए। राज्य-सम्बन्धी जीवन में इस बात से बचने के प्रयास किए जाने चाहिएँ कि राज्य कुछ आत्म-तुष्ट और स्वार्थी धनी लोगों के राज्य अथवा धनिक-तन्त्र में न बदल जाए अथवा वह एक अव्यवस्थित लोकतन्त्र का रूप धारण न कर ले। धनिक-तन्त्र स्पष्टतः केवल कुछ लोगों के अपने लिए ही कार्य करता है और दूसरे प्रकार का राज्य स्पष्ट रूप से यह नहीं देख पाता कि सब लोगों का हित किस बात में है। इन दोनों में कोई-सा भी सामान्यतः भविष्य के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से नहीं देख पाता। परन्तु सही रूप में परामर्शदात्री समिति सम्भवतः वास्तविक रूप में सहयोग देने वाली होती है। इसके लिए एक अच्छा मंत्रिमण्डल तैयार करना एक कठिन कार्य है परन्तु अराजकता और राष्ट्र के विनाश की बजाय कठिनाई का सामना करना उचित है। राष्ट्रीय जीवन में कला को प्रोत्साहन देने की कमी है। कला को विलास की वस्तु नहीं समझना चाहिए परन्तु प्रत्येक के जीवन के लिए एक आवश्यक वस्तु समझना चाहिए। यह बड़े खेद की बात है कि हमारे पास अभी तक भी एक राष्ट्रीय रंग मंच नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास में हम पहले जो कुछ कह चुके हैं उससे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

(१) आत्म-नियन्त्रण—आत्म-नियन्त्रण हमें फिर शिक्षा की ओर ही लाता है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि एक नैतिक शिक्षा जीवन की तैयारी और उसके परम-लक्ष्य के रूप में दोनों कार्य करती है। हमें शिक्षा के सम्बन्ध में खाली बर्तन में ज्ञान को भरने और अलाउद्दीन के जादू के चिराग वाली पुरानी अवधारणा से छुटकारा पाना होगा वरन् उसे बुद्धिमत्ता रूपी कोष के रूप में समझना चाहिए जिससे हमें आदर्श समाज बनाने में सहायता मिले। हमें इस चरित्र को दृढ़ बनाने निम्न आवश्यकताओं का नियमन पाशविक प्रवृत्ति पर नियन्त्रण और उच्च आकांक्षाओं को सही मार्ग दिखाना समझना चाहिए। अपने निश्चित ढंग की प्रकृति के निम्नतर-तत्त्वों का एकदम उन्मूलन व्यर्थ होगा परन्तु हम उन्हें एक नवीन दिशा की ओर मोड़ सकते हैं। इस तरह उन्हें अपना सेवक बना सकते हैं। उदाहरण के लिए युद्ध की नैतिक समता को एक खेल में रचनात्मक-कला में विज्ञान सम्बन्धी साहसिक कार्यों में और मानव प्रकृति के प्रति दृढ़-निष्ठा में बदला जा सकता है। युद्ध का वास्तविक मूल्य इस बात में है कि वह लोगों का संगठित करता है और उस समय वे अपने सभी अपने विशेष स्वार्थों को लगभग पूरी तरह से भूल जाते हैं। उस समय एक छोटे से छोटा व्यक्ति भी अपने स्वार्थ को सर्वसाधारण के हित के प्रति बलिदान कर देता है। उसमें एक वीरता-पूर्ण आत्म-बलिदान की भावना आ जाती है और भय दूर हो जाता है।

इस प्रकार युद्ध सभी लोगों में कुछ गुण पैदा करता है इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। जहाँ तक युद्ध इस प्रकार के गुणों और भावनाओं को प्रोत्साहन देता है वहाँ तक तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि युद्धात्मक भावनाओं को उत्तेजित करने वाले राष्ट्र सदैव किया शील और प्रमुख बने रहते हैं।[1] पर इस प्रकार की भावनाओं को प्रोत्साहन तो संघर्ष के स्थान पर प्रेम की भावनाओं के द्वारा दिया जाना चाहिए, जीवन के विनाश के स्थान पर सुसंस्कृत-जीवन के पुनर्निर्माण में योगदान किया जाना चाहिए। इस प्रकार के कार्य तो निश्चय ही युद्ध की भावना को बदल सकते हैं उसका स्थान ग्रहण कर सकते हैं और इसके साथ ही वे मानवता का विनाश कर देने वाली भावनाओं को भी परिवर्तित कर सकते हैं। पर यह सब कुछ तभी सम्भव है जब उन्हें उनसे उच्च और अधिक प्रभावपूर्ण कार्यों में विलीन कर दिया जाए। दुर्भाग्य से लोग सर्व-साधारण की प्रसन्नता और समृद्धि के विचार की अपेक्षा आने वाले संकट के भय के कारण अधिक तत्परता के साथ संगठित हो जाते हैं। यहाँ तक कि पशुओं के झुण्ड भी सामान्यतः खतरे के समय इकट्ठे हो जाते हैं और सुरक्षा के समय वे बिखर जाते हैं। 'सहानुभूति' का अर्थ *संकट में समुदाय निर्माण है। किसी हित वाले कार्य के लिए व्यापक समुदाय* बनाना अत्यधिक कठिन है। ऐसा दीखता है कि इस प्रकार का कार्य तभी सम्भव हो सकता है जब इस प्रकार की भावना पैदा की जाए जिसे धार्मिक भावना कहते हैं। परन्तु इस बात का कोई बदल खोजने के लिए हमें वही करना पड़ेगा जैसा कि जर्मन लोगों ने किया था। विशेषतः ई॰ स्पूरिंग ने धर्म के बदल के सम्बन्ध में एक पुस्तक (Ersatz der Religion) लिखी है। यहाँ तक कि ब्रिटेन में डार्विन का यह विचार था कि धर्म का स्थान विज्ञान और गृहस्थ-सम्बन्धी प्रेम ही ले सकते हैं परन्तु यदि हम धर्म का अर्थ जैसा हम पूर्व अध्यायों में वर्णित कर चुके हैं वैसा लेते हैं तो कोई भी चीज उसका सही बदल नहीं हो सकती। वरन् शिव और सुन्दर' का स्थान कोई भी चीज ग्रहण नहीं कर सकती। धर्म का बदल अपने पूर्ण अर्थ में धर्म ही है। और जब मानव की महत्त्वाकांक्षाएँ भ्रमित हो जाती हैं और उसके प्रयास निराशापूर्ण हो जाते हैं तब उनका स्थान धर्म ही ग्रहण कर सकता है। हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि धर्म सम्बन्धी एक वास्तविक कठिनाई हमारे सामने यहाँ आती है। यदि धर्म का लक्ष्य पूर्वोक्त है तो यह ऐसा होना चाहिए जो बिना प्रतिबन्ध के मानव-मात्र को आकर्षित कर सके। इसे प्रतिमा-पूजन और अन्धविश्वास-जैसे कलंकों से पूर्णतः निर्मल होना चाहिए। उसका सामञ्जस्य हमारे स्वयं तथा विश्व-सम्बन्धी ज्ञान के

१ अकबर, जो शायद चिरस्थायी शान्ति के महान् प्रचारकों में से इस तथ्य से पूर्णतः परिचित थे।

साथ पूरी तरह से होना चाहिए। परन्तु यह तुरन्त कार्य-रूप में परिणत हो सकना इसकी हम आशा नहीं कर सकते और जो लोग इस बात के अभाव को बहुत अनुभव करते हैं उन्हें कुछ धैर्य रखना पड़ेगा। धर्म जितना अधिक मानव हितों से ऊँचा होता है उतना अधिक ही उसके दावों को सहन करना असह्य हो जाता है। यह भी सही है कि उसके किसी सार्वजनिक रूप में दोष अवश्य उत्पन्न हो जाते हैं। और फिर कभी ऐसा समय भी आता है जब इस प्रकार के दोष विशेष रूप से स्पष्ट हो उठते हैं। कभी-कभी तो कुछ जीर्ण-शीर्ण मत इतने घृणास्पद हो उठते हैं और रोमन औगरों की तरह उनके पुजारी उपहास के पात्र बन जाते हैं। उस समय वाल्टेयर जैसे सुधारकों को सामने आना पड़ता है। परन्तु धर्म के विशेष विरोधी और उसके समर्थकों को भी सहनशील होना चाहिए। अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि विभिन्न धर्म मानव-विकास के विभिन्न स्तरों के लिए उपयुक्त रहे हैं और किसी को कोई अच्छा धर्म दिये बिना उसके अपने धर्म से वंचित करना उसमें से दिल निकाल लेने के समान होगा। मीन-मेख वाली प्रवृत्ति निश्चय ही प्रोत्साहन देने योग्य नहीं यह एक पागलपन ही है। सामान्यतः यह मान लेना गलती है कि जीर्ण-शीर्ण धर्मों को कुछ पुजारियों की धूर्ततापूर्ण युक्तियों ने जीवित रखा है। ऐसे धर्मों की तो उन अधूरे ढंग से शिक्षित लोगों को आवश्यकता थी और वहीं उन्हें बनाये हुए थे क्योंकि बुद्धि उन्हें मानने को तैयार न थी। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि दुर्बल बुद्धि वालों की देखभाल धर्म के प्रमुख कार्यों में से एक है। दूसरी ओर बुद्धि की दुर्बलता प्रारम्भिक शिक्षा के दोष-पूर्ण होने के कारण ही होती है और इस दोष को दूर करना धार्मिक संस्थाओं का ही कार्य है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि वैज्ञानिक उन्नति में रुकावट उन लोगों ने डाली है जिनसे यह आशा की जाती थी कि वे पूर्ण विकास के इच्छुक हैं। यह स्वीकार करने की बात है कि इस मामले में कोई सार्वभौम समझौता नहीं हो सकेगा और न यह आशा की जा सकती है कि कोई संगठन यह कहे कि वह ज्ञान सत्यों से पूर्णतः मुक्त है। प्रतीकवाद दृष्टान्त-कथाओं और अन्य धार्मिक प्रकार की सदैव आवश्यकता रहती है। धर्म के सम्बन्ध में सबसे बड़ी आवश्यक चीज सहिष्णुता और निश्छलता की आवश्यकता है। मैं इस सम्बन्ध में ब्रिगाल्डिक[1] के शब्दों को अन्तिम मानता हूँ—"धर्मोपदेशक ने कहा है कि एक समय होता है जब बोलना चाहिए और दूसरा ऐसा समय होता है जब शान्त रहना चाहिए, परन्तु इस प्राचीन ज्ञान को अभी तक अमल में नहीं लाया गया। पर उस प्रचारक ने यह नहीं कहा कि एक समय सत्य बोलना चाहिए और दूसरे समय में झूठ। और मैं यह सोचता हूँ कि धार्मिक मामलों में ईसाई लोग भी इस दूसरी बात को नहीं मानेंगे। जब

[1] 'मॉडर्न पैगनिज़्म' पृ० १७८—६।

धर्म का रूप इतना भ्रष्ट हो जाता है और उसमें ऐसी कोई बात नहीं रह जाती जिस पर विश्वास किया जा सके ऐसी अवस्था में हम यह कह सकते हैं—

"दो हाथों वाला इंजन द्वार पर खड़ा है तैयार
टक्कर मारकर नाश करने को एक ही बार नाश करने को।"[1]

एक उच्च स्तर की वस्तु का भ्रष्ट होना लम्बे काल तक सहन नहीं किया जा सकता।

इन सभी बातों पर चिन्तन के उपरान्त हम यह कह सकते हैं कि मानव जीवन को आगे बढ़ाने के लिए प्रयास सरल काम नहीं है, और यहाँ हम मानव जीवन की प्रगति में आने वाली कठिनाइयों पर विचार करेंगे।

४ प्रमुख खतरे

निश्चय ही एक मानव-विश्व अथवा आदर्श राज्य की स्थापना सरल कार्य नहीं और उसके लिए कोई भी सुनिश्चित राज मार्ग भी नहीं[2] अथवा वह व्यवस्था या सौन्दर्य स्थापन भी सरल नहीं जैसा ब्लेक ने पेकसलम के महल के सम्बन्ध में वर्णित किया है, क्योंकि अलादीन ने भी जब जादू का महल बनवाकर लिया तो एक दुष्ट जादूगर उसे दूर देश में उड़ा ले गया। और जब अलादीन को वह महल फिर से मिल गया तो उसे महल में एक पक्षी का अण्डा लटकाने को राजी कर लिया गया जो अन्ततः उसका विनाश सिद्ध हुआ। ऐसे दुष्ट जादूगर और ऐसे ही विनाशकारी अण्डे सदैव हमारे साथ रहते हैं अथवा सैद्धान्तिक भाषा में हमारी गणना भी राक्षसों में होती है परन्तु राक्षस अनेक रूप धारण करता है परन्तु हम यह आशा नहीं कर सकते कि हम उसे सभी रूपों में पहचान लेंगे या उसका पीछा कर सकेंगे। प्रगति से सम्बन्धित प्रमुख खतरों की ओर संकेत हम पहले भी कर चुके हैं। पतन का मार्ग उन्नति के मार्ग से विपरीत होता है परन्तु हमारे लिए यह जानना कठिन होता है कि वास्तव में हम किस मार्ग पर चल रहे हैं। हम पतन की ओर ले जाने वाली प्रवृत्तियों पर संक्षेप में प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे—

(१) धर्मों आवश्यकताओं की प्रमुखता—हमारी सभी आवश्यकताओं में धार्मिक आवश्यकताएं सार्वभौम और स्थायी रूप से सर्वोपरि हैं और उनसे

---

१ Two-handed engine at the door
Stands ready to smite once and smite no more.

२ I will not cease from mental fight
Nor shall the sword sleep in my hand
Till we have built Jerusalem
In England a green and pleasant land.
(मैं रुकूँगा नहीं मानसिक-संघर्ष से नहीं तलवार सो जायगी मेरे हाथ में
जब तक हम बना नहीं लेते हैं जेरूसलम इंग्लैण्ड की हरित व सुरभित भूमि में।)

निरन्तर यह भय बना रहता है कि कहीं वे अन्य सभी से प्रमुख न हो जाएँ। बहुत-से लोग केवल अपने अस्तित्व के संघर्ष के अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकते और यद्यपि धन के लिए संघर्ष सामान्यतः सुख और शक्ति के लिए संघर्ष होता है कभी-कभी यह स्वतन्त्रता और सौन्दर्य और कभी केवल जीवन के अस्तित्व की अपेक्षा-श्रेष्ठ हितों के लिए भी होता है फिर भी प्राथमिक रूप में वह भौतिक पदार्थों से ही सम्बद्ध होता है और शक्ति भी अधिकांशतः इन पर अधिकार और स्वामित्व प्राप्त करने पर ही प्राप्त होती है। मानव जीवन पर इस घटक का इतना प्रभाव है कि लगभग सरकार की प्रत्येक पद्धति कुछ अंशों में धनिकतन्त्रात्मक होती है। किसी ऐसी पद्धति का निर्माण अत्यधिक कठिन है जो इस बात को पूर्णतः रोक सके। फिर भी इसमें अधिक सामान्य हित के लिए घातक कोई और चीज नहीं हो सकती। यद्यपि यह पूर्णतः सत्य है कि सभी संघर्ष आर्थिक होते हैं पर ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि उन सभी के साथ आर्थिक भावनाएँ भी मिली हुई रहती हैं।

(२) पाशविक प्रवृत्तियों की प्रबलता—प्रमुख पाशविक प्रवृत्तियाँ प्रेम और संघर्ष हैं। इन दोनों का ही मानव प्रकृति से गहरा सम्बन्ध है। प्रेम स्वतः ही एकत्व की ओर ले जाता है परन्तु सामान्यतः इस प्रकार की एकता सीमित होती है। एक प्रकार की एकता दूसरों का विरोध करती है और इस प्रकार वह अत्यधिक तीव्र संघर्ष का आधार बनती है। व्यक्तियों में प्रेम कभी-कभी ईर्ष्या और द्वेष का कारण भी बन जाता है कुछ लोगों की एकता दूसरों के विरोध को भड़काती है यहाँ तक कि मानव भ्रातृत्व की भावना रोष और असहिष्णुता का स्थान ग्रहण कर लेती है। कार्लाइल के अनुसार घृणा एक प्रकार का 'परिवर्तित-प्रेम' होता है। ये भी आदम के बच्चे हैं—अरे हाँ मैं इन्हें सदैव याद रखूँगा मत क्रोध और शोक को कभी नहीं भूलूँगा।[1] मानव-प्रकृति से संघर्ष को समाप्त करना इसकी एक सजीव शक्ति को नाश करने के समान होगा। हमें युद्ध की नैतिक समप्रभावी वस्तु निर्दोष प्रतिद्वन्द्विता में प्राप्त हो सकती है, परन्तु खेल को घातक सुविधा द्वारा ही सरलता से बदला जा सकता है। लोग दैनिक संघर्षों को तब तक पसन्द नहीं कर सकते जब तक उनमें केवल युद्ध को ही महत्त्वपूर्ण समझने की प्रवृत्ति पैदा न हो जाए। संघर्ष को एक नवीन उत्साह द्वारा ही रोका जा सकता है परन्तु नवीन उत्साह को पैदा करना सरल कार्य नहीं है और फिर नवीन उत्साह शान्ति नहीं संघर्ष पैदा करेगा।"

(३) मानसिक मनोवृत्ता—मानव की निम्न प्रकृति पर नियन्त्रण करने की चेष्टा भी विनाशात्मक प्रवृत्ति की ओर प्रवृत्त कर सकती है। जीवन वस्तुतः एक वर्तमान वस्तु है उसे शब्दों के भार के नीचे सरलता से कुचला जा सकता है—

[1] सैटर्डे पैम्फलेट १।

चाहे वह अन्य बहुत ही पूर्ण क्यों न हो। कभी-कभी विचार वस्तु पाण्डित्य द्वारा लगभग नष्ट कर दिए जाते हैं जो पाण्डित्य कभी-कभी सिद्धान्तवाद का रूप धारण कर सकता है जैसे कठोर यान्त्रिक-तन्त्र के द्वारा नियमित औद्योगिक मशीनरी का प्रयोग लाभ की जगह हानिप्रद अधिक हो सकता है। इसी प्रकार से राष्ट्रीय-जीवन का स्वतन्त्र विकास निरकुंशता के आखिरी सहारे आत्माहीन नौकरशाही द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। आधुनिक काल में संगठन के व्यापक विकास के शानदार उदाहरण जर्मनी और जापान हैं।[1] और इन दोनों देशों में राष्ट्रीय जीवन की विभिन्नताओं का विनाश ही हुआ है। ब्रिटेन में भी एक बार यह विशेष खतरा पैदा हो गया था पर अब वैसा भय नहीं रहा। हीने ने कहा है कि इंग्लैंड में मशीनें जीवित लोगों के समान हैं और जीवित लोग लगभग मशीनों की तरह बन गए हैं। परन्तु इस समय यांत्रिक पूर्णता की आशा हम जर्मनी से ही कर सकते हैं।

(४) अराजकता—यह मान लेना भी निरर्थक है कि संगठन के इन खतरों से मुक्ति हमें अराजकता से मिल जाएगी। प्रो० बर्गसन ने व्यवस्था के विरुद्ध यान्त्रिक स्वरूप को असन्तोषप्रद बताया है परन्तु उन्होंने इस जैव-शक्ति के स्वच्छन्द कर्तृत्व की बात को प्रोत्साहन भी बहुत दिया है। इस तरह की जैव-शक्ति में एकता नहीं होती अपितु उसमें अनेकों संघर्षात्मक प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं और उन्हें विचार-शक्ति द्वारा नियन्त्रित करना पड़ता है। हम यह भी आशा नहीं कर सकते कि हम केवल वैयक्तिक विचारों को व्यवहार में लाने से मुक्ति मिल जाएगी। मैं सोचता हूँ कि प्रो० स्मास ने यह सही ही कहा है[2] कि समाजीकरण के आग्रह द्वारा व्यष्टिकरण की कल्पना की अपेक्षा समाजीकरण के गुणों द्वारा व्यष्टिकरण का नियम हमारी पीढ़ी की आवश्यकता के लिए एक विशेष शिक्षाप्रद हो सकता है। व्यष्टिवाद के स्थूल रूप को अमान्य ठहराया जा चुका है। ब्रिटेन में भी लोगों की इस प्रवृत्ति का निराकरण अनिवार्य ही होगा जैसा मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है[3] 'एक व्यक्ति जहाँ चाहे वहाँ जा सकता है जिससे चाहे वह घृणा करे जिसे चाहे उसे पसन्द करे जिसे वह चाहे नष्ट करे।' परन्तु वहाँ के भी कुछ विशेष समाजों में कुछ व्यक्तिगत लोगों के प्रति कोमल धारणाएँ होती हैं जिनसे संघर्ष से बचकर अपने व्यक्तित्व की संस्कृति में शान्ति प्राप्त करने का प्रयास होता है। निःसन्देह यह बात

---

१. बेंजामिन किड महोदय ने अपनी अभी प्रकाशित कृति "साइंस ऑफ पावर" पृ० सं० १०७—८ में इस पर बलपूर्वक प्रकाश डाला है। बर्गसन का निबन्ध भी देखिए, उस में ऐसे संगठन के दोषों पर बल दिया गया है।

२. "प्रमाण सोशियालाजी" पृ० सं० ४७८।

३. "कल्चर एण्ड अनार्की"।

पश्चिम की अपेक्षा पूर्व में अधिक सामान्य रही है। भारतीय रहस्यवादी अथवा मध्यकालीन साधु-महात्मा उस जीवन से बहुत दूर थे जिस जीवन से हम प्राय परिचित हैं। पर अब भी वे लोग ऐसे कलाकार अथवा स्वप्नद्रष्टाओं को नहीं चाहेंगे जो अपने लिए पूर्णत भिन्न मार्ग नहीं चाहते। यह अधिक उत्तम है कि वे तत्कालिक कार्यसाधकों को अपनाएँ और इसके उपरान्त वे अपने ज्ञान की खोज के परिणामों से समृद्ध हो सामान्य-जीवन में पुन लौटें अन्यथा उनकी स्थिति प्लेटो द्वारा वर्णित गुफा के अपराधी जैसी होती और वे मानव जीवन की समस्याओं को सुलझाने की अपेक्षा असमर्थ ही हों। फिर भी यह स्वीकार्य होना चाहिए कि वैयक्तिक आत्म विकास में एकाग्रता के अतिरिक्त ऐसा अन्य कोई रूप नहीं है जिसमें प्रकाश के देवता की तरह चमकता हुआ मनुष्यत्व स्वयं अवतार धारण करता जाता है।

(५) रूढ़िवाद—यदि कोई सभ्यता ऊपर दिखाए खतरों से बचकर अपना निर्माण करती है तो वह अपने उन्नयनशील प्रयासों को निरन्तर नवीन बनाए बिना सुरक्षित नहीं रह सकती। एक सुदृढ़ सभ्यता के लिए सबसे बड़ा खतरा सामान्यत यही है कि वह अपने भूतकाल पर आधारित रहती है। यूरोप की पुरानी सभ्यताओं में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है। हम लोग अपनी संस्थाओं और अपनी जीवन-पद्धतियों से अत्यधिक सन्तुष्ट रहे हैं। ब्रिटेन के लोग प्रधान रूप से अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से सन्तुष्ट रहे हैं और वह कुछ परम्पराओं में बँध से गए हैं। उनकी परम्पराएँ भी लगभग मनोनुकूलात्मक होती हैं इस प्रकार से उनकी कुछ सार्वजनिक पद्धतियाँ और कुछ वेतन के ढंग तक भी परम्परागत बन गए हैं। फ्रांस में लोग सामाजिक व्यवस्था से इसी प्रकार अत्यधिक सन्तुष्ट हैं और उसी को सही बताते हैं। उनके दृष्टिकोण उसी के मार्ग-ग्रहण करते हैं। ऐसे समाजों में यदि किसी का मूल्यांकन होता है तो वह कम या अधिक हित-सम्बन्धी होता है और वह ऐसा हो सकता है जो अच्छाई का विरोधी हो। ऐसे समाज देखने में तो स्थिरवादी प्रतीत होते हैं परन्तु अपने अन्तर में पतन का विस्फोट लिए हुए होते हैं क्योंकि उनमें उच्चतर विकास के स्पष्ट दृष्टिकोण का अभाव होता है। मैं सोचता हूँ कि कुछ अंशों में एक अर्द्ध-युग के प्रति इसी प्रकार की आत्म-तुष्टि और सन्तोष तथा अपने आदर्शों में ताजगी के अभाव ने ही रोमन-साम्राज्य को विनाश के गर्त में गिरा दिया। समाज व्यक्तियों की तरह अनिवार्यत उत्थान और पतन के भागी नहीं होते परन्तु अतीत काल की उपलब्धियों से ही सन्तुष्ट हो जाना मृत्यु के पथ पर बढ़ना है।[1]

---

१ इसके उदाहरण में चीन को लिया जा सकता है। परन्तु यह सोचना गलत ही होगा कि चीन में कोई प्रगति नहीं हुई। उसके निरन्तर जीवित रहने का रहस्य उसकी प्रगति ही है यद्यपि यह कठिनता से प्राप्त स्वतन्त्रता का अच्छा उदाहरण नहीं है।

समाज-विकास के मार्ग में ये कुछ गढ़ बताते हैं। कुछ ऐसे धमाके भी आए जब एक तेज झटके के साथ लोगों के मस्तिष्क को इन खतरों की ओर आकर्षित किया है। फ्रांस की क्रान्ति तथा उसके बाद आने वाले वर्ष कुछ ऐसे ही दिन थे और जिनके दूसरे दौर में हम स्वयं प्रविष्ट हो रहे हैं। टेटे ने फ्रांस की क्रान्ति का जो वर्णन किया है, उसे वर्तमान काल के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है—

> उस समय सब कुछ ऐसी हलचल में था मानो व्यवस्थित विश्व पुनः अव्यवस्था और अन्धकार में बदल जायगा और उसके बाद फिर व्यवस्था एक नवीन रूप धारण करेगी।'

और आज कोई भी यह कहने में संकोच न करेगा कि स्थिति ने पूर्णतः कोई नवीन रूप धारण किया है। फिर ऐसी दुर्घटनाओं से न कुछ आपदाएँ उत्पन्न होती हैं। वे हमें एक सुन्दर विश्व के पुनर्निर्माण के लिए कुछ सोचने और कुछ खोजने के लिए बाध्य करती हैं। क्या हमारे पास यह विश्वास करने का कुछ आधार है कि इस प्रकार का पुनर्निर्माण सम्भव है? इस सम्बन्ध में कुछ शब्द कहने ही पर्याप्त होंगे।[1]

इन कुछ निराशापूर्ण कथानुमानों पर अच्छी तरह विचार करने के उपरान्त अब हमें इस चित्र के उज्ज्वल पक्ष की ओर भी दृष्टिपात करना चाहिए।

फ्रांस की क्रान्ति के समय की तरह इस हलचल वाले
इस काल के मुख्य आधार वर्तमान-काल में भी तैयार आधारभूत हैं कि जीवन की
नवीन और श्रेष्ठ पद्धति का उद्भव हो सकता है

यद्यपि आशा प्रबल होती है और भय मिथ्या भी हो सकते हैं। फ्रांस की क्रान्ति ने कुछ अंशों में विश्व को निर्मल बना दिया और यह आशा करने के पूर्ण आधार हैं कि कठिन प्रयास द्वारा सम्भवित सुन्दर आदर्श पूर्णतः स्वयं सिद्ध नहीं हो सकते हैं, साधारण माने जाने वाले विचार मर नहीं सकते हैं, परन्तु यह हो सकता है कि उनकी कार्यरूप में परिणति में देर हो। मानव-जीवन में प्रगति होना अनिवार्य है यद्यपि उसे मार्ग अवरुद्ध कर दिया जाता और रुकावट डाल दी जाती है। ग्रीस और रोम की सभ्यता और उन से पहले अन्य सभ्यताओं के बाद

---

१ पुनर्निर्माण की समस्या पर इस समय काफी लिखा जा चुका है और इस पर मैं अपना मत देने का अधिकारी भी नहीं हूँ। [illegible] महोदय की पुस्तक 'दि सिविलिजेशन [illegible] रिकन्स्ट्रक्शन' अपनी [illegible] और [illegible] के लिए प्रशंसनीय है, परन्तु उसका मनोवैज्ञानिक आधार काल्पनिक है और व्यवहार अव्यवहार्य। युद्धोत्तर समस्याएँ जिन पर कुछ सम्मिलित अधिकारी विद्वानों के लेखों का संकलन [illegible] में किया है, उसी तरह [illegible] ने युद्धोत्तर भय और पूँजी पुस्तक को प्रकाशित किया है। उसके [illegible] प्रथम [illegible] रिपोर्टों का भी अभिलिखित किया गया है।

भी निस्सन्देह विश्व के लिए दुर्भाग्यपूर्ण संकट थे परन्तु आधुनिक संसार ने अपने आपको उन संकटों से काफी हद तक बचा लिया है। अधिकांश में आज भी उन भावों के काव्य और कलाएँ हमारे काम में आ रही हैं और आज भी हमें अपने व्यावहारिक जीवन को अनुप्राणित करने के लिए सहायता मिल रही है। अब भी हम उत्साह भरने वाले सुकरात के विचारों, प्लेटो की काल्पनिक सूझ और अरस्तू के समन्वयात्मक तथा समृद्ध ज्ञान से बौद्धिक प्रोत्साहन प्राप्त करते हैं और रोमन लोगों के नियम अब भी न्याय और व्यवस्था के आदर्श बने हुए हैं। आज भी हम यहूदी लोगों की धार्मिक प्रेरणाओं से लाभ उठाते हैं और कुछ प्राचीन धर्म अब भी हम लोगों के लिए धार्मिक अनुभवगम्य हो रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है, यद्यपि यह एक सोचने की बात है, कि आने वाली पीढ़ियाँ इसी तरह से हमारी वर्तमान सभ्यता के भग्नावशेषों से कुछ स्थायी लाभों को प्राप्त कर सकेंगी। परन्तु हम उनसे कुछ अच्छी बातों की ही आशा करनी चाहिए। अखिल विश्व अतीत की अपेक्षा आज अधिक संगठित है और अब हम सरलता पूर्वक आशा कर सकते हैं कि सम्पूर्ण विश्व की यह एकता अपने किसी भी भाग को नष्ट होने से बचा सकेगी। कम-से कम मुझे वर्तमान समय में आशा का आधार यही दिखाई देता है। विनाश की ओर ले जाने वाली शक्तियों की अपेक्षा व्यवस्था की ओर प्रवृत्त करने वाली शक्तियाँ अधिक पुष्ट होती हैं। अधिकार अनियंत्रित शक्ति का रूप धारण नहीं करते। वे अपने चारों तरफ कुछ शक्ति इकट्ठी करने की प्रवृत्ति अवश्य रखते हैं। आक्रमणकारियों का मार्ग कठिन नहीं होता है परन्तु सामान्यतया विभाजित होता है। मनुष्य अपनी सामान्य-हित की अवधारणा की अपेक्षा किसी और बात के लिए अधिक सरलता से संगठित नहीं होते[1]। यह सब कुछ कैसे होता है इसे हम देख चुके हैं। इसे केवल राज्य व्यवस्था में ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण में भी देख चुके हैं। पुनर्निर्माण की रूपरेखाओं को विस्तृत रूप से तैयार करना तो व्यावहारिक राजनीतिज्ञों और समाज-सुधारकों का काम है और यह बहाना बनाना कि यह तो एक सरल काम है व्यर्थ की बात होगी। हम लोग हरबर्ट स्पेन्सर की तरह यह विश्वास करने के अधिकारी नहीं कि विकासशील शक्तियाँ हमें अवश्य ही पूर्णता तक ले जायेंगी। हम यह जान चुके हैं कि विकास कुछ सीमा और अनिश्चित हुआ है। योग्य अथवा जो सामर्थ्य युक्त है वही जीएगा चाहे व्यक्ति हो या समाज, यह नियम सर्वत्र उपयुक्त नहीं होता। हमारे चेतनापूर्ण चयन और प्रयासों से ही हम यह आशा कर सकते हैं कि वे सर्वोत्तम की सृष्टि और

१ दुःख की ओर से आने वाली शक्तियाँ मनुष्य की ओर से आने वाली शक्तियों से किस तरह अधिक बलवान होती हैं, इस विषय पर कुछ शिक्षाप्रद कथन [illegible] में पाया जा सकता है।

सुरक्षा होती है। यदि हम धर्मपूर्ण नहीं हैं तो अवश्य ही अपनी पुरानी भूल मूर्खताओं और अपराधों से तथा अपनी महान् उपलब्धियों से लाभ उठाने से नहीं चूकेंगे। इन विचारों के कारण हम यह विश्वास करने का साहस कर सकते हैं कि इन खतरों के बावजूद भी निकट भविष्य में यह संभव हो सकता है कि हम एक सुन्दर, स्थिर और सुव्यवस्थित समाज का निर्माण करने में समर्थ हो सकें। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की सुव्यवस्था किसी प्रथा का कोई विशेष अधिकार नहीं होगा वह अपने पूर्ण अर्थों में सामान्य हित होगी। विभिन्न प्रकार के लोग सदैव विभिन्न प्रकार की भाषाएँ, विभिन्न शिष्टाचार, विभिन्न कानून, विभिन्न विचार और विश्वासों से युक्त रहेंगे और हम उनका सही मूल्यांकन कर सकेंगे। परन्तु यह स्पष्ट है कि अब वे दिन लद गए जब लोग सोचा करते थे कि जर्मनी सब प्राचीन देशों में परम श्रेष्ठ राज्य है अथवा ब्रिटेन सातों समुद्रों का राजा है अथवा फ्रांस भूमि सभ्यता की एकाकी स्वामिनी है अथवा रोम, एथेन्स या मक्का अथवा अन्य कोई पवित्र स्थल निष्ठा का एकमात्र स्थान है[1]। अब सारी धरती हमारा देश है और यहाँ के सभी निवासी हमारे पड़ौसी-नागरिक हैं और अन्त में यही मान्यता हमें परम शान्ति का अधिकारी बनाएगी। सम्भवतः एक समय था जब प्रशिया का सैनिक-शासन सामान्यतः इस मानव विश्व में मुख्य रूप से गड़बड़ करने वाला समझा जाता था। (मैं ठीक ही सोचता हूँ) उस समय जर्मनी से आती हुई इस आवाज से हमें बहुत प्रेरणाएँ मिल सकती हैं यह एक ऐसी आवाज थी जिसने यूरोप में उठती हुई भयंकर राष्ट्रीयता को रोक दिया था—

भविष्य में झाँक रहे हैं।
सुख और दुख
हम उलझ रहे हैं
सभी ध्वंसों की चोटी से जो
भयभीत किये हैं, आगे बढ़ने से।[2]

---

१. यह ध्यान रखना अच्छा रहेगा कि यह वर्डस्वर्थ अथवा मेजिनी के राष्ट्रीयतावाद से किसी भी तरह से विरुद्ध नहीं है। ऐसे व्यक्ति अपनी राष्ट्रीयता का जो दावा करते हैं, वह दूसरों के लिए भी वैसा ही होता है।

२ The future hides in it
Gladness and sorrow
We press still thorow
Naught that abides in it
Daunting us onward

—Carlyle

निरन्तर संघर्ष द्वारा ही हम अच्छाई और हित को सुरक्षित रख सकेंगे। हमें यह स्वीकार करना चाहिए, जैसा मौराके[1] ने कहा है कि कैसी भी परिस्थितियाँ क्यों न आएँ हमें भविष्य में पूर्ण आशा है यह इसलिए नहीं कि हम आगे आनी बात को जानते हैं अपितु इसलिए कि कुछ भी क्यों न हो हम प्रेरणा से अनुप्राणित हैं कष्ट सहने और सचेत रहने के लिए तैयार हैं ऐसी अवस्था में अच्छाई अथवा हित के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं होगा।" यह विश्वास तो नागरिकता और नैतिकता की शिक्षा का जन-जन में प्रचार करने पर ही उत्पन्न हो सकता है। इसी आधारभूत शर्त पर हमारी आशाएँ लगी हुई हैं। मानव प्रगति हमारे अन्दर से ही होगी। वह किन्हीं बाह्य परिस्थितियों से जन्म नहीं लेगी पर उसके लिए सभी लोगों द्वारा एक सामान्य हित के लक्ष्य के प्रति सुदृढ़ समर्पण की आवश्यकता है।

---

[1]मोरल्स एण्ड इण्टरनैशनल आर्डर, पृ० सं० १८८। ...
[2]...रिवर्स ... पृ० सं० २ ३-१।

परिशिष्ट (क)

प्लेटो के 'रिपब्लिक' पर कुछ टिप्पणियाँ

१ प्रारम्भिक परिचय

समाज-दर्शन की व्यवस्थित व्याख्या का एक प्रारम्भिक प्रयास होने के कारण प्लेटो के 'रिपब्लिक' का हमारे लिए एक विशेष मूल्य है। यह अब भी अनेकों पहलुओं में इस विषय पर सर्वाधिक उत्कृष्ट तथा प्रेरणादायक कृति है—कुछ अंशों में इसलिए कि सुकरात और प्लेटो दो महान् प्रभावी मानव थे (संयुक्त भी अकेले भी) जो दार्शनिक अध्ययन में अनुरक्त थे और कुछ अंशों में इसलिए भी कि आधुनिक समय की जटिल अवस्था की अपेक्षा ग्रीस के छोटे नगर राज्यों की सरलतम अवस्थाओं ने नागरिक-जीवन के एक समग्र सर्वेक्षण को सरल बना दिया था। अतः मैंने अपनी इन रूपरेखाओं में पग-पग पर प्लेटो के कथनों का उल्लेख किया है और मेरी यह मान्यता है कि जो व्यक्ति इन विषयों का सम्पूर्ण अध्ययन करना चाहता है वह कुछ अंशों में प्लेटो के विश्लेषण का गम्भीर अध्ययन अवश्य करे। प्लेटो के विवरण सामान्यतः विलक्षण रूप से स्पष्ट एवं असाधारण रूप से सुस्पष्ट उदाहरणों से युक्त हैं। फिर भी कुछ बातों में उनको गलत समझ जाने की सम्भावना है और ऐसी ही गलतफहमी से बचाने के लिए उनके सामान्य-विचार पर कुछ टिप्पणियाँ जोड़ देना अधिक अच्छा रहेगा जैसा कि मैंने विश्लेषण किया है।[1]

रिपब्लिक के सम्बन्ध में गलतफहमी होने की सम्भावना मुख्यतः उसके कथोपकथन में लिखे गये रूप के कारण है। पाठक यह मान सकते हैं कि कथोपकथन के अनेक स्थानों पर सुकरात के द्वारा दिये गए विवरण प्लेटो की अन्तिम

---

१. इस पर आगे विशेष जानकारी के लिए, नेटलशिप और बोसांके की टिप्पणियों पर तथा श्री अर्नेस्ट बारकर की पुस्तक "दि पोलिटिकल थॉट आफ प्लेटो एण्ड अरिस्टॉटल' का अवलोकन किया जा सकता है। ऐतिहासिक विषय पर श्री के० के० बौमैन की 'रहस्य आफ हेलास' को देखा जा सकता है। प्रो पी० एस० बर्न्स द्वारा "माइण्ड" (१८९४) में प्रस्तुत "दि प्लॉट आफ प्लेटोज रिपब्लिक' नामक लेख का उल्लेख किया गया है।

निरन्तर संघर्ष द्वारा ही हम अच्छाई और हित को सुरक्षित रख सकेंगे। हम यह स्वीकार करना चाहिए, जैसा बोसांके[1] ने कहा है कि कैसी भी परिस्थितियाँ क्यों न आएँ हमें भविष्य में पूर्ण आशा है यह इसलिए नहीं कि हम आने वाली बात को जानते हैं अपितु इसलिए कि कुछ भी क्यों न हो हम प्रेरणा से अनुप्राणित हैं, कष्ट सहने और सशक्त रहने के लिए तैयार हैं ऐसी अवस्था में अच्छाई अथवा हित के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं होगा। यह विश्वास तो नागरिकता और नैतिकता की शिक्षा का जन-जन में प्रचार करने पर ही उत्पन्न हो सकता है। इसी आधारभूत शर्त पर हमारी आशाएँ सधी हुई हैं। मानव प्रगति हमारे अन्दर से ही होगी। यह किन्हीं बाह्य परिस्थितियों से जन्म नहीं लेगी पर उसके लिए सभी लोगों द्वारा एक सामान्य हित के लक्ष्य के प्रति सुदृढ़ संगठन की आवश्यकता है।

१ "सोशल एण्ड इन्टरनेशनल आइडियल्स" पृ० [illegible] १८। [illegible]
"[illegible]" [illegible] १ १-१।

परिशिष्ट (क)

प्लेटो के 'रिपब्लिक' पर कुछ टिप्पणियाँ

समाज-दर्शन की व्यवस्थित व्याख्या का एक प्रारम्भिक प्रयास होने के कारण प्लेटो के 'रिपब्लिक' का हमारे लिए एक विशेष मूल्य है। यह अब भी अनेकों अनुभवों से इस विषय पर अत्यधिक उत्कृष्ट तथा
१ प्रारम्भिक परिचय
प्रेरणादायक कृति है—कुछ अंशों में इसलिए कि सुकरात और प्लेटो दो महान् प्रभावी मानव थे (संयुक्त भी अकेले भी) जो दार्शनिक अध्ययन में अनुरक्त थे और कुछ अंशों में इसलिए भी कि आधुनिक समय की जटिल अवस्था की अपेक्षा ग्रीस के छोटे नगर राज्यों की सरलतम अवस्थाओं ने नागरिक-जीवन के एक समग्र सर्वेक्षण को सरल बना दिया था। अतः मैंने अपनी इन रूपरेखाओं में पग-पग पर प्लेटो के कथनों का उल्लेख किया है और मेरी यह मान्यता है कि जो व्यक्ति इन विषयों का सम्पूर्ण अध्ययन करना चाहता है वह कुछ अंशों में प्लेटो के विश्लेषण का गम्भीर अध्ययन अवश्य करे। प्लेटो के विवरण सामान्यतः विलक्षण रूप से स्पष्टता एवं असाधारण रूप से दृष्टान्त उदाहरणों से युक्त हैं। फिर भी कुछ बातों में उनको गलत समझा जाने की सम्भावना है और ऐसी ही गलतफहमी से बचाने के लिए उनके सामान्य-विचार पर कुछ टिप्पणियाँ जोड़ देना अधिक अच्छा रहेगा जैसा कि मैंने विश्लेषण किया है।[1]

'रिपब्लिक' के सम्बन्ध में गलतफहमी होने की सम्भावना मुख्यतः उसके कथोपकथन में लिखे गये रूप के कारण है। पाठक यह मान सकते हैं कि कथोपकथन के अनेक स्थानों पर सुकरात के द्वारा दिये गए विवरण प्लेटो की अन्तिम

---

१ इस पर आगे विशेष जानकारी के लिए, नेटलशिप और बोसांके की टिप्पणियों का तथा प्रो० अर्नेस्ट बार्कर की पुस्तक 'दि पोलिटिकल थॉट आफ प्लेटो एण्ड अरिस्टॉटल' का उल्लेख किया जा सकता है। शैक्षणिक विचार पर श्री के० जे० फ्रीमैन की 'स्कूल्स आफ हेलास' को देखा जा सकता है। प्रो० पी० एस० बरेल द्वारा 'माइण्ड' (१९१६) में प्रस्तुत "दि प्लॉट आफ प्लेटोज़ रिपब्लिक" नामक लेख का उल्लेख किया जाता है।

अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं। यह स्पष्ट है कि प्लेटो ने इस प्रकार के कथोपकथनों में अपनी पुस्तक को इसलिए लिखा ताकि गलत अर्थ लगाये जाने की सम्भावना को दूर किया जा सके। कई जगहों पर उसने यह भी संकेत किया है कि वह अपनी इस विधि को अन्तिम रूप से सन्तोषप्रद नहीं समझता। कुछ लोग उसकी इस प्रकार की कथोपकथन की पद्धति को एक गम्भीर दोष मान सकते हैं परन्तु मेरे विचार से तो यह उसकी एक श्रेष्ठतम विशेषता है। चाहे कोई व्यक्ति कितना ही ज्ञानवान् और योग्य क्यों न हो यदि वह ऐसे विषयों पर अपने शब्दों को अन्तिम समझता है तो यह उसकी सबसे बड़ी मूर्खता होगी। सुकरात ने कहा है कि वह स्वयं जो कुछ जानता है वह यह है कि वह कुछ नहीं जानता। वास्तव में वही एक ऐसा व्यक्ति था जो इस प्रकार की भ्रान्तियों में नहीं पड़ सकता था। प्लेटो शायद अपनी बुद्धि पर अपेक्षाकृत अधिक विश्वास रखता था और इसका कारण भी है परन्तु उसने इस सम्बन्ध में अपने गुरु का यथेष्ठता के साथ अनुगमन किया। अतएव यह मानना गलत होगा कि उसकी कथोपकथन की पद्धति अन्ध सिद्धान्तवाद का प्रतिपादन करती है वरन् उसे अत्यन्त कठिन विषयों पर कुछ सम्भावित सिद्धान्तों के सुझावों के साथ एक बहस-मात्र कहा जा सकता है। इसीलिए तो जैसे ही इस अन्त में पहुँचते हैं उसका दृष्टिकोण क्या है यह स्पष्ट समझ लेते हैं और एक अन्तिम सूक्ति के रूप में उसका कथन भी प्राप्त कर लेते हैं। उसे प्राचीन रस्किन के रूप में समझना एक बहुत ही गलत विचार होगा (यद्यपि रस्किन स्वयं उससे पर्याप्त प्रेरणा पा सका था।)

अतः विशेष रूप से यद्यपि उसकी कृति एक आदर्श-राज्य की रूपरेखा को लिये हुए है परन्तु उसे आधुनिक समय में निर्मित विविध प्रकार के काल्पनिक आदर्श राज्यों (Utopias) के समान बिलकुल नहीं समझना चाहिए यद्यपि वे लोग कभी-कभी अपनी कृतियों में प्लेटो के कथनों को अपने आदर्श के रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्लेटो ने यह बिलकुल स्पष्ट कहा है, कि उसने अपनी रूपरेखा को पूर्ण राज्य के निर्माण के लिए एक व्यावहारिक योजना के रूप में नहीं बनाया है। वह तो अपेक्षाकृत उसके सुपरिचित नगर राज्यों का एक अध्ययन है। उसमें उन राज्यों की मुख्य मुख्य विशेषताओं के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही उसमें निहित प्रमुख संकटों की ओर संकेत किया गया है तथा उनसे बचाव के लिए सम्भावित सुझाव दिये गए हैं। आधुनिक समय में प्राप्त विभिन्न प्रकार के समुदायों के ज्ञान के साथ हमें यह नहीं सोच लेना चाहिए, कि उसने विवेचनात्मक अथवा सम्भावित सुधार की दृष्टि से जो कुछ कहा है वह हमारे लिए बड़े महत्त्व का है। परन्तु आधुनिक परिस्थितियाँ

इतनी जटिल है कि एक सरल योजना का अध्ययन हमारे लिए अति हितकर होगा।

इस प्रकार की सावधानियों के लिए पूर्णरूप से कथोपकथन के सम्बन्ध में ही ध्यान रखना आवश्यक नहीं है वरन् प्लेटो की विविध विषय वस्तुएँ, जैसे उसके शिक्षा-सम्बन्धी विवेचन कला का स्थान स्त्रियों की दशा और समानता की अवधारणा आदि पर भी ध्यान रखना चाहिए। इन विषयों पर उसके विचार अत्यधिक दृढ़ और तत्परतापूर्ण हैं, तथा उसके अधिकांश सुझाव बड़े मूल्यवान् हैं परन्तु यदि उसके कथनों को हम अक्षरशः ग्रहण करें तो हम भटक कर कहीं-के-कहीं पहुँच जायेंगे। अनेकों स्थानों पर उसने नितान्त निश्चित रूप से यह संकेत भी किया है कि उसके विवेचनों को अक्षरशः ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। मेरे अपने विश्वास के अनुसार हमें यह स्वीकार्य होना चाहिए कि कुछ स्थानों पर उसने पक्षपातपूर्ण विचारों से प्रभावित होने की साक्षी दी है जिसे सम्भवतः आज के अधिकांश पाठक स्वीकार नहीं करते। प्लेटो सबसे अधिक बुद्धिमान मनुष्यों में से एक थे इसमें कोई सन्देह नहीं है तथा वह अपने आप सुकरात का भी सदुपयोग कर सका। एक विशेष वरदान जिसे हम कल्पनात्मक-चिन्तन कहते हैं उसमें वह, मेरी मान्यता के अनुसार विश्व के लेखकों में अद्वितीय था परन्तु निरन्तर गुजरती हुई पीढ़ियों के विचारों तथा अनुभूतियों की भी हमें अवहेलना नहीं करनी चाहिए।

आगे मैं उसकी कृति में से कुछ ऐसे स्थलों की ओर ध्यान आकर्षित करूँगा जिनकी रचना में विशेषतः भ्रान्ति की सम्भावना होती है।

२ प्रथम पुस्तक का विवेचन

प्रथम पुस्तक में न्याय की सामान्य अवधारणा की व्याख्या की गई है जिसका अभिप्राय समुदाय की उचित व्यवस्था की अपेक्षा व्यक्तिगत सदाचार में अधिक अन्तर्निहित है। न्याय के अर्थ में प्रयुक्त यूनानी भाषा के एक शब्द की अस्पष्टता से कुछ अंश में सर्वत्र गड़बड़ी फैलती है। अरस्तू महोदय ने इसे बहुत ही अच्छी तरह से स्पष्ट किया है[1]। प्रथम पुस्तक में प्रस्तुत किये गए विचारों को इस प्रकार से कौशलपूर्वक सजाया गया है कि उसमें काव्यात्मक विश्लेषण द्वारा साधारण सामान्य अर्थ से लेकर हेत्वाभास पूर्ण सिद्धान्त तक उपस्थित हो जाते हैं। इन विचारों के विरुद्ध दिया गया तर्क भी स्वयं कुछ अर्थों में कुतर्क है। कभी-कभी उसकी रक्षा एक मूर्ख को उसकी मूर्खता के अनुसार उत्तर देने के सिद्धान्त के अनुसार ही की जा सकती है[2]। परन्तु वे तर्क यह प्रदर्शित करने में पर्याप्त होंगे कि जो परिभाषाएँ दी

---

१ एथिक्स ४

२ मेरा विश्वास है कि प्लेटो स्वयं युक्ति की इस विधि के खोखलेपन से खूब परिचित था।

गई हैं वे मनहर और सन्तोषजनक हैं तथा वे आगे की पुस्तकों के लिए विस्तृत विवेचन का मार्ग तैयार करने वाली हैं।

प्रथम पुस्तक ही एक ऐसी है जिसमें सुकरात की सुपरिचित विधि के अनुसार वाद-विवाद प्रस्तुत किये गए हैं परन्तु यहाँ भी यह विश्वास करना अत्यधिक कठिन हो जाता है कि कोई वास्तविक विवरण जो कि वार्ता-विषय की सामयिकता के अनुसार स्वतः उद्भूत हुआ है कथात्मकता के रूप को इतनी ही पूर्णता के साथ प्राप्त कर सका है परन्तु शायद यह सुकरात के सामान्य *मत और विधि को अत्यधिक सही रूप से प्रस्तुत करता है। यह कहना अत्यधिक* सन्देहास्पद है कि आगे आने वाली पुस्तकों में वर्णित विषय के बारे में भी इतना कुछ कहा जा सकता है या नहीं। यह असंभव है कि उनमें से कोई भी बात जो सुकरात से सम्बन्धित बताई गई है, वास्तव में वह उसके विचारने और बोलने के विरुद्ध रही हो? उसके चरित्र को निस्सन्देह सुरक्षित रखा गया है परन्तु हम लोग मुश्किल से ही यह मान लेने के अधिकारी हैं कि उसकी उक्तियों के रूप में जो कुछ प्रस्तुत किया गया है वह किसके विचारों की सही अभिव्यक्ति है उसके अथवा प्लेटो के। मेरे विचार से यह वही है जिसे सुकरात ने सम्भवतः कहा होगा तथा जिसे प्लेटो ने भी कहना उचित समझा होगा और जैसा कि प्रथम पुस्तक में है। यह सब ऐसे कथात्मक ढंग से संजोकर रखा गया है जिससे तर्क एक के बाद दूसरी बात को लेकर निरन्तर आगे बढ़ता रहे।

द्वितीय पुस्तक में पूर्व पुस्तक में गृहीत विवेचन विधि को विपरीत आलोचना का विषय बनाया गया है और अधिक सूक्ष्म विधि को ग्रहण किया गया है।

३ द्वितीय-चतुर्थ पुस्तकों का विवेचन

सामाजिक संविदा का सिद्धान्त सुझाया गया है और उसे पहले ही एक ऐसे निश्चित रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसका बाद में हॉब्स ने प्रतिपादन किया है। इस विचार का समावेश मुख्य समस्या को व्यक्तिगत नीति से सामाजिक न्याय के रूप में बदल देता है और समाज के सामान्य-ढाँचे के बारे में विचार करने को आवश्यक बना देता है। सुकरात अब एक आलोचक न रहकर सृष्टा बन जाता है। वह इस बात पर जोर देता है कि एक समुदाय का अस्तित्व इसलिए आवश्यक है, कि प्रत्येक व्यक्ति आत्मनिर्भर नहीं होता और फिर यह प्रतिपादित करता चला जाता है कि आत्म-निर्भरता का आधारभूत सिद्धान्त सहकारिता और श्रम-विभाजन है। इसके उपरान्त इन्हीं महत्त्वपूर्ण पहलुओं वाले एक सरल समाज की एक संक्षिप्त एवं आकर्षक रूपरेखा खींची जाती है। परन्तु ऐसे समाज की अमाननीय होने के रूप में भर्त्सना की गई है और कुछ भी हो

कुछ इसी प्रकार का समान विवेचन यद्यपि कुछ कम विस्तृत लॉ(ज़) में भी स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है।

एक सुव्यवस्थित राज्य के जीवन पर अधिक प्रकाश नहीं डाला गया है इसकी व्याख्या करने के माध्यम से विलास के तत्व का समावेश करना पड़ा है। विलासिता युक्त विकासात्मक रुचियाँ अन्य समुदायों के साथ व्यवहार स्थापित करने की आवश्यकता उत्पन्न करती हैं और अन्त में वे विस्तार की माँग की ओर ले जाती हैं। इसी से युद्ध को जन्म मिलता है और उसके लिए प्रभावशाली सैन्य-वर्ग के स्थायी अस्तित्व की आवश्यकता होती है।

इस विषय में प्लेटो का समस्त विश्लेषण करना सरल है। उसके मन्तव्य को दो विरोधी तर्कों से समझा जा सकता है जो सम्भवतः दोनों ही प्रभाव हैं। एक तरफ, वह एक सरल समुदाय को स्वस्थ और एक जटिल समुदाय को रुग्ण वर्णित करता है तथा कुव्यवस्था को युद्ध और वर्गों के भेद का जनक बतलाता है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि एक सरल समुदाय ही आदर्श होता है। दूसरी तरफ इस बात पर बल दिया गया है कि वह एक जटिल-समुदाय को ही आदर्श राज्य के रूप में मानता है और फिर सर्वत्र यह प्रतिपादित करता है कि ऐसा राज्य निरन्तर युद्ध अथवा उसकी तैयारी में ही संलग्न रहेगा। प्लेटो के अभिप्राय को कौन-सा विचार सही व्यक्त करता है? मैं सोचता हूँ सही विचार यह है कि वास्तव में वह एक सार्वभौम आदर्श का निर्माण करने की बिल्कुल चेष्टा नहीं करता वरन् मानव-समाज की प्रकृति को समझने की चेष्टा करता है। इस दृष्टिकोण को समझाने के माध्यम से हमें मानव प्रकृति के सभी जटिल तत्त्वों का वर्णन करना पड़ता चाहे वे रुग्णता के स्रोत ही क्यों न हों।[1] दूसरे प्रकार से इसे हम यों कह सकते हैं, कि आदर्श समाज का वर्णन करते हुए वह यह नहीं मान लेता कि वह समाज आदर्श मनुष्यों से ही निर्मित होगा। इसकी बजाय वह यह मानता है कि उसके समुदाय के सभी सदस्यों को एक कठिन अनुशासन की आवश्यकता होगी। उसके अन्त में वे आत्म नियन्त्रण की प्रवृत्ति की ओर जाएँगे और इस प्रकार की प्रवृत्ति को पैदा करने में अधिकांश सदस्य नितान्त असमर्थ रहेंगे। अतः एक आदर्श समुदाय की पूरी

1 यदि वह राज्य को एक सार्वभौम आदर्श के रूप में उपस्थित करने के लिए उत्सुक होता तो वह इस पर बल देता कि युद्ध और सरकार की आवश्यकता की उत्पत्ति आन्तरिक कुव्यवस्था की अपेक्षा पड़ोसी समुदायों में विस्तार के कारण तथा परिणामस्वरूप विस्तार की आवश्यकता के कारण होती है। आन्तरिक कुव्यवस्था को स्वीकार करने की उसकी प्रवृत्ति से यह स्पष्ट लगता है कि वह एक सार्वभौम आदर्श राज्य की अपेक्षा एक विशेष राज्य का वर्णन कर रहा है। प्लेटो के सरल समुदाय को मोरलेन के निबन्ध में प्रस्तुत समुदाय के साथ समान्तर मर्यादित करके देखना बड़ा रोचक रहेगा। मोरलीन के समुदाय में सरकार का स्थान नहीं है और श्रम विभाजन भी इच्छित से ही है जब साथ ही संघर्ष का अभाव भी नहीं है।

तरह से स्वस्थ तथा अपने सभी भागों में आदर्श नहीं होगा। उसका स्वस्थ होना इसी बात पर निर्भर करेगा कि शासकीय भाग स्वस्थ है और वह उसके अन्य भागों में व्याप्त रोग को रोकने में समर्थ है ताकि वह फैलकर समस्त समुदाय के जीवन को गम्भीरतापूर्वक प्रभावित न कर सके। अतः महत्त्वपूर्ण विचार उस प्रकार के जीवन पर निर्भर करता है जो शासकीय वर्ग में सम्बन्धित होता है। इसके लिए प्राथमिक रूप से यह आवश्यक हो जाता है कि शासक गण सावधानी से चुने हुए तथा पूर्णरूप से शिक्षित होने चाहिए क्योंकि उनका कार्य संरक्षण तथा शासन के रूप में दुगना होता है। सुकरात का भी कदाचित् यह मत नहीं था कि इन दोनों कार्यों को भिन्न समझा जाए, और वे विभिन्न प्रकार के लोगों को दिये जाने चाहिए। उसी तरह जिस प्रकार कि वह कुछ ही बाद में शुद्ध *वैज्ञानिक अध्ययन तथा व्यवहार में उसकी परिणति के अन्तर को पर्याप्त रूप* से मान्यता देता हुआ दिखाई नहीं देता। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर पर्याप्त रूप से प्रकाश नहीं डाला गया। बाद में अरस्तू ने इसको सही रूप देने का प्रयास किया है।

प्लेटो ने आगे भी प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जो लोग राज्य की रक्षा तथा उसके शासन के लिए तयार किये जाएँ उन्हें निम्न स्तर की प्रकृति के संसर्ग से पृथक करके रखना चाहिए, और उन्हें समस्त समुदाय के हित में अपने-आपको अनन्य रूप से समर्पण करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। इस प्रकार का शिक्षण निजी सम्पत्ति तथा पारिवारिक जीवन के उन्मूलन का कारण बन जाता है। इसके महत्त्व पर इस पुस्तक में पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला जा चुका है। इसी में राज्य में न्याय की प्रकृति तथा वैयक्तिक लोगों के विभाजन के सामान्य विवेचन को भी सम्मिलित किया गया है। व्यक्तिगत सम्बन्ध में न्याय की व्याख्या समान स्पष्टता के साथ नहीं की गई है। प्लेटो के विवरण में इसे आत्म-संयम से पृथक करना कुछ कठिन है। इसका प्रमुख कारण यह है कि एक व्यक्ति एक राज्य के अन्य पृथक-पृथक सदस्यों से सम्बन्धित भागों के कार्यों को ठीक नहीं कर सकता, परन्तु इसके विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

कुछ पाठक प्लेटो के इस कथन पर असंतोष व्यक्त कर सकते हैं कि लोगों को उनके उचित स्थान में रखने के लिए औषधि के रूप में झूठ का प्रयोग आवश्यक होता है परन्तु वास्तव में विरोधाभासों ने सभी युगों में यही किया है विशेषतः तब जबकि वे राज्य के नियन्त्रण में रहे। विस्मन के कहने का भी यही तात्पर्य था कि सभी धर्म एक न्यायाधीश के लिए लाभदायक होते हैं। जर्मनी के सम्राट की अपेक्षा अन्य कोई भी लोगों में पवित्रता को प्रोत्साहन [illegible] के लिए इतना उपयुक्त नहीं होता। प्लेटो के कथन की वास्तविकता उनके धार्मिक झूठ और आत्मा के झूठ के भेद में निहित है। वैज्ञानिक असत्य की

अपेक्षा धार्मिक-अध्यक्ष उस युग में खराब नहीं होता जब कि उसकी प्रकृति तात्त्विक यथार्थता पर बल देने की होती है। उदाहरण के लिए यह असत्य होगा कि दुष्ट व्यक्तियों को पाताल में ले जाकर दण्ड दिया जाएगा परन्तु यह सत्य है कि उनके दुष्ट कामों का ऐसा परिणाम होता है जो स्वयं उनके लिए तथा दूसरों के लिए अधिकतर दुर्भाग्य-पूर्ण होते हैं। मानव-जीवन को प्रभावित करने वाले वृहद् प्रश्नों की व्याख्या पर्याप्त रूप से मुश्किल से ही की जा सकती है और मुश्किल से ही अत्यधिक सही भाषा में उसके उत्तर दिये जा सकते हैं। उनके महत्त्व को समझाने के लिए प्राय सबसे अच्छा तरीका काल्पनिक कथाएँ होती हैं। निश्चय ही प्लेटो के सुझाव उन अनेकों मतों से अधिक अतिरंजित नहीं हैं जो हमारे मध्य प्रचलित हैं।

बालकों को दी जाने वाली शिक्षा के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए,[1] कि होमर के प्रति की गई कठोर आलोचना पर अत्यधिक गम्भीरता से ध्यान नहीं देना चाहिए। यह स्मरण रहे कि प्लेटो के जमाने में होमर यूनान का केवल शेक्सपीयर ही नहीं था वरन् वह वहाँ की धार्मिक और काल्पनिक कथाओं में भी व्यापक था। प्लेटो को होमर को कवि के रूप में स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है परन्तु वह उसे बाइबिल के रूप में मान्य तथा बच्चों के लिये कथाओं की सामग्री जुटाने वाले के रूप में अनुपयोगी पाता है। आधुनिक जगत् में बहुत लोग कथाएँ लिखते हैं परन्तु शायद उन लोगों के लिए भी प्लेटो का कथन विचारणीय होना चाहिए। जहाँ तक धार्मिक पुस्तकों का सम्बन्ध है दुर्भाग्य से उन्हें बदलना सरल काम नहीं होता पर उनकी आलोचना और व्याख्या अथवा व्याख्यान्तर किया जा सकता है। प्लेटो ने वही काम किया है जो कि आजकल व्याख्याकारों और टीकाकारों का होता है।

नाट्य कला की आलोचना अधिक गम्भीर रूप में की गई है। इसका कारण प्लेटो की यही चिन्ता थी कि राज्य के नागरिक अपनी निष्ठा में एकमत हों। अनेकरूपता उनके कर्त्तव्यों के उचित वहन में बाधक होती है। प्लेटो स्पष्टतः कुछ अनिच्छापूर्वक ही (स्वयं एक नाटककार होते हुए भी) इस प्रवृत्ति को ग्रहण करने के लिए बाध्य हुआ था। यह विस्मयकारी बात है कि प्लेटो ने इसका अनुसरण कर उससे भी कहीं अधिक अनिच्छा का स्पष्ट परिचय दिया है।[2] उसके दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है। यदि हमें शासक-वर्ग

---

१ प्लेटो की शैक्षणिक योजना पर कुछ सामान्य आलोचनाएँ नेटलशिप की 'लैक्चर्स एण्ड रिमेन्स' पृ० से १२८ में प्राप्त हो सकती हैं।

२ विशेषतया [illegible] १४। प्रारम्भिक शिक्षा में नाट्य-प्रदर्शन के महत्त्व पर श्री एच. काल्डवेल कुक ने अपनी पुस्तक 'दि प्ले वे' में अच्छी तरह से प्रकाश डाला है।

को रखना है तो उनमें कुछ निश्चित मात्रा में कठोर अनुशासन होना चाहिए। उन्हें पार्थिव सम्राटों की अपेक्षा भिक्षुक अथवा फकीर के समान अधिक होना चाहिए। प्लेटो का यह कथन कि शासक वर्ग के सदस्यों के पास सोना चाँदी होने का स्वत्व नहीं होना चाहिए उसकी कठोरता को चरम-सीमा पर पहुँचा देता है। सुकरात और प्लेटो दोनों में ही कठोर तपस्वीपन के तत्त्व मिलते हैं।[1] यद्यपि सुकरात में उसकी कुछ अच्छी प्रकृति तथा मस्त कर देने वाले उत्साह की मात्रा विशेषतः पाई जाती है जिसे उन्होंने स्वयं अपने ऊपर प्रभुत्व हो जाने पर भी प्रकोप नहीं किया।[2]

४ चतुर्थ-सप्तम पुस्तकों का विवेचन

शासकोपवर्ग के परिवार के उन्मूलन के लिए पंचम पुस्तक में अधिक दृढ़ता के साथ आग्रह किया गया है और फिर महिलाओं की स्थिति पर विचार किया गया है। प्लेटो कभी-कभी महिलाओं का नागरिक अधिकार देने वाला प्रथम नेता समझा जाता है। यह स्पष्ट है कि क्या वास्तव में उसे यह गौरवपूर्ण सम्मान दिया जाना चाहिए। उसकी दृष्टि लगभग सर्वथा परिवार से मुक्त होने के अपने एकमात्र निर्णय की ओर रही है और महिलाओं के स्थान-विषयक उसकी अवधारणा 'महिलाएँ निम्नतर कोटि की हैं' पर आधारित है। उसकी यह विचारधारा टिमेयस में अधिक स्पष्टरूप से सामने आती है (४२ बी) वह इस विषय पर बड़ी निपुणता और कुटिलता से कामों के स्पष्ट अंशों की उपेक्षा करता हुआ-सा प्रतीत होता है। वह छोटे बच्चों की शिक्षा और उनकी देखभाल के लिए तथा गृहस्थ के प्रबन्ध के लिए महिलाओं की विशेष योग्यता का कोई विवरण नहीं देता। यहाँ तक कि इस विषय में वह होमर से कुछ सीख सकता है।[3]

इस पर आगे के उदाहरण के लिए प्लेटो को विशेष रूप से उल्लेखनीय समझा जा सकता है। सुकरात की शायद यही सर्वोत्तम विशेषता थी जिसमें उसने शारीरिक-सहिष्णुता की विलक्षण-शक्ति को सम्पन्न किया। यह ज्ञात रहता है कि वह गर्मी अथवा शीत अथवा शराब की किसी भी मात्रा को सह सकता था।

इसके अच्छे उदाहरण फैड्रस तथा सिम्पोज़ियम में प्राप्त किये जा सकते हैं। यह कहा जाता है कि जब एल्सीबायडीज़ ने उसकी प्रशंसा प्रदर्शित की तो श्रोताओं में से सुकरात अप्रसन्न नहीं हो गये इसलिए कि उस समय असली आदमी की तुलना उसकी प्रशंसा के साथ करने के लिए एक अच्छा अवसर प्राप्त कर सकें। कोई कठिनाई से ही यह कल्पना कर सकता है कि प्लेटो ऐसा कर सकता था। सुकरात के सामान्य चरित्र और प्रभाव का उत्तम वर्णन श्री बार्कर विलियम कोप के द्वारा सॉक्रेटीज़ दि मैन एण्ड हिज मिशन में विद्वत्तापूर्वक तथा लोकप्रिय ढंग से किया गया है (यद्यपि यह अनुमित उदाहरणों के द्वारा शायद बढ़ा-चढ़ा गया है)।

मुख्य रूप से ओडिसी में जो निर्विवाद सैमुअल बटलर के अनुसार एक महिला द्वारा रचित है।

दार्शनिक राजा की विचारधारा से हमें भ्रान्ति में नहीं पड़ना चाहिए। प्लेटो वास्तव में किसी पेरीक्लिज महान् जैसे व्यक्ति के बारे में नहीं सोचता। मेरे विचार में उसके तात्पर्य के लिए बर्क तथा मेकियावेली विलक्षण उदाहरण के रूप में बहुत अच्छे रहेंगे जिन्होंने राज्य की प्रकृति के बारे में उच्चकोटि का अध्ययन किया तथा उससे शासन के लिए एक विचारणीय अनुभूति प्राप्त की। यह ध्यान रखना चाहिए कि 'विशेषज्ञ' शब्द का प्रयोग अनुभूति के इन दो पहलुओं के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्ति को पैदा करने वाला हो सकता है। कभी-कभी हम लोग विशेषज्ञ से केवल यह तात्पर्य लेते हैं कि वह एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसने किसी प्रकार के कार्य में एक लम्बे अर्से तक अभ्यास किया है। इस अर्थ में तो लोक सभा का एक पुराना सदस्य भी राजनीति में एक विशेषज्ञ कहलाएगा। दूसरी तरफ विशेषज्ञ से हमारा तात्पर्य यह होगा कि एक ऐसा व्यक्ति जिसने कुछ विशेष कार्यों से सम्बन्धित सिद्धान्तों के उच्च व प्रचुर अध्ययन में अपना जीवन समर्पण कर दिया हो। इस अर्थ में पेरीक्लिज की अपेक्षा अरस्तू विशेषज्ञ कहलाएगा। इसके अन्तर पर प्रो॰ लास्की ने अपनी पुस्तक 'दी स्टेट्समैनशिप ऑफ बर्क' में अच्छा विश्लेषण किया है। प्रथम अर्थ के अनुसार बर्क विशेषज्ञ नहीं था परन्तु उसने राजनीतिक समस्याओं पर प्रचुर मात्रा में चिन्तन किया था और अपने समय की राजनीतिक हलचलों को ध्यानपूर्वक देखा था। प्रो॰ लास्की ने बल पूर्वक यह प्रतिपादित किया है कि कई महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर उसने उस समय के व्यावहारिक राजनीतिज्ञों की अपेक्षा अधिक वास्तविक सूझ प्रदर्शित की थी। निस्सन्देह एक विशेषज्ञ नहीं होता है जो प्रायः उन दोनों अर्थों में विशेषज्ञ हो। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि बर्क को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है परन्तु प्रो॰ लास्की ने स्वयं बर्क का एक कथन उद्धृत किया है, जिसमें यह प्रदर्शित किया गया है कि कभी-कभी व्यावहारिक अनुभूति लगभग अयोग्यता की सूचक होती है। बर्क दृढ़ता से प्रस्तुत करता है[1] कि यह सही तौर पर कहा जा सकता है कि कार्यालयों में काम करने वाले अत्यधिक निपुण लोगों में विरला ही ऐसा होता है जो विस्तृत तौर पर सुलझे हुए दिमाग का हो। उनको कार्यालय में काम करने की आदत उन्हें किसी कार्य करने में जिस रूप में वह व्यवहृत होती रही है उससे अधिक महत्त्वपूर्ण रूप से सोचने के लिए समय नहीं देती। वह रूप सामान्य अवसरों के लिए अपनाया जाता है अतः ऐसे लोग जो कार्यालयों में पलते हैं वे तभी तक सही ढंग से काम करते हैं जब तक व्यवस्था अपने सामान्य ढंग से चलती रहती है, परन्तु जब विशाल अवसर टूट जाते हैं, बाढ़ आ जाती है और जब एक नया हलचलमय दृश्य उपस्थित हो जाता है, व्यवस्था

१ "दी स्टेट्समैनशिप ऑफ बर्क" पृ॰ ६ ६६-७ से उद्धृत।

प्लेटो की कई बातों के लिए बाद के इतिहास से उदाहरण देना सरल होगा। कैथोलिक धर्म के अनुयायियों के आध्यात्मिक पथ प्रदर्शन के साथ सामन्तशाही पद्धति प्लेटो के आदर्श सिद्धान्त से कुछ मिलती-जुलती है। यद्यपि एक विशाल पैमाने पर यह देखना रोचक होगा कि इसने कई बार पुनः सैनिक-शासन को तथा इसके बाद में बहुतन्त्र और लोकतन्त्र के कुछ रूपों को स्थान दिया है। नपोलियन के उद्भव का एक ऐसा उदाहरण लिया जा सकता है जिसमें लोकतन्त्र निरंकुशता में बदल जाता है और आधुनिक समय में इसके कुछ उदाहरण शायद रूस में प्राप्त हो सकते हैं। इसमें थोड़ा-सा संदेह है कि प्लेटो ने इन प्रवृत्तियों के विवरण में अपनी पूरी सूझ से काम लिया है। परन्तु इस विषय का अधिक विवेचन हम यहाँ नहीं करेंगे।

यह कहना कि विभिन्न प्रकार के जीवन की प्रसन्नता के मूल्यांकन में हम उन्हीं लोगों के निर्णय को स्वीकार कर सकते हैं जो सभी प्रकार के आनन्दों की अनुभूति रखते हैं[1] एक ऐसा कथन था जिसे बाद चलकर जे॰ एस॰ मिल ने प्रस्थापित किया। प्लेटो उसका प्रयोग मिल से भी अधिक दृढ़तापूर्वक कर सकता था परन्तु वह प्रसन्नता का मूल्य का अन्तिम माप नहीं समझता था। परन्तु इस पर विचार करना भी अपने क्षेत्र से बाहर की बात है।

नवम पुस्तक के अन्त में प्लेटो निश्चित निर्देश देता है कि वह अपने आदर्श राज्य को वास्तव में कार्यान्वित होने वाला नहीं समझता और वास्तव में वह इस बात को पहले भी कह चुका था। यह एक ऐसी अवधारणा है जिसके द्वारा एक अच्छा नागरिक जो किसी राज्य-विशेष का सुधार करना चाहता है पथ-प्रदर्शन पा सकता है। और यह भी संकेत किया जा चुका है कि एक अच्छा नागरिक शायद सामान्यतः एक राजनीतिज्ञ नहीं होगा वरन् वह राजनीति से अपना सम्बन्ध केवल तभी स्थापित करेगा जब वह राजनीति में महत्त्वपूर्ण सुधारों का समावेश करने का अवसर देखेगा। इस प्रकार अन्त में राज्य के जीवन की अपेक्षा व्यक्तिगत जीवन में ही आदर्श को प्राथमिक रूप से प्राप्त किया जा सकता है। सम्भवतः पृथक्-पृथक् व्यक्तियों में नहीं अपितु

के लिए बहुत थोड़ा आधार दिखाई देता है। मेरा विचार है कि सुकरात की सरल प्रकृति थी और अधिक व्यवहार-कुशलता परन्तु राजनैतिक अर्थ में ऐसे किसी भेद के लिए कोई आधार नहीं दिखाई देता। रिचमिन्ड स्टेट्समैन' व 'ला' की साक्षी पर मैं यह सोचता हूँ, मेरे विचार में यह स्पष्ट है, कि अरस्तू इन दोनों से भी अधिक अवसरवादी था। परन्तु—उन सबकी प्रकृति—जहाँ तक मानवीय विचारों के आधुनिक विचारों के साथ तुलना का प्रश्न है—वे मिल और स्पेन्सर की अपेक्षा कार्लाइल और रस्किन के समान अधिक संबंध है।

परन्तु 'पर्सेपोलिटाइया' का लेखक, जिसने स्पष्टतः बहुत अधिक कोशिश की भी इनमें से किसी के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं सोचा प्रतीत होता।

सामान्यीकृत व्यक्तियों में ही संभव हो सकती है ऐसे व्यक्ति से जो स्वर्ग के साम्राज्य को अपने हृदय में संजोये रखता है। इसी पर अगली पुस्तक में फिर बल दिया गया है।

यह कथन कि आदर्श राज्य की पद्धति स्वर्ग में ही स्थापित होती है, आधुनिक पाठक के लिए अर्थबोधप्रद बात हो सकती है। निस्सन्देह यह कुछ आलंकारिक है किन्तु यह ग्रीन[1] के इस कथन से तत्त्वतः अधिक सत्य है जिसके अनुसार इसकी सृष्टि पूर्णतः चेतना में होती है। जैसा कि मैं प्लेटो के आशय को समझा हूँ यह वस्तु की प्रकृति में व्याप्त है और धीरे-धीरे उसका अनुसंधान तथा कुछ अंशों में साक्षात्कार किया जा सकता है।

दशम पुस्तक का विश्लेषण करना अत्यधिक कठिन है और मेरा विश्वास है कि उसका अर्थ सदैव गलत समझा गया है। पहले तो ऐसा प्रतीत हो सकता

६ दशम पुस्तक का विवेचन

है कि यदि यह एक परिशिष्ट है तो यह एक ऐसा है जो दो असम्बद्ध विषयों की व्याख्या करता है और जो अपेक्षाकृत इस ग्रंथ का महत्त्वपूर्ण भाग नहीं है और यह इस कृति के लिए जो अन्यथा इतने कलात्मक रूप से संयोजित की गई है एक विलक्षण-सी बात होगी। परन्तु मैं सोचता हूँ कि विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह तो विचार विमर्श को अपने स्वाभाविक क्रम में लाकर समाप्त कर देता है और यह शेष भाग की अपेक्षा कम कलात्मक नहीं है। हमें यह सब समझने में जो बाधा उपस्थित करती है वह है इस संपूर्ण ग्रंथ में प्रयुक्त कथोपकथन की शैली जिसे कुछ अंशों में हम पहचानने में असमर्थ रहते हैं। कुछ अंशों में सर्वाधिक बाधक विचार ये रहे हैं कि प्लेटो का मुख्य उद्देश्य एक पूर्ण राज्य का वर्णन करने का था और शायद सबसे ज्यादा बाधा प्लेटो द्वारा अपनायी गई विधि में हास्य का पुट है, जिसका मूल्यांकन करने की लोगों में योग्यता नहीं है अथवा यह कहना अधिक सत्य होगा कि यह सुकरात की विधि है। प्लेटो विशेषतः जब सुकरात के नाम से लिखते हैं तो वे गंभीर विषय की व्याख्या को हास्य के एक ऐसे आवरण से युक्त कर देते हैं कि उनको समझ पाना कठिन हो जाता है। परन्तु वे लोग जो इस सम्बन्ध में उनकी विधि से परिचित हैं वे अच्छी तरह से जानते हैं कि जब वह किसी विशेष हास्यात्मक शैली से प्रवृत्त होकर आगे बढ़ता है तो वह अपेक्षाकृत एक गंभीर उद्देश्य को सुलझाता है, अथवा उसे कोई गंभीर विषय सुलझाना पड़ता है तो वह एक हास्यात्मक शैली को अपनाता है। दशम पुस्तक के अन्त में हमारा परिचय

---

१ "प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल आब्लिगेशन्स" इस सम्बन्ध में प्रो० बोसांके द्वारा ग्रीन और स्वयं के बीच में प्रस्तुत भेद का उल्लेख किया जा सकता है—देखिए 'फिलॉसफिकल थ्योरी ऑफ द स्टेट' अध्याय ५।

धर्मराज्य के सिद्धान्त में कराया जाता है जिसके बारे में हम उसकी अन्य रचनाओं द्वारा यह समझ पाते हैं कि प्लेटो इसे प्राथमिक महत्त्व देता है। परन्तु यह कुछ आश्चर्यजनक-सा लगता है कि उसने इस सिद्धान्त का समावेश उसी पुस्तक में किया है जो मुख्यतः राज्यों के संविधान से सम्बन्धित है। परन्तु क्या यह मुख्यतः राज्यों के संविधान से ही सम्बन्धित है? मेरे विचार में प्लेटो ने बताया है कि यह मुख्यतः मानव जीवन में औचित्य के मूल्य से सम्बन्धित है और कुछ अर्थों में —और शायद अत्यधिक स्पष्ट रूप से—राज्य के जीवन में देखा जा सकता है और उसका पूर्ण साक्षात्कार आत्मा के विकास में किया जा सकता है।

परन्तु यह पूछा जा सकता है कि नाट्य अथवा अनुकरणात्मक कला का उसके साथ क्या सम्बन्ध है? हमारे लिए शायद कुछ नहीं परन्तु प्लेटो के लिए निश्चय ही बहुत अधिक है। राज्य सम्बन्धी पूरा-का पूरा विवरण विशाल रूप से चित्रात्मक और नाट्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। हमारे सामने प्रत्येक मोड़ पर काल्पनिक चित्र उपस्थित किये गए हैं—नवम पुस्तक में भी कम मात्रा में नहीं—और प्लेटो की व्याख्या की इस असंतोषपूर्ण पद्धति के प्रति ध्यान आकर्षित करने के लिए उत्सुक है। इसी को प्रस्तुत करने के आशय से वह यह आग्रह करता है कि कला का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है परन्तु उसका वह कार्य अभिव्यंजना करने का है न कि सीधा-सादा शाब्दिक विवरण प्रस्तुत करना है। शिक्षा में कला के स्थान का विवरण देते समय उसने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। परन्तु—अब वह उस पर फिर नये ढंग से बल देता है और वास्तविक कला के विविध रूपों पर विचार करते हुए उसे समझाने का प्रयास करता है। मेरे विचार में उसके उद्देश्य को यहाँ पर साधारणतया गलत समझा गया है। यह निश्चय ही कुछ अनोखी-सी बात होगी (विशेष तौर से यदि हम यह भुला दें कि यहाँ सुकरात को बोलते हुए माना गया है) कि कला के अभिव्यंजनात्मक कार्य के अधिक विवेकात्मक विचार की उत्पत्ति के स्थान पर यह अपेक्षाकृत प्रशंसात्मक उल्लासन के अधिक शुद्ध अनुकरणात्मक कला की निषेधात्मक आलोचना की उत्पत्ति करता है। इसके अलावा अब वह उस पर अपने प्रहार में हेरोड को भी सम्मिलित करता हुआ प्रतीत होता है वह न केवल अधिक यथार्थवादी नाटककार जो अपने सही मार्ग पर होते हैं उन्हीं का ही परित्याग करता है वरन् होमर तथा अन्य सभी कलाकारों को भी जहाँ तक वे केवल या मुख्य रूप से अनुकरणात्मक कला को अपनाते हैं। प्रत्येक पाठक अनुभव करता है कि इसमें बहुत कुछ अतिरंजन है। परन्तु निश्चय ही आश्चर्य की बात यह नहीं है कि प्लेटो ने यह इतना सब लिखा है वरन् अपेक्षाकृत यह समझा

जाता कि जो बात प्रत्येक पाठक के लिए स्पष्ट है वह प्लेटो के लिए स्वयं स्पष्ट नहीं थी और कि उसकी यह प्रवृत्ति भी नहीं थी कि उसके पाठकों के लिए यह स्पष्ट हो। प्लेटो की आदत स्पष्ट रूप में यह कहने की नहीं थी कि 'यह एक मजाक है' अथवा 'यह एक पौराणिक कथा है" अथवा यह कि यह भ्रान्तिपूर्ण है। परन्तु मेरे विचार में एक व्यक्ति जो उसकी कृति को पढ़ता है अथवा बहुत सारे लोग जो उसकी कृतियों को पढ़ते हैं वे—चाहे जर्मनी के टीकाकार ही क्यों न हों वे सब उसमें एक मजाक अथवा भ्रान्ति पाएँगे ही। निश्चय ही उसने अपने हास्यात्मक उद्देश्य को इस विशेष बात तक नहीं छिपाया है बल्कि इसे और अधिक स्पष्ट करके बताने के लिए विशेष चेष्टा की है। वह न केवल बेतुकी बातें इकट्ठी करता चला जाता है, वह न केवल यह प्रकट करता है कि अधिकांश उसके समर्थन के लिए पर्याप्त समर्थ हैं वरन् वह वास्तव में अपने होमर-सम्बन्धी भद्दी मजाक को अपने आदर्श सिद्धान्त सम्बन्धी भद्दी मजाक के साथ समन्वित कर देता है। उसने इसे एक ऐसा अर्थ दिया है कि वास्तविक पलंग एक ही है और उसे ईश्वर ने बनाया है। यदि प्लेटो ने कभी यह समझा होता कि उसका तात्पर्य कुछ इसी तरह का अर्थ देता है (जिस पर मैं सन्देह करने का साहस करता हूँ) निश्चय ही उसने कम-से-कम उस समय तो नहीं समझा था जब उसने रिपब्लिक को लिखा था। मेरे विचार में उसके कहने का तात्पर्य केवल यही था कि उसके आदर्श सिद्धान्त का ऐसा विश्लेषण करना होमर के उस विश्लेषण के समान ही होगा जिस पर कि वह विचार कर रहा था। वह साहित्यिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण रचना पर आक्षेप की वर्षा करता है। उसका पूरा-का-पूरा अंश मुझे ऐसा लगता है जैसे कि वह नितान्त स्पष्ट रूप से 'कोलाहलपूर्ण मजाक'—या सुलभनी मूर्खता का एक दृश्य हो—किन्तु उसके लिखने की विधि एकदम सुकरात की पद्धति के अनुसार है तथा वह एक गम्भीर उद्देश्य को लिये हुए है। सुकरात अति रंजित सुखान्त नाटकों के बनाने में रहते थे जो सब उनकी खिल्ली उड़ाने के लिए लिखे जाते थे तथा सुकरात कदाचित् यह प्रदर्शित करना चाहता था कि वह उन सब का प्रत्युत्तर देने के लिए पूर्ण रूप से समर्थ था। वास्तव में वह यही हम से कहता भी है कि उसका यही उद्देश्य था। प्लेटो (अथवा सुकरात) का होमर के साथ कोई वास्तविक झगड़ा नहीं था यद्यपि वह अपेक्षाकृत बाद के अथवा मेरे-जैसे कवि को प्राथमिकता देता। उसका झगड़ा वास्तव में कला में भ्रान्त-यथार्थवाद के साथ था (जिस यथार्थवाद के हमें अपने समय में भी बहुत नमूने मिल जाएँगे) और उससे भी ज्यादा उसका झगड़ा बाहर कला में यथार्थ युग का मिथ्या रूप से यथार्थ विश्लेषण करने के साथ था। वह उस मूर्खता पर प्रकाश डालना चाहता है जिसमें यह मान लिया जाता है कि यथार्थ साम्य अथवा

यथार्थ कला सामान्यतया शुद्ध रूप से अथवा मुख्य रूप से अनुकरणात्मक होता है। यद्यपि वह यह मानता था (जैसा कि मेरे विचार में प्रत्येक को मानना ही चाहिए) कि सर्वोत्तम कला भी अनुकरण के तत्त्व से मुक्त नहीं होती, परन्तु उसका विश्वास मैं सोचता हूँ केवल उसी अर्थ में था जिसमें शेक्सपीयर विश्वास करता था और जिसे उसने (लगभग प्लेटो की ही भाषा में) हेमलेट के मुँह से व्यक्त किया है — "अभिनय का उद्देश्य, जिसका अन्त दोनों पहले और अब भूत और वर्तमान में यह प्रतिपादित करना होता है, जैसे वह प्रकृति को दर्पण दिखाना, गुणों को स्वयं अपनी आकृति का आभास कराना, अपनी स्वयं की प्रतिमा का तिरस्कार करना और उसी युग तथा उसी काल की अपनी पद्धति और दबावों का प्रकट करना होता है।"

प्लूटार्क का कहना है[1] कि एक स्पार्टा निवासी को जब यह कहा गया कि वह एक कलाकार को एक बुलबुल की तरह गाते हुए सुन सकता है तो उसने उत्तर दिया "मैं ने तो स्वयं बुलबुल को गाते सुना है।" इसी तरह का समान उत्तर कला के सभी दावों के प्रति दिया जा सकता है। यदि कला का उद्देश्य केवल उन वस्तुओं का अनुकरण करना ही है जो देखी या सुनी जा सकती हैं और प्लेटो का होमर पर, अथवा होमर के कुछ विवेचनकर्ताओं पर (जो उसी प्रकार मूढ़ और पाण्डित्यपूर्ण रहे दीखते हैं जैसे कोई भी आधुनिक समय में किये गए) कुमंत हुए मधुर व्यंग्य का आशय इसी बात को स्पष्ट करना है। यह सही है कि कीट्स की 'ओड टू दी नाइटिंगेल' अथवा शेली की 'स्काईलार्क' में एक पक्षी के गीत का अनुकरण है परन्तु कवि वास्तव में हमें जो कुछ प्रदान करता है वह गाने की ध्वनि नहीं वरन् गाने के द्वारा जिन विचारों और भावनाओं का अभिव्यंजन होता है उन्हें प्रदान करता है। मैं सोचता हूँ कि प्लेटो का अभिप्राय भी काव्य के इसी कार्य से था। काव्य वास्तव में उन सब वस्तुओं को स्थानीय व्यक्तियों और नामों के साथ जोड़ देता है जो वास्तविक शून्यता से सम्बन्धित नहीं होते वरन् अदृश्य और अव्यक्त होते हैं तथा उन्हें शुद्ध तार्किक ढंग से वर्णित या सिद्ध नहीं किया जा सकता। प्लेटो यह प्रदर्शित करना चाहता है जैसा कि अन्यत्र कहीं किया भी गया है कि किस प्रकार के काव्य को दर्शन के लिए और दर्शन को काव्य के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है और अवश्य ही यह कहा जा सकता है कि आधुनिक कविगण इस पाठ को सीखने में तो कम-से-कम पीछे नहीं रहे हैं। क्या दांते और गेटे, स्पेन्सर और वर्ड्सवर्थ तथा शेली और टेनिसन (दूसरों का नाम न भी लें तो) सब-के-सब कुछ अंशों में उसके शिष्य नहीं हैं?

इस प्रकार से काव्य तथा कला के अन्य रूपों में सही कार्य के विषय में

---

१. लाइकरगस की जीवनी

उसका विश्वास क्या है, यह प्रदर्शित करने के उपरान्त वह उसे समझाने के लिए आत्मा की शाश्वतता के सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा का उदाहरण प्रस्तुत करता है। हम उसके इस वर्णन में दाँते की 'डिवाइन कामेडी' में वर्णित विषय का यद्यपि थोड़ा किन्तु कुछ अंशों में अधिक महान और अभिव्यञ्जनात्मक रूप का पूर्वाभास मिल जाता है। प्लेटो ने अपनी महान् समस्याओं की व्याख्या करने में इस प्रकार की पौराणिक कथा-पद्धति का प्रयोग बड़ी स्वतन्त्रता के साथ किया है और उसका महत्त्व अब बहुत अच्छी तरह से स्वीकार किया गया है शायद मुख्यतः उसी समय से जब से इस विषय पर प्रो० जे० एस० स्टिवार्ट की श्रेष्ठ पुस्तक प्रकाशित हुई है। यहाँ हम इस विशेष उदाहरण पर विस्तृत विचार करने के लिए आगे नहीं बढ़ेंगे क्योंकि इसका सामान्य उद्देश्य पर्याप्त स्पष्ट है। उसका ध्येय यह है कि इस अस्तित्वशील विश्व में अथवा अस्तित्व में आने की सम्भावना वाले किसी भी विश्व में सच्चा व्यक्ति सामान्यतया, किसी भी राजनैतिक कार्य में भाग न ले सकने के कारण अथवा समभय अपनी हृदय की इच्छा के अनुसार समाज के जीवन को आकार देने में समर्थ नहीं होगा कम से-कम उसे अपने आपको जिस राज्य विशेष में वह रह रहा है उसकी अपेक्षा स्वर्ग के राज्य का नागरिक समझना होगा और ऐसे राज्य का सदस्य बनने पर ही हम यह दिखाने की आशा कर सकते हैं या अन्तिम रूप से विश्वास दिला सकते हैं कि उसका जीवन वास्तव में आनन्दपूर्ण और विजयी है। हमें उसे किसी एक राज्य के सदस्य के रूप में नहीं वरन् समस्त ब्रह्माण्ड के सदस्य के रूप में समझना होगा। प्लेटो का कहना तो यह है कि सदस्य होने के नाते उसका आनन्द इस बात पर निर्भर करता है कि वह विकासोन्मुख मार्ग पर है और विश्व के अन्तिम ध्येय के साथ उसका सामञ्जस्य है। वह उसे पौराणिक कथा के रूप में प्रकट करता है क्योंकि इस विषय पर उसका अपना कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है हालांकि उसका यह दृढ़ विश्वास है कि वैयक्तिक आत्मा का जीवन उस विधि का एक आवश्यक अंग है जो अपने-आपमें शाश्वत है। अपने इसी दृढ़-विश्वास के साथ वह बड़ी सूक्ष्मता और गम्भीरता के साथ कथा, हास्य, राजनीति, धर्म और दर्शन के विलक्षण समन्वय से प्रस्तुत विषय को समाप्त करता है। इस प्रकार वह एक ऐसा आश्चर्ययुक्त समन्वय प्रस्तुत करता है जो विश्व ने कभी देखा नहीं।

परिशिष्ट (ख)

सुकरात तथा प्लेटो पर टिप्पणी

अपने पूर्वलिखित विवरण में मैंने कई स्थलों पर ठीक से समझ न पाने के कारण यह उल्लेख किया है कि यह बताना कठिन है कि 'रिपब्लिक' का कितना वर्ण्य-विषय सुकरात से सम्बन्धित है और कितना प्लेटो से। यह एक ऐसा विषय है जिसकी खूब व्याख्या की गई है फिर भी यह कहना कठिन है कि हम किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँच सके हैं। कभी-कभी हम वक्ता को प्लेटोक्रेटीज[1] कहने का लोभ संवरण नहीं कर पाते क्योंकि अपनी अनभिज्ञता के कारण हम एक दूसरे को पहचान पाने में असमर्थ रहे हैं। यहाँ मेरा अभिमत जिसे मैं प्रकट करना चाहता हूँ और जिसकी ओर मैं संकेत भी कर चुका हूँ यह यह है कि इन में से कोई भी वास्तविक वक्तव्य कभी सुकरात द्वारा दिया गया था ऐसा हम मान लेने के अधिकारी नहीं हैं। परन्तु पहली पुस्तक में वह इस प्रकार से बोलता हुआ प्रस्तुत किया जाता है जिस प्रकार वह वास्तव में बोला करता था और शेष कथोपकथन में सर्वत्र उसके बोलने के लहजे की अधिक या कम मात्रा में रक्षा की गई है परन्तु उसमें सोचने और बोलने के प्रकार का एक ऐसे ढंग से समावेश करवाया गया है जो अपेक्षाकृत स्वयं प्लेटो का ही है। मैं इस निर्णय पर प्रमाण रूप से उसकी शैली के ही आधार पर पहुँच सका हूँ। सिम्पोजियम में एलसीबियाडीज को सुकरात की शैली का वर्णन करते हुए निम्नलिखित

---

1 इसमें कोई महान् दोष नहीं आता (प्लेटो विलक्षण अर्थ में) एक उपनाम से अधिक कुछ नहीं था। मैं सोचता हूँ कि ग्लाउकन (ग्रीक) भी एक उपनाम है। उसके नाम के बारे में यह सोचते हुए कहा जाता है, कि वह कथोपकथन में भारी भरकम पात्रों वाला एक अस्तुत नस्तुत था। यह स्मरण रहे कि ग्लाउकन और एडिमेण्टस प्लेटो के भाई थे। यह बताया जा सकता है कि कथोपकथन में सभी पात्र वास्तविक व्यक्ति थे। प्लेटो का वास्तविक नाम अरिस्टोक्लीज था। यूनानी लोगों के कुछ नाम अपने अर्थों में विशेष रूप से सारगर्भित हैं, जैसे सोक्रेटीज (सुरक्षित शक्ति) अरिस्टोक्लीज (सर्वोत्कृष्टता की उत्तम ख्याति), अरिस्टोक्लीज (उत्तम-ख्याति) इसके साथ इसमें अरिस्टोफनीज (उत्तम-प्रदर्शन) को भी जोड़ा जा सकता है।

शब्दों में प्रस्तुत किया गया है 'उसके शब्द जब तुम पहली बार सुनते हो तो वे उपहासास्पद से लगते हैं। वह अपने चारों ओर ऐसी भाषा का परिधान लपेटता है जो किसी वन-देवता की त्वचा के समान होता है क्योंकि उसकी बातें लदे मारने वालों और लुहारों तथा मोचियों और चमारों की-सी होती हैं और वह हमेशा एक ही बात को उन्हीं शब्दों में दोहराता है जिससे कि एक ऐसा मनुष्य भी जो उसे नहीं जानता उसका उपहास करने के लिए प्रवृत्त हो जाए परन्तु जो पर्दे को हटाकर देखता है कि अन्दर क्या है वह समझ पाता है कि वे ऐसे ही सारगर्भित शब्द हैं जो अपने में गम्भीर एवं पवित्र अर्थों को धारण किये हुए हैं, जो ठीक होते हैं तथा जो एक भले और आदरणीय मानव के सम्पूर्ण कर्तव्यों को प्रकट करने का विशालतम सम्भाषण है।'[1] मेरे विचार में हम यह मान सकते हैं कि सुकरात के बोलने के ढंग का यह एक सुन्दर रूप में सही विवरण है। यह ज़िनोफ़न के द्वारा प्रस्तुत किये गए अभिलेखों से तथा प्लेटो के कथोपकथन के एक विभाग भाग जिसमें 'रिपब्लिक' की प्रथम पुस्तक को सम्मिलित किया गया है सर्वथा ठीक संगत बैठता है। परन्तु बाद की अधिकांश पुस्तकों में तथा अन्य कथोपकथनों में ऐसा बहुत कुछ है जिस पर निश्चय ही इस वर्णन को प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। मेरे विचार में इस कथोपकथन में प्रयुक्त अधिक समृद्ध स्वयं प्लेटो की अपनी शैली है। यह मैं इसलिए कहता हूँ कि वह अपने अन्य नेतृत्व करने वाले पात्रों को कभी-कभी जब वे अधीर हो उठते हैं तो उसी शैली में बुलवाता है। ठीक वैसे ही, जैसे कि ऐसी ही परिस्थितियों में शेक्सपीयर अपने पात्रों को स्वयं अपनी शैली प्रदान करता था। इस विश्लेषण के साथ मैं इतना स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ कि मेरी सामान्य धारणा इसकी शैली पर आधारित है और इसकी पुष्टि उसकी विधि और रूप में होने वाले परिवर्तन से होती है किन्तु इससे अधिक मैं इस जटिल प्रश्न पर कोई फैसला देने योग्य अपने आपको नहीं समझता। इस विषय पर प्रो० बर्नेट तथा ए० ई० टेलर[2] की रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है।

---

१ यह ऐल्किबियाडीज़ में जावेट का अनुवाद है। मेरे विचार में उसका यह अनुवाद अच्छा तो नहीं है, किन्तु मैं इसे बदलने का साहस भी नहीं कर सका।

२ 'वेरिया सोक्रेटिका' तथा प्लेटो की 'आपोलाजी ऑफ़ सॉक्रेटीज़'। प्रो० टेलर के विचार मुझे कुछ अतिरंजित प्रतीत होते हैं। श्री जी० सी० फील्ड की 'सॉक्रेटीज़ एण्ड प्लेटो' पुस्तक में उनकी कुछ आलोचनाएं हैं। इसी प्रकार की आलोचनाएं श्री सिजविक की पूर्व वर्णित पुस्तक में भी हैं। इस विषय पर जो कुछ ज्ञात था, उसे संक्षेप में प्रो० बर्नेट की ग्रीक फिलासफी में स्पष्ट तथा बहुत अच्छे संतुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

परिशिष्ट (ग)

पुस्तक-सूची

निम्नलिखित पुस्तकें इस विषय पर अध्ययन के लिए अवलोकनीय हैं

१ सामान्य समाज-शास्त्र पर—

J J Findlay — An Introduction to Sociology for Social Workers and General Readers.
E. A. Ross, — Foundations of Sociology
E. Barker — Political Thought from Spencer to the Present day
G P Gooch, — Political Thought from Bacon to Halifax.

२ सामाजिक पहलू में मानव प्रकृति पर—

W McDougall, — An Introduction to Social Psychology
G Wallas, — Human Nature in Politics.
Bhagavan Das, — The Science of Social Organization.
Rudolf Steiner — The Three fold State

३ सामाजिक एकता पर—

H J W Hetherington and J H Muirhead, Social Purpose.
W McDougall, — The Group Mind.
G. Wallas — Our Social Heritage.
Sir Henry Jones — The Principles of Cituzenship
E. M White — The Philosophy of Citizenship
J M. E. McTaggart — Studies in Hegelian Cosmology (chap vii)

४ सामाजिक संस्थाओं पर—

R. M. MacIver — Community
F H. Bradley — Ethical Studies.
G D H. Cole, — Social Theory
Ramiro de Muertu — Authority Liberty and Function.

५ परिवार पर—

W Goodsell, — The Family as a Social and Educational Institution
W F Lofthouse — Ethics and the Family

Ellen Key	The Women Movement. Love and Marriage. The Century of the child.
W C. D and C. D Whetham,	The Family and the Nation.

६ शाश्रिक संस्थाओं पर—

J Dewey	Democracy and Education.
J J Findlay	The School
A. Ferriere	L Autonomie des Ecoliers
J M. Guyau,	Education and Heredity
J MacCunn,	The Making of Character
M. E. Sadler	Moral Instruction and Training in Schools.
S G Hobson	National Guilds and the state.

७ औद्योगिक-संस्थाओं पर—

S. J and B. Webb	Industrial Democracy
G. D H. Cole	The World of Labour
B. A. W Russell,	Roads to Freedom.
J G. Brooks,	Labour s Challenge to the Social Order
G. C. Field,	Guild Socialism
W Smart	Second Thoughts of an Economist
Sir H. Jones,	The Working Faith of the Social Reformer
A. J Penty	A Guildsman s Interpretation of History
J W Scott	Syndicalism and Philosophical Realism.

८ राज्य पर—

B. Bosanquet	The Philosophical Theory of The State
J H. Muirhead,	The Service of the State.
M. P Follett	The New State.
E. Jenks,	The State and the Nation
L. T Hobhouse	The Metaphysical Theory of the State.
F W Maitland,	Collected Papers, Vol. iii.
C. D Burns,	Government and Industry
D G Ritchie	Principles of State Interference

९ न्याय पर—

W Jethro Brown,	The Underlying Principles of Modern *Legislation*
D G Ritchie	Natural Rights.
L Duguit	Law in the Modern State.

१० अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर—

J Westlake	International Law Collected Papers on Public International Law
G L. Dickinson	The Choice Before Us.

परिशिष्ट (ग)

पुस्तक-सूची

निम्नलिखित पुस्तकें इस विषय पर अध्ययन के लिए उल्लेखनीय हैं

१ सामान्य समाज-शास्त्र पर—

J J Findlay	An Introduction to Sociology for Social Workers and General Readers.
E. A. Ross	Foundations of Sociology
E. Barker	Political Thought from Spencer to the Present day
G P Gooch,	Political Thought from Bacon to Halifax.

२ सामाजिक पहलू में मानव-प्रकृति पर—

W McDougall,	An Introduction to Social Psychology
G Wallas	Human Nature in Politics.
Bhagavan Das,	The Science of Social Organization.
Rudolf Steiner	The Three fold State

३ सामाजिक एकता पर—

H J W Hetherington and J H. Muirhead, Social Purpose.

W McDougall,	The Group Mind.
G. Wallas,	Our Social Heritage.
Sir Henry Jones	The Principles of Citizenship
E. M. White	The Philosophy of Citizenship.
J M. E. McTaggart	Studies in Hegelian Cosmology (chap. vii).

४ सामाजिक संस्थाओं पर—

R. M MacIver	Community
F H Bradley	Ethical Studies.
G D H. Cole	Social Theory
Ramiro de Maeztu,	Authority Liberty and Function.

५. परिवार पर—

W Goodsell	The Family as a Social and Educational Institution.
W F Lofthouse	Ethics and the Family

Ellen Key	The Women Movement.
	Love and Marriage
	The Century of the child.
W C. D and C. D Whetham,	The Family and the Nation

६ शैक्षणिक संस्थाओं पर—

J Dewey	Democracy and Education.
J J Findlay	The School.
A. Ferriere	L Autonomie des Ecoliers
J M. Guyau	Education and Heredity
J MacCunn,	The Making of Character
M. E. Sadler	Moral Instruction and Training in Schools.
S G. Hobson	National Guilds and the state

७ औद्योगिक-संस्थाओं पर—

S. J and B Webb	Industrial Democracy
G D H. Cole	The World of Labour
B A. W Russell,	Roads to Freedom.
J. G Brooks,	Labour s Challenge to the Social Order
G C. Field,	Guild Socialism.
W Smart,	Second Thoughts of an Economist
Sir H. Jones,	The Working Faith of the Social Reformer
A. J Penty	A Guildsman s Interpretation of History
J W Scott	Syndicalism and Philosophical Realism.

८ राज्य पर—

B Bosanquet	The Philosophical Theory of The State.
J. H. Muirhead,	The Service of the State.
M. P Follett	The New State.
E. Jenks,	The State and the Nation
L. T Hobhouse	The Metaphysical Theory of the State.
F W Maitland,	Collected Papers, Vol. iii
C. D Burns,	Government and Industry
D G Ritchie	Principles of State Interference

९. न्याय पर—

W Jethro Brown,	The Underlying Principles of Modern Legislation
D G Ritchie	Natural Rights.
L. Duguit,	Law in the Modern State

१० अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर—

J Westlake	International Law
	Collected Papers on Public International Law
G. L. Dickinson	The Choice Before Us.

L S Woolf,	International Government.
	The Frame work of a Lasting Peac
J A. Hobson	Problems of a New World.
T Veblen,	The Nature of Peace
J J Rousseau,	A Lasting Peace (द्वि C. E Vaughan
I Kant	Perpetual Peace

११ धर्म पर—

B. Bosanquet	What Religion Is
A Clutton Brock,	Studies in christianity
J N Figgis,	Churches in the Modern state
S. Coit	National Idealism and a state Chur
E. J Urwick,	The Message of Plato.
E. Caird	Social Philosophy and Religion of (
J B. Crozier	Civilization and Progress.

१२ परम आदर्शों पर—

F J C. Hearnshaw	Democracy at the Crossways.
Prince Kropotkin,	Fields, Factories and Workshops.
B. A. W Russell,	Principles of Social Reconstruction
Sir H. Jones,	Idealism as a Practical Creed
B Bosanquet,	Social and International Ideals
C. D Burns,	Political Ideals
E. Carpenter	The Healing of the Nations.
Dean Inge,	Outspoken Essays.
B. Brandford	Janus and Vesta.
P Geddes and G Slater	Ideas at war
J B Cromer	Sociology applied to Practical Polit
A. J Penty	Old Worlds for New
W H Dawson,	After War Problems.
Lord Leverhulme	The six hour Day and Other Inc Questions.